SARASWATI—Reg. No. A248.

भाग १२] जुलाई, १९११ [संख्या ७

सरस्वती।

वार्षिक मूल्य ४)] सम्पादक—महावीरप्रसाद द्विवेदी [प्रति संख्या ।=)

इंडियन प्रेस, प्रयाग, से छपकर प्रकाशित।

सूची ।

चित्रावली ।

सरस्वती के नियम ।

१—सरस्वती प्रतिमास प्रकाशित होती है।

२—डाकव्यय सहित इसका वार्षिक मूल्य ४) है। प्रति संख्या का मूल्य ।=) है। बिना अग्रिम मूल्य के पत्रिका नहीं भेजी जाती। पुरानी प्रतियाँ सब नहीं मिलतीं। जो मिलती भी हैं उनका मूल्य ॥) प्रति से कम नहीं लिया जाता।

३—अपना नाम और पूरा पता साफ़ साफ़ लिख कर भेजना चाहिए। जिसमें पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ न हो।

४—यदि एक ही दो मास के लिए पता बदलवाना हो तो डाकख़ाने से उसका प्रबन्ध करा लेना चाहिए और यदि सदा अथवा अधिक काल के लिए बदलवाना हो तो उसकी सूचना हमें अवश्य देनी चाहिए।

५—सरस्वती को उड़ा लेने वाले सब जगह हैं। हमारे पास बहुधा पत्र आया करते हैं कि अमुक मास की पत्रिका नहीं पहुँची। परन्तु, यहाँ दो बार अच्छी तरह जाँच कर ली जाती है। इससे ग्राहकों को इस विषय में सावधान रहना चाहिए।

६—लेख, कविता, समालोचना के लिए पुस्तकें और बदले के पत्र, सम्पादक 'सरस्वती' जुही, कानपुर, के पते से भेजने चाहिएँ। मूल्य तथा प्रबन्धसम्बन्धी पत्र "मैनेजर, सरस्वती इंडियन प्रेस, इलाहाबाद" के पते से आने चाहिएँ। ग्राहक-नम्बर लिखना न भूलिएगा।

७—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाश करने वा न करने का, तथा उसे लौटाने वा न लौटाने का अधिकार सम्पादक को है। लेखों के घटाने बढ़ाने का भी अधिकार सम्पादक को है। जो लेख सम्पादक लौटाना मंजूर करें उनका डाक और रजिस्टरी ख़र्च लेखक के ज़िम्मे होगा। बिना उसे भेजे लेख न लौटाया जायगा।

८—अधूरे लेख नहीं छापे जाते। स्थान के अनुसार लेख एक वा अधिक संख्याओं में प्रकाशित होते हैं।

९—इस पत्रिका में ऐसे राजनैतिक वा धर्मसम्बन्धी लेख न छापे जायँगे जिनका सम्बन्ध वर्त्तमानकाल से होगा।

१०—जिन लेखों में चित्र रहेंगे, उन चित्रों के मिलने का जब तक लेखक प्रबन्ध न कर देंगे, तब तक वे लेख न छापे जायँगे। यदि चित्रों के प्राप्त करने में व्यय आवश्यक होगा, तो उसे प्रकाशक देवेंगे।

११—यदि लेख पुरस्कार देने योग्य समझे जायँगे और यदि लेखक उसे लेना स्वीकार करेंगे, तो सरस्वती के नियमों के अनुसार पुरस्कार भी प्रसन्नता-पूर्वक दिया जायगा।

सरस्वती

सचित्र मासिक पत्रिका।

भाग १२] १ मार्च, १९११—फाल्गुन शुक्ल १, १९६७। [संख्या ३

बाबू शिशिरकुमार घोष।

राजनैतिक और धार्मिक जीवन में बड़ा अन्तर है। राजनैतिक भाव मनुष्य के हृदय में नाना प्रकार के सङ्कल्प-विकल्प उत्पन्न करके उसे सांसारिक बनाते हैं; धार्म्मिक भाव विराग उत्पन्न करते हैं—मनुष्य को संसार से विरक्त बनाते हैं। इन दोनों परस्पर विरोधी भावों का एकत्र समावेश विरलेही पुरुष में होता है। बाबू शिशिर-कुमार घोष ऐसेही विलक्षण पुरुष थे। खेद की बात है, इनका अभी हाल में शरीरपात हो गया।

शिशिरकुमार का जन्म १८४२ ईसवी में हुआ था। इनकी जन्मभूमि यशोहर ज़िले का पलनू मगरा गाँव है। बाल्यकाल में शिशिरकुमार ने अपने गाँव की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। इसके आगे किसी स्कूल या कालेज में अध्ययन करने का सुयोग इन्हें नहीं प्राप्त हुआ। किन्तु धीरे धीरे अपने असा-धारण बुद्धिबल और अध्यवसाय से इन्होंने ऐसी योग्यता प्राप्त करली कि बड़े बड़े विद्वान् भी इनके आगे मस्तक झुकाने और इनकी विद्वत्ता तथा बहु-दर्शिता की प्रशंसा करने लगे। ये कहा करते थे—"मनुष्य के लिए समय ईश्वर का दिया हुआ एक अमूल्य रत्न है"। इस अमूल्य रत्न का सदुपयोग शिशिर बाबू अच्छी तरह करते थे। उसके छोटे से छोटे टुकड़े को भी ये अपनी तथा भारत और भारतवासियों की उन्नति के यत्न में लगाते थे। ये निरन्तर ईश्वराराधन और लोकहितसाधन-सम्बन्धी विचारों में लगे रहते थे।

१८५९ ईसवी में पूर्व बङ्गाल में नील की खेती करनेवाले अँगरेज़ों का उपद्रव आरम्भ हुआ। उस उपद्रव से रक्षा पाने के लिए प्रजा ने घोर आन्दोलन

आरम्भ किया। प्रजा के न्याय्य पक्ष का समर्थन करना अपना कर्तव्य समझ कर युवक शिशिरकुमार भी इस आन्दोलन में शामिल हुए। इस कार्य्य में इन्होंने बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। इसी समय प्रजाहितसाधन के सम्बन्ध में समाचारपत्रों की उपयोगिता पर शिशिरकुमार का ध्यान गया। अतएव इन्होंने बँगला में एक साप्ताहिक पत्र निकालने का संकल्प किया।

सन् १८६८ में "अमृतबाज़ार-पत्रिका" निकाल कर शिशिर बाबू ने अपनी इच्छा पूर्ण की। शिशिर बाबू की माता का नाम अमृतमयी देवी था। इन्हीं के नाम पर शिशिर बाबू ने अपने गाँव में अमृत-बाज़ार नामक एक छोटा सा बाज़ार लगवाया। तब से इनका गाँव भी अमृतबाज़ार के नाम से विख्यात हो गया। यहाँ इन्होंने एक स्कूल और औषधालय भी स्थापित किया। इसी अमृतबाज़ार की एक छोटी सी दुकान में बँगला अमृतबाज़ार-पत्रिका का साप्ताहिक रूप में जन्म हुआ। पहले यह पत्रिका पुराने-धुराने टाइपों से लकड़ी के प्रेस पर छपती थी। धन का अभाव था; इसलिए ये सब भाई मिल कर ख़ुदही प्रेस का काम करते थे। कोई कम्पोज़ करता था, कोई स्याही देता था और कोई छापता था। कुछ ही दिनों में शिशिर बाबू कम्पोज़ करने के काम में सिद्धहस्त हो गये। वे प्रकाशन के लिए लेख काग़ज़ पर न लिख कर टाइपों में ही कम्पोज़ किया करते थे।

एक कहावत है कि जो अपनी सहायता आप करते हैं ईश्वर भी उनकी सहायता करता है। बाबू शिशिरकुमार अपने भाइयों के साथ जब अपनी सहायता आप करने लगे तब ईश्वर भी उन पर सानुकूल हुआ। देखते देखते पत्रिका के पाँच सौ ग्राहक हो गये। पत्रिका का आदर दिन दिन बढ़ने लगा। उसकी बे-लगाव सच्ची बातें सबको अच्छी मालूम होने लगीं। कुछ ही दिनों में पत्रिका बँगला के पत्रों में सर्वश्रेष्ठ समझी जाने लगी। राज-कर्म्मचारियों के कामों की तीव्र समालोचना करने और कुरीति-संस्कार-सम्बन्धी प्रस्तावों का समर्थन करने में पत्रिका सदैव निर्भीक और अग्रेसर रहती थी। यह गुण इसके लेखों में अब तक पाया जाता है। हम इस पत्रिका को कोई २५ वर्ष से बराबर पढ़ते हैं और इसकी बदौलत बहुत लाभ उठाया है। अपने जन्म से कोई पाँच ही महीने बाद इसने एक डिपुटी मैजिस्ट्रेट के कार्य्य की ऐसी तीव्र समालोचना की कि इसके ऊपर मानहानि का अभियोग लाया गया। यह मुक़द्दमा आठ महीने तक चला। शिशिर बाबू को इसमें बहुत हैरानी उठानी पड़ी; पर अन्त में उन्हीं की जीत हुई। मुक़द्दमा ख़ारिज हो गया।

शहर से बहुत दूर देहात में रह कर साप्ताहिक समाचारपत्र निकालने में अनेक बाधायें उपस्थित होती हैं। बहुत दिनों तक शिशिर बाबू ने इन विघ्न-बाधाओं को धैर्य-पूर्वक झेला। पीछे, उन्होंने सोचा कि यदि उनकी पत्रिका कलकत्ते से निकले तो बहुत सुभीता हो। इस काम के लिए धन की आवश्यकता थी। किन्तु पत्रिका से अच्छी आमदनी होने पर भी व्यय की अधिकता के कारण शिशिर बाबू का कोष धनशून्य था। अतएव बहुत अधिक सूद पर एक सौ रुपये ऋण लेकर वे पत्रिका-कार्य्यालय को कलकत्ते ले आये। मँगनी के एक पुराने प्रेस में पत्रिका छापने का उन्होंने प्रबन्ध किया। इस तरह, १८७२ ईसवी के फ़रवरी महीने में, अमृतबाज़ार-पत्रिका का पहला अङ्क कलकत्ते से निकला। यह नई पत्रिका कलकत्ते के लोगों को बहुत पसन्द आई। गम्भीर राजनैतिक विषयों पर भी सरल और सरस भाषा में ज़ोरदार लेख लिखने और बात बात में चुटकियाँ लेने के कारण शिशिर बाबू आदर की दृष्टि से देखे जाने लगे। इनकी सुख्याति दिन दिन बढ़ने लगी।

शिशिर बाबू को यदि भारतवर्ष में राजनैतिक समाजों की नींव डालने वालों का मुखिया कहा जाय तो शायद अत्युक्ति न होगी। वे जब कलकत्ते आये, वहाँ ब्रिटिश इंडियन ऐसोसियेशन नाम की एक सभा स्थापित थी। इस सभा के संचालक बड़े

योग्य और उत्साही पुरुष थे; किन्तु वे सब स्थानीय ज़मींदार तथा अन्य धनिक घरानों के थे। कलकत्ते के अधिवासियों का लोकमत इसी सभा द्वारा प्रकट होता था। शिशिरकुमार जी-जान से इस सभा के कार्य्यों में लग गये। इनके मुफ़स्सिल के जीवन-सम्बन्धी विस्तृत अनुभव से सभा को बहुत सहायता पहुँची।

थोड़े ही दिनों बाद सर फिट्जेम्स स्टीफन साहब के फ़ौजदारी क़ानून से सम्बन्ध रखने वाले प्रस्ताव के विषय में ऐसोसियेशन के मेम्बरों से शिशिर बाबू का मतभेद हो गया। फिर, जब, इनकम-टैक्स-सम्बन्धी मसविदा पेश हुआ तब शिशिर बाबू उसके पक्ष में हुए; किन्तु ब्रिटिश-इंडियन-ऐसोसियेशन ने उसका घोर विरोध किया। इस समय शिशिर बाबू ने अपनी पत्रिका में ऐसे प्रभावशाली लेख लिखे कि अनेक आदमी इनके मतानुयायी बन गये। फल यह हुआ कि इंडियन-लीग नामक एक नई सभा की सृष्टि हुई। इस राजनैतिक सभा की स्थापना १८७५ ईसवी में हुई। इसका प्रधान कार्य्यालय कलकत्ते में था। बरीसाल, ढाका, ब्रह्मपुर आदि मुफ़स्सिल के प्रधान प्रधान शहरों में भी इसके शाखा-कार्य्यालय थे। बाबू शिशिरकुमार घोष ही पहले इस सभा के मंत्री हुए; पीछे बाबू कालीचरण बैनरजी को यह पद प्राप्त हुआ। यह सभा सामाजिक तथा राजनैतिक कामों के लिए विख्यात है। इसने कई बड़े बड़े काम किये हैं। पंचों के द्वारा न्याय होने और म्युनिसिपेलिटी के लिए मेम्बरों के चुनाव की प्रथायें पहले पहल इसी सभा के उद्योग से प्रचलित हुई थीं। पीछे, उसी आदर्श पर, प्रान्तीय तथा बड़े लाट की सभाओं के मेम्बरों का चुनाव भी होने लगा। १८७६ ईसवी में तत्कालीन छोटे लाट, सर रिचार्ड टेम्पुल, ने कलकत्ते में म्युनिसिपलिटी क़ायम करना चाहा। कलकत्तावासियों ने इसका विरोध किया। अतएव अपने उद्देश की सिद्धि के लिए छोटे लाट ने शिशिर बाबू से सहायता माँगी। शिशिर बाबू ने टाउन-हाल में एक बहुत बड़ी सभा की। ब्रिटिश-इंडियन-ऐसोसियेशन ने भी शिशिर बाबू के प्रस्ताव का विरोध करने के लिए उसी दिन एक सभा की। किन्तु शिशिर बाबू का उद्योग ही सफल हुआ। म्युनिसिपेलिटी क़ायम हो गई।

बाबू शिशिरकुमार शिल्प-विद्या के बड़े पक्षपाती थे। कलकत्ते में शिल्पविद्या-सम्बन्धीय पाठागार स्थापित कराने के लिए वे बहुत दिनों से आन्दोलन कर रहे थे। १८७५ ई० में, जब राजराजेश्वर सप्तम एडवर्ड (तत्कालीन प्रिंस-आव्-वेल्स) भारत आये थे, कलकत्ते के प्रतिष्ठित लोगों ने उनकी एक यादगार बनाने का विचार किया। यह सुअवसर आया देख कर शिशिर बाबू ने एक शिल्प-कालेज स्थापित करने का प्रस्ताव किया। इसी समय डाक्टर महेन्द्रलाल सरकार ने "विज्ञानालय" (Science Association) स्थापित करने का प्रस्ताव उपस्थित किया था। बंगाले के छोटे लाट शिशिर बाबू का बहुत सम्मान करते थे। इस कारण शिशिर बाबू का प्रस्ताव ही स्वीकृत हुआ। फिर छोटे लाट महोदय के सभापतित्व में स्थानीय प्रतिष्ठित पुरुषों को एकत्र करके शिशिर बाबू ने दो लाख रुपये का चन्दा इकट्ठा किया। इसी से अलबर्ट टेम्पल आव् सायन्स (Albert Temple of Science) नामक विद्यालय की स्थापना हुई। गवर्नमेंट ने भी इस विद्यालय को आठ हज़ार रुपये वार्षिक सहायता देना स्वीकार किया। यह सहायता कुछ दिनों तक मिलती रही। जब सर ऐशले इडेन छोटे लाट हुए तब उन्होंने यह सहायता बन्द कर दी। यह विद्यालय अब तक मौजूद है।

सन् १८७९ में लार्ड लिटन ने देशी भाषा के पत्रों का मुँह बन्द करने के लिए एक क़ानून बनाया। शिशिर बाबू ने सोचा कि शायद यह क़ानून पत्रिका को ही लक्ष्य करके बनाया गया है। अब क्या किया जाय? इस कठिनता से त्राण पाने के लिए बँगला पत्रिका को अँगरेज़ी में निकालने का उन्होंने निश्चय किया। ऐसाही किया गया। उक्त क़ानून के जारी

होतेही पत्रिका का भी कायापलट हो गया। वह अँगरेज़ी में निकलने लगी। प्रेस में अँगरेज़ी का काफ़ी टाइप न था। अतएव कुछ दिनों तक मँगनी के पुराने टाइपों से काम चलाना पड़ा। इस आकस्मिक परिवर्तन के कारण पत्रिका की ग्राहक-संख्या बहुत कम हो गई। परन्तु शिशिर बाबू इससे हताश नहीं हुए। वे पूर्ववत् दृढ़ता से काम करते गये। उनकी अपूर्व लेखनशैली और असीम परिश्रम का फल यह हुआ कि ग्राहक-संख्या बढ़ने लगी। अन्त में बँगला की पत्रिका जिस तरह बँगला के अख़बारों में सर्वश्रेष्ठ समझी जाती थी उसी तरह अँगरेज़ी की पत्रिका ने भी अँगरेज़ी अख़बारों में उच्च स्थान पाया। सन् १८९१ में इसने दैनिक रूप धारण किया। तबसे इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती गई है। इस समय हिमालय से कुमारिका अन्तरीप तक इसका प्रचार है। इसके सामाजिक तथा राजनैतिक लेखों का देश में विशेष आदर होता है।

अनुचित बातें होते देख शिशिर को बहुत कष्ट होता था। इसी से विवश होकर ये कभी कभी सरकारी अफ़सरों के कार्य्यों की बड़ी तीव्र आलोचना किया करते थे। इनके इस काम से बहुत लोग असंतुष्ट भी रहते थे। पर शिशिर बाबू इसकी कुछ भी परवा नहीं करते थे। अपना सर्वस्व गवाँ कर भी देशहित-साधन करना शिशिर बाबू अपना परम धर्म्म समझते थे।

सर लेपल ग्रिफ़िन के समय में इन्होंने भूपाल के राजकीय षड्यन्त्रों के विषय में बहुत कड़े, पर सत्यानुयायी, लेख लिखे। सर लेपल ग्रिफ़िन इससे बहुत विषण्ण हुए। उन्होंने पत्रिका पर मुक़द्दमा चलाने के लिए गवर्नर जनरल से अनुमति माँगी। पर अनुमति न मिली। डाकख़ाने के महकमे में कुछ दिन बड़ा अन्धेर था। अयोग्य पुरुष बड़ी बड़ी जगहों पर भर दिये गये थे। इस पर भी शिशिर बाबू ने बड़ा कोलाहल मचाया। लगातार महीनों लेख लिखे। फल भी अन्त में अच्छा ही हुआ।

इस प्रकार शुद्ध हृदय से देश-सेवा करके शिशिर बाबू ने असीम कीर्ति प्राप्त की। विद्वन्मण्डली इन्हें श्रद्धा-भक्ति की दृष्टि से देखने लगी। किन्तु शिशिरकुमार यश अथवा सम्मान के भूखे न थे। वे केवल शान्ति-सुख के अभिलाषी थे। राजनैतिक जीवन में शान्ति-सुख प्राप्त करना उन्होंने असम्भव समझा। अतएव अपने सुयोग्य छोटे भाई, बाबू मोतीलाल घोष, पर पत्रिका के सम्पादन का भार रख कर वे कलकत्ते से अपने जन्मस्थान को चले गये। वहाँ शिशिर बाबू स्वास्थ्यसुधार तथा आध्यात्मिक उन्नति में दत्तचित्त हुए। यह बात कोई दस वर्ष पहले की है।

शिशिर बाबू का धार्मिक भाव अब तक छिपा हुआ था। राजनैतिक झंझटों से अलग होने पर उनके उस भाव का क्रमशः विकास होने लगा। अपने धार्मिक विचारों को प्रकट करने के लिए उन्होंने "स्पिरिचुएल मेगज़िन" नामक एक मासिक पत्र अँगरेज़ी में निकाला। अन्त समय तक वह इस पत्र का योग्यतापूर्वक सम्पादन करते रहे। इस पत्र ने अनेकानेक मनुष्यों के हृदय में धार्मिक भाव उत्पन्न करके उन्हें सुमार्ग में लगाया है। शिशिर बाबू चैतन्य-सम्प्रदाय के वैष्णव थे। उन्होंने धर्मप्रवर्तक महात्मा श्रीगौराङ्ग महाप्रभु का जीवन-चरित अँगरेज़ी और बँगला दोनों भाषाओं में लिखा है। उनके उपदेशपूर्ण ग्रन्थों की व्याख्या भी इन्होंने लिख कर बँगला-साहित्य का उपकार किया है। बड़े बड़े अँगरेज़ विद्वानों ने इनके लिखे हुए गौराङ्ग-चरित की प्रशंसा की है। इन्होंने कई एक बँगला तथा अँगरेज़ी पुस्तकों द्वारा साहित्य-सेवा की है।

बाबू शिशिरकुमार किसी धर्म-सम्प्रदाय से विरोधभाव नहीं रखते थे। ब्रह्मवादियों को वे विशेष आदर की दृष्टि से देखते थे। जब मेडम ब्लेवस्की और कर्नल ओलकट बम्बई आये थे तब शिशिर बाबू उनसे मिलने के लिए बम्बई गये थे। उन लोगों के साथ वे तीन सप्ताह तक रहे भी थे। वे कहा करते थे कि इस सत्सङ्ग से वे बहुत उपकृत हुए।

शिशिर बाबू हरिसङ्कीर्तन के बड़े प्रेमी थे । सन्ध्या समय इनके बाग़-बाज़ारवाले मकान के छोटे बाग़ीचे में प्रायः सङ्कीर्तन हुआ करता था । दोल-यात्रा के समय ये और भी अधिक उत्साह दिखाते थे ।

शिशिर बाबू के राजनैतिक चर्चा छोड़ देने के बाद जापानी-ग्रन्थकार मिस्टर ओककुरा हिन्दुस्तान आये थे । वे शिशिर बाबू से मिल कर इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने बहुत लेगों से स्पष्ट कह दिया कि बंगाले के जितने प्रतिष्ठित पुरुषों से मैं मिला हूँ, उनमें किसी को भी मैंने शिशिर बाबू के सदृश उच्चाशय और विद्वान् नहीं पाया ।

गत वार प्रिन्स-आव्-वेल्स (वर्तमान सम्राट्) जब कलकत्ते आये थे तब शिशिर बाबू को उनसे मिलने का सैाभाग्य प्राप्त हुआ था । प्रिन्स महोदय ने इनसे मिल कर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की थी । शिशिर बाबू ने अनुकूल समय देख कर प्रिन्स से स्वदेश-सम्बन्धी कुछ निवेदन किया था और उसे सम्राट् तक पहुँचा देने की प्रार्थना की थी । शिशिर बाबू की यह प्रार्थना सादर स्वीकृत हुई । ऐसा सैाभाग्य दूसरे किसी भी देशी-पत्र के सम्पादक को नहीं प्राप्त हुआ ।

अपने जीवन के अन्तिम भाग को इस प्रकार सुख-शान्तिपूर्वक व्यतीत करके बाबू शिशिरकुमार घोष ने गत दसवीं जनवरी १९११, मङ्गलवार, को, ७१ वर्ष की उम्र में, अपनी मानवलीला संवरण की । शिशिर बाबू के परिवार में इस समय उनके दो भाई, एक भतीजा, तीन पुत्र और दो कन्यायें हैं ।

मातृभूमि ।

(१)

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है ;
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है ;
नदियाँ प्रेम-प्रवाह ; फूल-तारे मण्डल हैं ;
बन्दी विविध विहङ्ग ; शेष-फन सिंहासन हैं ;
करते अभिषेक पयोद हैं,
बलिहारी इस वेश की !
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही
सगुण मूर्त्ति सर्वेश की ।

(२)

मृतक-समान अशक्त विवश आँखों को मीचे
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हम को नीचे,
करके जिसने कृपा हमें अवलम्ब दिया था ;
लेकर अपने अतुल अङ्क में त्राण किया था ;
जो जननी का भी सर्वदा
थी पालन करती रही ;
तू क्यों न हमारी पूज्य हो
मातृभूमि ! मातामही !

(३)

जिसकी रज में लोट लोट कर बड़े हुए हैं ;
घुटनों के बल सरक सरक कर खड़े हुए हैं ;
परमहंस-सम बाल्यकाल में सब सुख पाये ;
जिसके कारण 'धूलभरे हीरे' कहलाये ;
हम खेले कूदे हर्ष युत
जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि ! तुझको निरख
मग्न क्यों न हों मोद में ?

(४)

पालन-पोषण और जन्म का कारण तू ही ;
वक्षःस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही ;
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे
बने हुए हैं अहो ! तुझी से तुझ पर सारे ;
हे मातृभूमि ! जब हम कभी
शरण न तेरी पायँगे,
बस तभी प्रलय के पेट में
सभी लीन हो जायँगे !

(५)

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है ;
बदले में कुछ नहीं किसी से तू लेती है ;
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा ;

हे मातृभूमि ! उपजें न जो
तुझसे कृषि-अङ्कुर कभी ,
तो तड़प तड़प कर जल मरें
जठरानल में हम सभी ।

(६)

पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा ;
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हम से होगा ?
तेरीही यह देह तुझी से बनी हुई है ;
बस तेरेही सुरस-सार से सनी हुई है ;
हा ! अन्त समय तू ही इसे
अचल देख अपनायगी ;
हे मातृभूमि ! यह अन्त में
तुझ में ही मिल जायगी ।

(७)

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता ;
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता ;
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित होजाता ;
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता ;
उन सबमें तेरा सर्वदा
व्याप्त हो रहा तत्त्व है ;
हे मातृभूमि ! तेरे सदृश
किसका महा महत्त्व है ?

(८)

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है ;
शीतल मन्द सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है ;
षट् ऋतुओं का विविध दृश्ययुत अद्भुत क्रम है ;
हरियाली का फ़र्श नहीं मख़मल से कम है ;
शुचि सुधा सींचता रात में
तुझ पर चन्द्र-प्रकाश है ;
हे मातृभूमि ! दिन में तरणि
करता तम का नाश है ।

(९)

सुरभित सुन्दर सुखद सुमन तुझ पर खिलते हैं ;
भाँति भाँति के सरस सुधोपम फल मिलते हैं ;
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली ;
खानें शोभित कहीं धातु-वर-रत्नोंवाली ;
आवश्यक जो होते हमें
मिलते सभी पदार्थ हैं ;
हे मातृभूमि ! 'वसुधा' 'धरा'
तेरे नाम यथार्थ हैं ।

(१०)

दीख रही है कहीं दूर तक शैल-श्रेणी ;
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी ;
नदियाँ पैर पखार रही हैं बन कर चेरी ;
फूलों से तरुराजि कर रही पूजा तेरी ;
मृदु मलय-वायु मानों तुझे
चन्दन चारु चढ़ा रही ;
हे मातृभूमि ! किसका न तू
सात्विक भाव बढ़ा रही ?

(११)

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है ,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है ,
विभवशालिनी विश्वपालिनी दुखहर्त्री है ,
भयनिवारिणी शान्तिकारिणी सुखकर्त्री है ,
हे शरणदायिनी देवि ! तू
करती सबका त्राण है ;
हे मातृभूमि ! सन्तान हम,
तू जननी तू प्राण है ।

(१२)

आतेही उपकार याद हे माता ! तेरा
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा ;
तू पूजा के योग्य कीर्ति तेरी हम गावें ;
मन तो होता तुझे उठाकर शीश चढ़ावें ;
वह शक्ति कहाँ, हा क्या करें !
क्यों हम को लज्जा न हो ?
हम मातृभूमि ! केवल तुझे
शीश झुका सकते अहो !

(१३)

कारण-वश जब शोक-दाह से हम दहते हैं ,
तब तुझ पर ही लोट लोट कर दुख सहते हैं ;
पाखण्डी भी धूल चढ़ा कर तनु में तेरी ,
कहलाते हैं साधु, नहीं लगती है देरी ;

इस तेरी ही शुचि धूलि में
मातृभूमि! वह शक्ति है,
जो क्रूरों के भी चित्त में
उपजा सकती भक्ति है!

(१४)

कोई व्यक्ति-विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय! देखता वह सपना है;
तुझको सारे जीव एक से ही प्यारे हैं;
कर्म्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे न्यारे हैं;
हे मातृभूमि! तेरे निकट
सबका सम-सम्बन्ध है;
जो भेद मानता वह अहो!
लोचनयुत भी अन्ध है!

(१५)

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान्! कभी हम रहें न न्यारे;
लोट लोट कर वहीं हृदय को शान्त करेंगे;
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे;
उस मातृभूमि की धूल में
जब पूरे सन जायँगे
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम
आत्म-रूप बन जायँगे!

मैथिलीशरण गुप्त।

कालिदास की निरङ्कुशता।

[गताङ्क से आगे]

(८) यतिभङ्ग।

छन्दःशास्त्र के कर्त्ता विद्वानों ने नियम कर दिया है कि किस वृत्त में कहाँ पर विराम होना चाहिए—अर्थात् कहाँ पर ठहर कर पढ़ना चाहिए। जहाँ पर ठहरने का नियम होता है उस स्थल को यति कहते हैं। यह यति या विराम किसी शब्द के बीच में न होना चाहिए। क्योंकि, बीच में होने से शब्द के टुकड़े हो जाते हैं जिससे सुननेवाले को ठीक ठीक अर्थ-ज्ञान नहीं होता और पढ़ते अच्छा भी नहीं लगता। इसका हिन्दी में एक कल्पित उदाहरण लीजिए:—

सदा श्रीराजारा—मपदयुग वन्दों बहु विध

यह शिखरिणी छन्द है। इसमें १७ अक्षर होते हैं और छठे तथा ग्यारहवें अक्षर पर यति होती है। अब, देखिए, ऊपर के उदाहरण में छठा अक्षर 'राम' का 'रा' है। वहाँ पर ठहरने से 'राम' का 'रा' एक तरफ़ रह जाता है और 'म' दूसरी तरफ़ चला जाता है। यह दोष माना गया है। अब, इस उदाहरण में, कुछ फेर फार करके इसके आगे एक और चरण की कल्पना कीजिए। यथा:—

सदा श्रीराजारा–मपदयुग वन्दों विविध वि–
ध सीताजी के हू पदकमल में वन्दन करूँ।

इसमें 'विध' शब्द को देखिए। उसकी 'वि' तो पहले चरण के अन्त में है और 'ध' दूसरे चरण के आरम्भ में। यह यतिभङ्ग का और भी बुरा उदाहरण है। यति-भङ्ग के उदाहरण संस्कृत-कवियों के काव्यों में बहुत पाये जाते हैं। पहले प्रकार के यति-भङ्ग तो और भी अधिक हैं। तथापि शास्त्रकारों ने यति-भङ्ग दोष को अवश्य माना है। मण्डन मिश्र और शङ्कराचार्य्य से जिस समय बातचीत होने लगी उस समय मण्डन से उसके पद्यात्मक भाषण में यतिभङ्ग दोष हो गया। इस पर शङ्कराचार्य्य तत्काल बोल उठे:—

अहो प्रकटितं ज्ञानं यतिभङ्गेन भाषिणा

अर्थात् यतिभङ्गपूर्वक भाषण करनेवाले तू ने अपने ज्ञान की इयत्ता का ख़ूब अच्छा प्रमाण दिया। इस यतिभङ्ग दोष से कालिदास भी नहीं बचे। औरों के काव्य में यह दोष उतना नहीं खटकता। पर कवियों के आचार्य्य महाकवि कालिदास के काव्य में ज़रूर कुछ अधिक खटकता है। रघुवंश के चौदहवें सर्ग का चालीसवाँ पद्य है:—

अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वे-नारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥

'मलत्वेन' एक पद है। उसका 'मलत्वे'— इतना अंश तो तीसरे चरण के अन्त में रहा और अवशिष्ट अंश 'न' चौथे चरण के आरम्भ में चला गया। वहाँ पर न+आरोपिता मिलकर 'नारोपिता' हुआ है। इस पद्य में यद्यपि यति-भङ्ग-दोष है तथापि यह है बड़ा ही महत्त्वपूर्ण पद्य। इसमें कालिदास ने चन्द्रग्रहण का यथार्थ कारण पृथ्वी की छाया का चन्द्रमा पर पड़ना बतलाया है। इससे सिद्ध है कि कालिदास और उनके पूर्ववर्ती विद्वान् यह जानते थे कि ग्रहण क्या चीज़ है।

(६) पुनरुक्ति।

[क]

रघुवंश के पहले सर्ग का बारहवाँ श्लोक है:—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव॥

अर्थः—उस विशुद्ध वंश में और भी विशेष विशुद्ध, दिलीप नामक राजेन्दु, क्षीरसागर में इन्दु की तरह, पैदा हुआ। यहाँ पर बिना किसी कारण-विशेष के दो बार 'इन्दु' शब्द का प्रयोग किया गया है। न तो यहाँ कोई विशेषोक्ति है, न कोई विशेष कारण ही है। अतएव वाग्भट के मत में यहाँ पुनरुक्ति दोष है। 'कथित-पद' नाम का भी एक दोष होता है। एक बार कहा गया पद (शब्द) फिर भी उसी पद्य में आने से यह दोष होता है। आप चाहें तो पूर्वोक्त पद्य में पुनरुक्ति की जगह कथित-पद दोष मान सकते हैं।

[ख]

अच्छा, अब, एक और तरह की पुनरुक्ति देखिए। रघुवंश के आठवें सर्ग का चालीसवाँ श्लोक:—

अथवा मम भाग्यविप्लवादशनिः कल्पित एष वेधसा।
यदनेन तरुर्न पातितः क्षपिता तद्विटपाश्रिता लता॥

इन्दुमती के शव को गोद में रक्खे हुए अज विलाप करता है:—अथवा मेरे भाग्य के दोष से ब्रह्मा ने इस माला को वज्र बना दिया—इससे वज्र का काम लिया। इसने पेड़ को तो नहीं गिराया, पर उस पेड़ से लिपटी हुई, अर्थात् उसकी आश्रित, लता को तोड़ कर गिरा दिया। यहाँ, इस पद्य में, 'तरु' और 'विटप' ये दो शब्द आये हैं; और 'विटप' के पहले 'तत्' शब्द भी आया है। ध्यान में नहीं आता कि एक बार तीसरे चरण में 'तरु' का प्रयोग करके चौथे चरण में फिर भी तरुवाची 'विटप' शब्द की क्या ज़रूरत थी। 'विटप' के पहले जो 'तत्' (वह) है उससे 'तरु' का तत्काल बोध हो जाता है। "तदाश्रिता लता" कहने से भी वही अर्थ निकलता जो "तद्विटपाश्रिता लता" से निकलता है। अतएव 'विटप' शब्द यहाँ व्यर्थ है। उसे या तो पुनरुक्ति मानिए या अधिक पद। जान पड़ता है कि महाकवि ने यहाँ पर 'विटप' शब्द की आवश्यकता अथवा अनावश्यकता का विचार नहीं किया। विचार केवल छन्दोरचना का किया है। इस शब्द के रखने से छन्द की पूर्ति होती थी। अतएव उसे रख दिया।

[ग]

कालिदास ने रघुवंश के कितनेही श्लोक ज्यों के त्यों कुमारसम्भव में रख दिये हैं और कुमारसम्भव के रघुवंश में। इससे कोई हानि नहीं। कवि अपनी एक पुस्तक की कविता दूसरी पुस्तक में रख सकता है; क्योंकि, वह उसी की चीज़ है। परन्तु यदि वह एक ही पुस्तक में, एकही जगह, पास ही पास, एक श्लोक का एक चरण दूसरे श्लोक में तद्वत् रख दे तो उसका यह कार्य्य ज़रूर खटकेगा। कालिदास ने रघुवंश के ग्यारहवें सर्ग में ऐसाही किया है:—

दृष्टसारमथ रुद्रकार्मुके वीर्यशुल्कमभिनन्द्य मैथिलः।
राघवाय तनयामयोनिजां पार्थिवः श्रियमिव न्यवेदयत्॥

यह सतालीसवाँ पद्य है। इस श्लोक का तीसरा चरण, इसके आगे, अड़तालीसवें ही पद्य में, जैसे का तैसा रख दिया गया है। देखिए:—

मैथिलः सपदि सत्यसङ्गरो राघवाय तनयामयोनिजाम्।
सन्निधौ द्युतिमतस्तपोनिधेरग्निसाक्षिक इवातिसृष्टवान्॥

देखा आपने! क्या कालिदास को शब्दों का दुष्काल था? क्यों न उन्होंने इस पाद-पुनरुक्ति को बचाया? इन दोनों श्लोकों का अर्थ मिलता जुलता है। सम्भव है, इनमें से एक प्रक्षिप्त हो। यह भी सम्भव है कि इनका एक चरण लेखकों के प्रमाद से जाता रहा हो। इससे किसी ने "राघवाय तनया-मयोनिजां" को श्लोकपूर्ति के लिए दुबारा लिख दिया हो।

(१०) अधिकपदत्व।

रघुवंश के पाँचवें सर्ग का बत्तीसवाँ श्लोक यह है:—

> अथोष्ट्रवामीशतवाहितार्थं प्रजेश्वरं प्रीतमना महर्षिः।
> स्पृशन्करेणानतपूर्वकायं सम्प्रस्थितो वाचमुवाच कौत्सः॥

भावार्थ:—सैकड़ों ऊँटों और ख़च्चरों पर अनन्त धन-राशि लदवा देनेवाले और अपने शरीर के ऊपरी भाग को झुका कर बड़ी ही नम्रता से सामने खड़े होनेवाले प्रजा के ईश्वर राजा रघु को हाथ से स्पर्श करके, विदा के समय, प्रसन्न हुआ महर्षि कौत्स वाणी बोला। यहाँ पर 'वाचं'—अर्थात् वाणी—शब्द की अपेक्षा न थी। सिर्फ़ 'उवाच'—अर्थात् बोला—कह देनेही से अपेक्षित अर्थ-सिद्धि हो जाती है। अमुक मनुष्य अमुक से इस प्रकार बोला, या कहने लगा—यही मुहाविरा है। बात बोला या वाणी बोला—कहने का मुहाविरा नहीं। इस श्लोक की टीका लिखते समय इस दोष का उल्लेख मल्लिनाथ ने तो नहीं किया, पर हेमाद्रि और चारित्रवर्द्धन ने किया है। हेमाद्रि का कथन है—"विशेषणं विना वाक्शब्दप्रयोगश्चिन्त्यः"। अर्थात् बिना विशेषण के वाक् शब्द का प्रयोग चिन्तनयोग्य है। विशेषण से मतलब है कि यदि यहाँ पर होता—"मधुरां वाचमुवाच" या "मनोरमां वाचमुवाच" तो वाक् शब्द का प्रयोग ठीक समझा जाता। मधुर वाणी बोला, मनोरम वाणी बोला, या कड़वी वाणी बोला—आदि प्रयोग ठीक समझे जा सकते हैं, क्योंकि ऐसे उदाहरणों में वाणी शब्द विशेषण-सहित है। पर कालिदास ने कोई विशेषण नहीं दिया। इसलिए "वाचमुवाच" कहना निर्दोष नहीं। चारित्र-वर्द्धन इस विषय में लिखते हैं:—"शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः—इत्यादौ यथा विशेषणं तद्वद-त्रापि वाचो विशेषणायोगाद्वाचमुवाचेति चिन्तनी-यम्"। शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः—यह शिशु-पाल वध का पद्यांश है। इसमें 'वाचं' का विशेषण 'शुचिस्मितां' होने से वह दोष नहीं जो कालिदास की उक्ति में है। साहित्यदर्पण के मत में भी पूर्वोक्त पद्य में अधिकपदत्व दोष उसके कर्ता विश्वनाथ कविराज ने लिखा है:—"अत्र वाचमित्यधिकम्। उवाचेत्यनेनैव कृतार्थत्वात्"।

(११) श्रुतिकटुत्व।

जो शब्द, पद या पदैकदेश कान को कटु मालूम हो—जो कान को खटके—, पढ़ने या सुनने में जो कान को अच्छा न लगे, वह श्रुतिकटुत्व दोष से दूषित समझा जाता है। कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का अठारहवाँ श्लोक है:—

> तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्य्यमर्थोऽयमर्थान्तरभाव्य एव।
> अपेक्षते प्रत्ययमङ्ग लब्ध्यै बीजाङ्कुरः प्रागुदयादिवाम्भः॥

उदाहरण के लिए दिये गये प्रत्येक पद्य का भावार्थ देने से यह निबन्ध बहुत बढ़ जायगा। अत-एव इस श्लोक का अर्थ न लिख कर केवल इतनाही कह देना हम बस समझते हैं कि इसमें 'सिद्ध्यै' और 'लब्ध्यै' का 'द्ध्यै' और 'ब्ध्यै' कर्णकटु है। इनका उच्चारण करते समय कान को बुरा लगता है। काव्यरसिक सहृदय सज्जन इसके प्रमाण हैं। और लोग इस बात को मानेंगे या नहीं, नहीं कह सकते। उनका मानना न मानना प्रामाण्य भी नहीं। क्योंकि, जो जिस बात को जानता है उसी की गवाही उस विषय में प्रमाणयोग्य मानी जाती है; औरों की नहीं। काव्यप्रकाशकार आदि कई पण्डितों ने इस दोष का उल्लेख किया है।

किसी किसी पुस्तक में इस पद्य का तीसरा चरण इस प्रकार है :—

अपेक्षते प्रत्ययमुत्तमं त्वाम्

यह पाठ 'लब्ध्ये' के कर्णकटुत्व से बच जाता है। बहुत सम्भव है, इस दोष से बचनेही के लिए किसी ने पूर्व-पाठ को बदल दिया हो। कालिदास की कविता में इस तरह के पाठान्तर पण्डितों ने कारणवश कर दिये हैं, इस बात को कितनेही विद्वान् मानते हैं। मल्लिनाथ तक ने इसका अनुमोदन किया है। इस अनुमोदन का उल्लेख एक जगह पर हम पीछे कर आये हैं।

इस लेख का विस्तार बहुत बढ़ गया। इस कारण काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, काव्यानुशासन आदि ग्रन्थों में दिखलाये गये दोषों में से केवल कुछ का उल्लेख करके अब हम इसे समाप्त करना चाहते हैं।

(१२) जुगुप्साव्यञ्जक।

मनीषिताः सन्ति गृहेऽपि देवतास्तपः क्व वत्से क्व च तावकं वपुः।
पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः॥

कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ४

इस श्लोक में 'पेलव' शब्द जुगुप्साव्यञ्जक है।

(१३) ग्राम्य-भाव-व्यञ्जक।

कुमारसम्भव के पाँचवें सर्ग का अड़तीसवाँ श्लोक यह है :—

तस्याः प्रविष्टा नतनाभिरन्ध्रं रराज तन्वी नवरोमराजिः।
नीवीमतिक्रम्य सितेतरस्य तन्मेखलामध्यमणेरिवार्चिः॥

काव्यानुशासन के कर्ता वाग्भट के मत में यहाँ 'मध्यमणि' शब्द से ग्राम्य-भाव व्यक्त होता है।

इस श्लोक में एक बात और भी विचारणीय है। इसके आरम्भही में 'तस्याः' पद है। उसका अर्थ यहाँ पर 'उसके' है। फिर, चौथे चरण में 'तत्' शब्द भी है। उसका भी अर्थ 'उसका' या 'उसकी' होता है। इस 'तत्' की कोई विशेष आवश्यकता न थी। उसके बिना भी काम चल सकता था। इसी से टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है:—"तस्या इत्यनुवृत्तौ पुनस्तच्छब्दोपादानं वाक्यान्तरत्वात्सोढव्यम्"। अर्थात् 'तत्' शब्द दूसरे वाक्य में है। इसलिए उसका प्रयोग "सहन किया जाने योग्य है"।

(१४) अविमृष्टविधेयांश।

[क]

जिस बात को मुख्यतया कहना है—जिस अर्थ का प्रधानतापूर्वक प्रतिपादन करना है—उसकी मुख्यता या प्रधानता का ख़याल न रख कर उस पर ज़ोर दिये बिनाही, कथनीय बात कह जाने से अविमृष्ट-विधेयांश दोष होता है। जो अंश विधेय है वह जहाँ अच्छी तरह नहीं स्पष्ट होता है वहाँ काव्यशास्त्र के ज्ञाता इस दोष की उद्भावना करते हैं :—

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरपुष्पकाञ्चीम्।
न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण द्वितीयमौर्वीमिव कार्मुकस्य॥

कुमारसम्भव के तीसरे सर्ग का यह पचपनवाँ पद्य है। पार्वती की पुष्पकाञ्ची, अर्थात् फूलों की तागड़ी, का यह वर्णन है। कवि का आशय है कि यह तागड़ी क्या है मानों काम के धन्वा की दूसरी डोरी है। उसे पार्वती के पास धरोहर के तौर पर उसने रख दिया है कि जब काम पड़ेगा तब ले लूँगा। इस उक्ति में मौर्वी, अर्थात् डोरी, की प्रधानता नहीं है; प्रधानता है उसके द्वितीयत्व की। इसलिए 'द्वितीयमौर्वीमिव' न कह कर 'मौर्वीं द्वितीयामिव' कहना चाहिए था। 'इव' का सम्बन्ध 'द्वितीयां' के साथ होना चाहिए था, 'मौर्वीं' के साथ नहीं। सो बात नहीं हुई, इसी से यहाँ पर अविमृष्टविधेयांश दोष हुआ। इस पद्य का जो पाठ हमने ऊपर दिया है वही काव्यप्रकाश और काव्यानुशासन में है। परन्तु निर्णयसागर के छपे हुए कुमारसम्भव में निर्दोष पाठ 'मौर्वीं द्वितीयामिव' ही है। यदि ऐसाही पाठ होता तो पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों के कर्त्ताओं को इसमें दोष दिखलाने का मौक़ाही न मिलता। अतएव जान पड़ता है, कालिदास को इस दोष से

बचानेही के लिए किसी ने पुराने पाठ को बदल कर निर्दोष कर दिया है।

[ख]

वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥

कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ७२

पार्वती से ब्रह्मचारिवेशधारी शङ्कर अपनेही मुँह अपनी निन्दा करते हैं:—"रूप का तो यह हाल कि तीन आखें; जन्म का पता नहीं; धन कितना है, यह दिगम्बरत्वही से प्रकट हो रहा है। हे बाल-मृगाक्षि! वर में जो बातें देखी जाती हैं उनमें से भला एक भी बात त्रिलोचन में है? अर्थात् न रूपही है, न रुपयाही पैसा है, न जन्मही का पता ठिकाना है। इस श्लोक में 'अलक्ष्यजन्मता' पद पर पण्डितों को एतराज़ है। वे कहते हैं कि वर के जन्म का पता चले या न चले—वह ज्ञात हो या अज्ञात—यह कोई बड़ी बात नहीं। जो अपनी कन्या के लिए वर ढूँढने जाता है वह वर की जन्मता की—कब वर का जन्म हुआ इत्यादि बातों की—खोज नहीं करता। खोज करता है वह वर की उत्पत्ति के विषय की:—वर का बाप कौन है, माँ कौन है, कुल कैसा है—इन्हीं बातों की वह विशेष खोज करता है। अतएव कालिदास को भी चाहिए था कि वे शङ्कर के मुँह से उनकी उत्पत्ति की बात कहलाते, जन्मता की नहीं। ऐसा उन्होंने नहीं किया, इसलिए उनकी इस उक्ति में भी अविमृष्ट-विधेयांश दोष आ गया। 'अलक्ष्यजन्मता' की जगह यदि 'अलक्षिता जनिः' होता तो इस दोष से उनका पूर्वोक्त पद्य बच जाता। यह बड़ाही सूक्ष्म विचार है। तिस पर भी मम्मट भट्ट ने कालिदास को नहीं छोड़ा। ऐसे दोषों की अपेक्षा वे दोष, जिनका उल्लेख इस लेख के आरम्भ में हुआ है, विशेष गुरुतर हैं। परन्तु साहित्यशास्त्र के आचार्य महाकवियों के भी छोटे से छोटे दोषों तक को बिना दिखाये नहीं रहे।

(१५) निहतार्थता।

किसी किसी शब्द के दो दो तीन तीन अर्थ होते हैं। उनमें से कोई प्रसिद्ध होता है, कोई अप्रसिद्ध। जब कोई शब्द किसी ऐसे अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त होता है जिसका बोध कम, पर प्रसिद्ध अर्थ का बोध अधिक होता हो तब वहाँ निहतार्थता दोष माना जाता है। यथा:—

यश्चाप्सरोविभ्रममण्डनानां सम्पादयित्रीं शिखरैर्बिभर्ति।
बलाहकच्छेदविभक्तरागामकालसन्ध्यामिव धातुमत्ताम्॥

कुमारसम्भव, सर्ग १, श्लोक ४

यह हिमालय का वर्णन है। सिन्दूर और गेरू आदि धातु होने के कारण हिमालय धातुमान् है। इस 'धातुमान्' शब्द में भावार्थक प्रत्यय करने से 'धातुमत्ता' शब्द सिद्ध होता है। पर 'मत्त' शब्द, जिसका स्त्रीलिङ्ग 'मत्ता' होता है, उन्मत्तता के अर्थ का भी बोधक है और यह अर्थ अधिक प्रसिद्ध है। पूर्वोक्त पद कान में पड़तेही इस अर्थ का भास भी होने लगता है। परन्तु कवि को यह अर्थ यहाँ अभीष्ट नहीं। अतएव निहतार्थता दोष हुआ।

(१६) क्रमभङ्गता।

(क)

भग्नप्रक्रम और अक्रम, ये दो दोष संस्कृत-साहित्य के ज्ञाताओं ने पृथक् पृथक माने हैं। परन्तु इनमें बहुत अधिक अन्तर नहीं है। इस कारण, क्रमभङ्गता नाम देकर, हम इन दोनों प्रकार के दोषों का एकही साथ उल्लेख किये देते हैं:—

अभिज्ञान-शाकुन्तल का एक पद्य यह है:—

गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु।
विश्रब्धैः क्रियतां वराहपतिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले
विश्रामं लभतामिदञ्च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः॥

इसके प्रत्येक चरण का सारांश है:—

(१) भैंसे पानी में उछलें कूदें

(२) मृगों के झुण्ड छाया में पागुर करें

(३) शूकरों के द्वारा मोथ-नामक घास खोदी जाय
(४) मेरा भी धनुष विश्राम करे

उदाहृत पद्य के पहले, दूसरे और चौथे चरण का कारक एक प्रकार का है, अकेले तीसरे चरण का दूसरे प्रकार का। अतएव कारक का क्रम भग्न हो गया। इससे भग्नप्रक्रम दोष हुआ।

[ख]

पार्वती ने इसलिए बड़ी तपस्या की कि शङ्कर उनका पाणिग्रहण करें। शङ्कर ने उनकी परीक्षा करनी चाही। वे ब्रह्मचारी का रूप धारण करके पार्वती के पास आये। पूछने पर पार्वती की सखी ने तपस्या का कारण बतलाया। तब ब्रह्मचारिरूपी शिव ने अपनी बड़ी निन्दा की, अनेक दोष अपने में दिखलाये और पार्वती से कहा कि ऐसे अमङ्गल वेशवाले शिव के साथ विवाह का विचार छोड़ दो। इस पर पार्वती ने कहा :—

> विपत्प्रतीकारपरेण मङ्गलं निषेव्यते भूतिसमुत्सुकेन वा ।
> जगच्छरण्यस्य निराशिषः सतः किमेभिराशोपहतात्मवृत्तिभिः ॥

भावार्थः—सुनिए, जिनकी यह इच्छा हो कि उन पर विपत्ति न आवे, या जो बहुत कुछ ऐश्वर्य्य-प्राप्ति के अभिलाषी हों, वे मङ्गल-द्रव्यों की यथेष्ट सेवा करें। वे चाहे जितनी सुगन्धियाँ और मालायें आदि अपने शरीर पर धारण करें। उनकी बात जुदी है। परन्तु सारा संसार जिसे अपना शरण्य समझता है, और जिसे किसी भी वस्तु की कामना नहीं है, उस महात्मा को तृष्णा से दूषित अन्तःकरण वाले इन मङ्गल-द्रव्यों से क्या काम? इस पद्य के पहले चरण में तो कालिदास ने एक वचनात्मक 'मङ्गल' शब्द का प्रयोग किया; परन्तु चौथे चरण में उसी 'मङ्गल' के लिए विशेषणसहित 'एभिः'—यह बहुवचनात्मक सर्वनाम लिखकर क्रमभंग कर दिया। मल्लिनाथ ने इस श्लोक की टीका लिखते समय 'मङ्गल' शब्द को जातिवाचक बतलाकर कालिदास के वचन-सम्बन्धी इस दोष के परिहार की चेष्टा की है। इस समाधान से यथाकथञ्चित् सन्तोष हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। यदि कोई कहे :—

> मङ्गल से कुछ भी नहीं योगी जन को काम।
> इनकी क्या परवा उसे वह तो आत्माराम ॥

यहाँ पर यदि 'इनकी' का प्रयोग खटक सकता है तो कालिदास के पद्य में 'एभिः' का प्रयोग भी खटक सकता है।

[ग]

पार्वती की तपस्या से शङ्कर बड़े प्रसन्न हुए। उनके साथ उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। इस पर पार्वती ने कहा कि आप ऐसा प्रबन्ध कीजिए जिसमें पिता हिमवान् मेरा विधिवत् विवाह कर दें। शङ्कर ने इस बात को भी मान लिया। उन्होंने सप्तर्षियों को बुलाकर घटक का काम उनके सिपुर्द किया। वे हिमालय के पास गये और विवाह की बातचीत ठीक करके महादेव के पास लौट आये। इस सम्बन्ध में कालिदास कहते हैं :—

> ते हिमालयमामंत्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम् ।
> सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥

हिमालय से सब बातें ठीक करके वे लोग, अर्थात् सप्तर्षि, शङ्कर से फिर मिले और उनसे यह कह कर कि काम सिद्ध हो गया, उनके द्वारा बिदा किये जाने पर, वे आकाश को उड़ गये। यहाँ पर 'अस्मै' और 'तत्' ये सर्वनाम विचारणीय हैं। 'अस्मै निवेद्य' का अर्थ है—इससे निवेदन करके; और 'तद्विसृष्टाः' का अर्थ है—उसके द्वारा छोड़े या बिदा किये गये। तीसरे चरण में जिसके लिए सर्वनाम 'इस' का प्रयोग किया उसी के लिए चौथे चरण में अनुपदही 'उस' का प्रयोग किया गया। यह हिन्दी तो है नहीं कि जहाँ जी में आया 'इस' लिख मारा और जहाँ जी में आया 'उस'। संस्कृत-वेत्ता आलङ्कारिकों ने इसे दोष माना है। यदि किसी वाक्य में 'इस' लिखिए तो 'इस' ही लिखते जाइए; 'उस' लिखिए तो 'उस' ही का सर्वत्र

प्रयोग कीजिए। शास्त्रज्ञ मनमानी नहीं करने देते। वे इसे सर्वनाम-सम्बन्धी भग्नप्रक्रम दोष मानते हैं।

[घ]

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥

कुमारसम्भव, सर्ग ५, श्लोक ७१

भावार्थ:—पिनाकपाणि शङ्कर के समागम की इच्छा से दो चीज़ें शोचनीय अवस्था को पहुँची हैं। एक तो चन्द्रमा की कला, दूसरी तू, अर्थात् पार्वती। यहाँ पर जैसे 'कला' के आगे 'च' आया है वैसेही 'त्वं' के आगे भी आना चाहिए था; 'लोकस्य' के आगे नहीं। अतएव, आलङ्कारिकों के मत में यहाँ अक्रम दोष हुआ।

उपसंहार।

बस, अब यहीं पर; इस लेख को समाप्त करते हैं। यहाँ तक जो दोष दिखलाये गये हैं वे, दो एक को छोड़ कर, कालिदास के केवल रघुवंश और कुमारसम्भव के हैं। प्राचीन टीकाकारों और अलङ्कार शास्त्र पर ग्रन्थ लिखनेवालों ने दो चार के सिवा, और इन सब दोषों का उल्लेख किसी न किसी रूप में किया है अतएव यदि कोई, इन दोषों के निराकरण करने का प्रयत्न करे तो यह समझना चाहिए कि उसने इन सारे प्राचीन विद्वानों को परास्त करने की चेष्टा करने का साहस किया!

गरमी।

गरमी का प्राकृतिक ज्ञान कराने के पहले यह बतलाना ठीक होगा कि पदार्थों का संगठन कैसे हुआ है। जितनी चीज़ें इन्द्रियों के द्वारा जानी जाती हैं वे सब पदार्थ कहलाती हैं। पदार्थ तीन प्रकार के होते हैं:—

(१) कठिन (Solids)—जैसे धातु, लकड़ी, काँच आदि

(२) तरल (Liquids)—जैसे तेल, घी आदि

(३) वायवीय (Gases)—जैसे वायु

ये तीनों प्रकार के पदार्थ एक दूसरे के रूप में परिणत हो सकते हैं—अर्थात्—तरल पदार्थ कठिन या बाष्पमय हो सकता है; बाष्पमय पदार्थ कठिन या तरल हो सकता है; और कठिन पदार्थ तरल या बाष्पमय हो सकता है।

तीनों प्रकार के पदार्थ अत्यन्त सूक्ष्म असंख्य अणुओं से संगठित हुए हैं। अणु कितने ही भिड़े हुए क्यों न देख पड़ते हों, परन्तु वे एक दूसरे से अलग अलग ज़रूर रहते हैं—एक दूसरे से कुछ न कुछ अन्तर पर रहते हैं। इस अन्तर को आणविक अन्तर (Intermolecular Pores) कहते हैं। अणु और आणविक अन्तर इतने सूक्ष्म होते हैं कि हम उन्हें देख नहीं सकते। हाँ, कल्पना के द्वारा हम उस सूक्ष्मता का अनुभव कर सकते हैं।

प्राचीन वैज्ञानिक गरमी को अतिसूक्ष्म, भारहीन और अदृश्य पदार्थ मानते हैं। गरमी प्रत्येक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में जा सकती है। जिस पदार्थ से वह निकलती जाती है वह ठंडा और जिस पदार्थ में इकट्ठा होती जाती है वह गरम होता जाता है। इसका अनुभव हमें स्पर्शेन्द्रिय त्वक् से होता है। परन्तु वर्तमान समय के वैज्ञानिक गरमी का पदार्थत्व अङ्गीकार नहीं करते। उनके मत में पदार्थ की बदली हुई अवस्था का नाम गरमी है; और कुछ नहीं। पदार्थ के अणुओं के कम्पन (Molecular Vibration) से गरमी पैदा होती है। आणविक कम्पन जितना जल्द होगा—अणु जितने जल्दी जल्दी हिलेंगे—पदार्थ उतना ही ज़्यादा गरम मालूम होगा। अत्यन्त उष्ण पदार्थ का आणविक कम्पन बहुत जल्द होता है। आणविक कम्पन यदि बड़ेही बेहद वेग से होगा तो गरमी के साथही साथ प्रकाश भी पैदा हो जायगा। वर्तमान वैज्ञानिकों का मत है कि गरमी और प्रकाश की उत्पत्ति एकही कारण से है। पदार्थ के आणविक कम्पन की मात्रा

की कमी व वेशी के अनुसार पदार्थ गरम और प्रकाशित होता है।

पण्डितों का यह भी अनुमान है कि पदार्थ मात्र में और नभोमण्डल में ईथर (Ether) नाम का एक अत्यन्त सूक्ष्म, भारहीन और अपनी असलियत को क़ायम रखने वाला पदार्थ मौजूद है। यदि हम किसी शान्त सरोवर के जल में एक लोहे का टुकड़ा डाल दें तो उसमें तरङ्ग पर तरङ्ग उठती हुई किनारे तक पहुँच जायगी। इसी तरह पदार्थ के आणविक कम्पन का ईथर में आघात लगने से उसमें भी कम्पन (हरकत) होता है। इस कम्पन से दूसरे पदार्थ में कम्पन पैदा होता है और उससे गरमी पैदा होती है। आज कल के विज्ञानवेत्ताओं ने भी इस बात का अनुमोदन किया है। गरमी के संयोग से पदार्थ में परिवर्तन हो जाता है :—

(१) फैलनाः—गरमी के संयोग से पदार्थ मात्र का फैलाव (Expansion) होता है—अर्थात् उसके आकार में वृद्धि होती है। और, यदि, पदार्थ से गरमी निकल जाती है तो वह सिकुड़ जाता है। यह हम पहले लिख आये हैं कि प्रत्येक पदार्थ अणुओं का संगठन है। अणुओं में एक दूसरे को आकर्षण करने की शक्ति है। इसी शक्ति के प्रभाव से एक अणु दूसरे अणु को अपनी ओर खींचने की चेष्टा करता है। जो इस शक्ति में कमी पड़ जायगी तो जितनी कमी पड़ेगी उतना ही एक अणु दूसरे अणु से दूर हो जायगा—आणविक अन्तर में वृद्धि होती जायगी और पदार्थ फैलता जायगा।

इसी तरह आकर्षण-शक्ति में जितनी विशेषता—ज़्यादती-होगी पदार्थ का आकार छोटा होता जायगा—पदार्थ सिकुड़ता जायगा। अणुओं में जो आपस में आकर्षण करने की शक्ति है वह गरमी लगने से कम हो जाती है। इससे अणु दूर दूर हो जाते हैं और पदार्थ फैला हुआ मालूम होने लगता है। कठिन पदार्थ कम, तरल कुछ उससे ज़्यादा और वाष्पमय पदार्थ बहुत ज़्यादा फैलते हैं।

गरमी के संयोग से पदार्थों का फैलना जानने के लिए नीचे लिखी हुई रीतियों से परीक्षा करनी चाहिए :—

(१) कठिन पदार्थ के फैलने की परीक्षा।
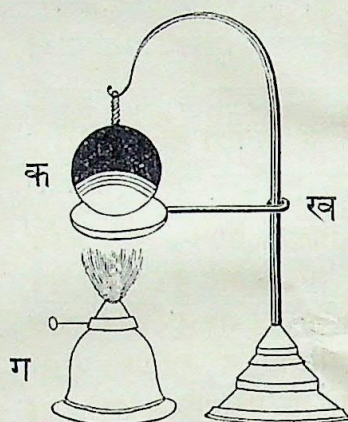
इस चित्र में (क) लोहे का रिंग (छल्ला) है। (ख) लोहे का डंडा है। उसके ऊपर की ओर ज़ंजीर में एक लोहे का गोला लटक रहा है। यह गोला छल्ले में से आसानी के साथ निकल सकता है। (ग) स्पिरिट का जलता हुआ लैम्प है। आप इस लैम्प से गोले को गरम करेंगे तो वह फैल जायगा और छल्ले में से उस वक्त तक नहीं निकलेगा जब तक कि वह शीतल होकर सिकुड़ न जाय। कठिन पदार्थ का फैलना इतना धीरे धीरे होता है कि वह आंख से दिखाई नहीं देता; परन्तु जांच से अनुभव किया जा सकता है।

(२) तरल पदार्थ के फैलने की परीक्षा।
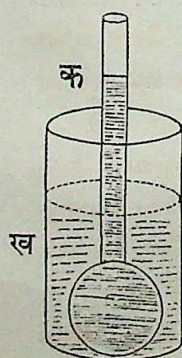
एक मुँह खुला हुआ काच का नल—जिसके नीचे गोला (Bulb) हो—जल से भरो। जल इतना भरना चाहिए कि गोला भर जाय और कुछ नल भी भर जाय जैसा कि चित्र में (क) तक भरा हुआ है। अब इस (क) वाले नल को (ख) पात्र में ख़ूब गरम जल भर कर रखने से जल (क) से ऊपर उठता जायगा।

इस तरह जल के ऊपर उठने का क्या सबब है? इसके सिवा कुछ नहीं कि गरमी से पानी फैलने

की कोशिश करता है और वहाँ फैलने की जगह न होने से ऊपर को उठता है। इस बात को भी हम मानते हैं कि वह नल भी फैलता है; परन्तु जल के फैलाव के मुक़ाबले में वह कुछ भी नहीं फैलता और इसीसे पानी ऊपर को उठता है।

(३) बाष्पमय पदार्थ के फैलने की परीक्षा।
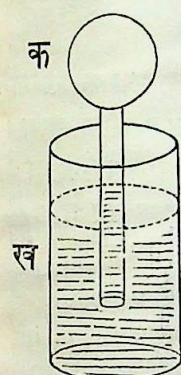
गोला (Bulb) वाले काच के जल से भरे हुए (क) नल को जल से भरे हुए (ख) पात्र में औंधा रख दीजिए। ऐसा करने पर नल जल से भरा हुआ और गोला ख़ाली वायु से भरा हुआ हो जायगा। अब आप गोले को अपने हाथ से दबाइए तो हाथ की मामूली गरमी से हवा फैलेगी और वह पानी को दबावेगी। आपको दीख पड़ेगा कि पानी नीचे बैठता जाता है।

तापमात्रा और तापपरिमाण।

कोई भी पदार्थ क्यों न हो, वह जिस मात्रा (Measure) में दूसरे पदार्थ में अनुभव करने योग्य गरमी पहुँचावेगा वही उस पदार्थ का (Temperature) टेम्प्रेचर (ताप की मात्रा) है। तापमात्रा (Temperature) और ताप-परिमाण (Quantity of Heat) में फ़रक है—ये दोनों एक ही बात नहीं। दो चीज़ों में तापमात्रा बराबर हो सकती है, परन्तु उनमें संचित हुई गरमी अलग अलग रहेगी। एक गरम जल के मटके में से एक ग्लास पानी अलग कर लें तो दोनों की ताप-मात्रा एक होने पर भी ताप-परिमाण में अन्तर रहेगा—अर्थात् ग्लास की अपेक्षा मटके में जल ज़्यादा होने से उसमें ताप-परिमाण बहुत ज़्यादा होगा।

तापमानयन्त्र (Thermometer)

110°
100°
50°
0°
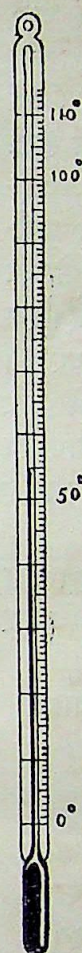
गरमी के न रहने से पदार्थ शीतल मालूम होता है। परन्तु पदार्थ कितनाही शीतल क्यों न जान पड़े, उसमें थोड़ी बहुत गरमी अवश्य रहती है। पदार्थ—मात्र में से गरमी का अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता। हम केवल स्पर्श ज्ञान से—अपनी त्वचा से—पदार्थ की गरमी या शीतलता का बारीकी के साथ अनुभव नहीं कर सकते। अत्यन्त गरम या अतिशीतल वस्तु के छूने से शरीर को पीड़ा होती है। इस वास्ते किसी भी पदार्थ की गरमी का निर्णय करने के लिए यन्त्र की आवश्यकता है। जिस यन्त्र से इसका निर्णय किया जाता है उसे थर्मामीटर—तापमान यन्त्र—कहते हैं। गरमी के लगने से पदार्थों के फैलने की बात ध्यान में रख कर यह यन्त्र बनाया जाता है। नाना भाँति की तापमात्राओं के जानने के लिए जो यन्त्र बनाये जाते हैं उनमें कठिन, तरल, और बाष्पमय तीनों प्रकार के पदार्थ काम में लाये जाते हैं। परन्तु आम तौर पर हम जिस यन्त्र का प्रयोग करते हैं वह पारे से बनता है। क्योंकि पारा एक ऐसा पदार्थ है जो ३५० दरजे से ज़्यादा गरमी पहुँचे बिना भाफ नहीं बनता और न बर्फ़ की मात्रा से ८० दरजे से कम तापांश रहने पर जमता है—अर्थात् वह ८० दरजे की तापमात्रा से शुरू कर ताप की ३५० दरजे की मात्रा तक बराबर तरल अवस्था में रहता है; और ज्यों ज्यों गरमी या सरदी उस पर अपना असर करती है वह फैलता या सिकुड़ता जाता है—(ऊपर की ओर उठता है या नीचे बैठ जाता है)। इसी से पारा इस काम के लिए इतना उपयोगी होता है। परन्तु अत्यन्त ठंडे पदार्थ की गरमी पारे के यन्त्र से भी नहीं जानी जाती। उसका निश्चय करने के लिए अल्कोहल (Alcohol)

का बनाया हुआ यन्त्र काम में लाया जाता है। जब अत्यन्त सर्दी पहुँचने से पारा जम जाता है तब हम उसका सिकुड़ना या फैलना नहीं देख पाते। वहाँ अलकोहल—सुरासार—का बना हुआ यन्त्र काम देता है। परन्तु यह यन्त्र भी एक हद तक काम देता है। जब अत्यन्त सामान्य भाव से गरमी कम या ज़्यादा होती है तब उसका ज्ञान हवाई थर्मामीटर (Air Thermometer) के सिवा ख़ूब अच्छी तरह और किसी थर्मामीटर से नहीं होता। गरमी के लगने से हवा फैलती है। इसको पहले तीसरी परीक्षा में दिखा चुके हैं। इस यन्त्र की बनावट भी ठीक उसी सिद्धान्त पर है। अत्यन्त गरम पदार्थ की गरमी का निश्चय भी पारे के यन्त्र से नहीं होता, क्योंकि उसकी भाफ हो जाती है। ऐसी जगह कठिन धातु का एक ख़ास तरह का बना हुआ यन्त्र काम में आता है।

गरमी पर विद्वानों ने बहुत कुछ लिखा है। उस पर, आशा है, हिन्दी के प्रेमियों के लिए कोई विद्वान् एक अच्छा लेख लिख कर प्रकाशित करेगा।

गिरिधर शर्मा।

उद्‌बोधनाष्टक।

(१)

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की, पँचरङ्गी कर दूर
एक रङ्ग तन, मन, वाणी में, भर ले तू भरपूर।
प्रेम पसार, न भूल भलाई, वैर विरोध विसार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(२)

देख, कुदृष्टि न पड़ने पावे पर-वनिता की ओर
विवश किसी को नहीं सुनाना कोई वचन कठोर।
अबला अबलों को न सताना पाय बड़ा अधिकार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(३)

आय न उलझें मतवालों के छल, पाखण्ड, प्रमाद,
नेक न जीवन काल बिताना कर कोरे बकवाद।
बाँटें मुक्ति ज्ञान बिन उनको जान अजान, लबार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(४)

हिंसक, मद्यप, आमिषभोजी, कपटी, वञ्चक, चोर
ज्वारी, पिशुन, लबार, कृतघ्नी, जार, हठी, कुलबोर।
असुर, आततायी, नृपद्रोही—इन सब को धिक्कार!
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(५)

जो सब छोड़ सदा फिरते हैं निर्भय देश विदेश
तर्कसिद्ध श्रेयस्कर जिनसे मिलते हैं उपदेश।
ऐसे अतिथि महापुरुषों का कर सादर सत्कार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(६)

माता, पिता, सुकवि, गुरु, राजा, कर सब का सम्मान
रुग्ण, अनाथ, पतित, दीनों को दे जल, भोजनदान।
सुभट, गदारि, शिल्पकारों को पूज सुयश विस्तार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(७)

लगन लगाय धर्मपत्नी से कुल की बेलि बढ़ाय
कर सुधार दुहिता-पुत्रों का वैदिक पाठ पढ़ाय।
सज्जन, साधु, सुहृद, मित्रों में बैठ विचार प्रचार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

(८)

पाल कुटुम्ब सदुद्यम द्वारा भोग सदा सुख-भोग
करना सिद्ध ज्ञान-गौरव से निःश्रेयसप्रद योग।
जप, तप, यज्ञ, दान देवेंगे जीवन के फल चार
भक्ति-भाव से भज शङ्कर को धर्म दया उर धार॥

नाथूराम शङ्कर शर्मा

प्रयाग-प्रान्त के प्राचीन ऐतिहासिक नगर।

(२)

भारहट।

यह जगह इलाहाबाद से यद्यपि दूर है परन्तु, एक समय था जब यह उन्हीं चक्रवर्ती राजाओं के राज्य के अन्तर्गत था जो प्रयाग और उसके आस पास के सारे प्रदेश पर शासन करते थे। उदयन

...की दो यक्षिणियाँ।
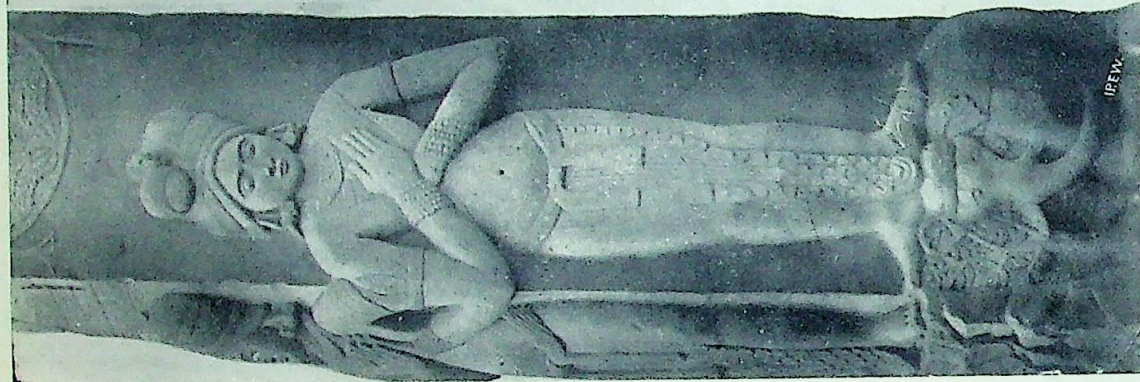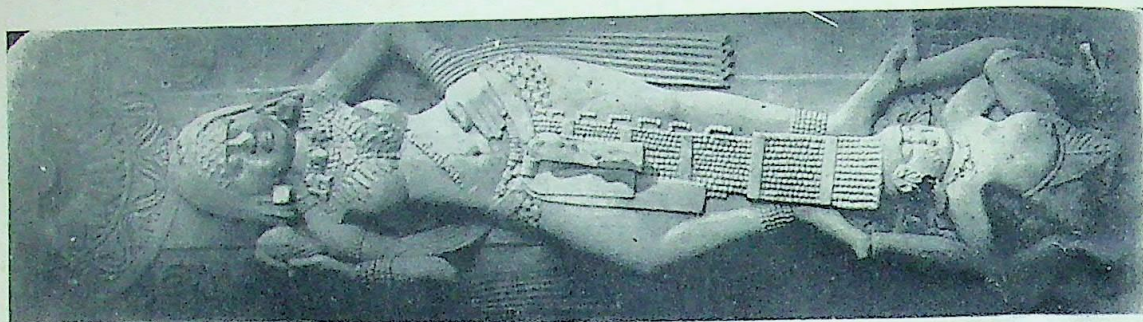
भारहुट-स्तूप की दो देव-मूर्तियाँ।

अशोक, समुद्रगुप्त, श्रीहर्ष और जयचन्द का अधिकार, जैसा कि प्रतिष्ठान और कौशाम्बी पर था, वैसाही भारहट पर भी था। भारहट-प्रान्त का राजा इन चक्रवर्ती नरेशों को कर देता था।

इलाहाबाद से जो रेल जबलपुर को गई है उस पर एक स्टेशन उँचहरा है। उससे भारहट ६ मील है और सतना से ९ मील। इलाहाबाद से वह कोई १२० मील है। भारहट नागोद राज्य में है। इसका पुराना नाम वरदावती है। किसी समय स्त्रुघ्न प्रान्त में यह बहुत बड़ा स्थान था। ह्वेनसांग के समय में स्त्रुघ्न राज्य का विस्तार एक हज़ार मील था। भारहट के आस पास अनेक शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्के मिले हैं। उनमें से कितनेहीं ३५० से ४०८ ईसवी तक के हैं। परन्तु कुछ इसके भी पहले के हैं। अतएव यह स्थान बहुत पुराना है।

जैसा पहले लेख में एक जगह, लिखा जा चुका है, अशोक के समय में एक सड़क उज्जेन से भिलसा, रूपनाथ, भारहट और कौशाम्बी को जाती थी। प्रयाग से उसकी एक शाखा श्रावस्ती को और दूसरी पाटलीपुत्र को गई थी। यह सड़क वैसीही प्रसिद्ध और अच्छी दशा में थी जैसी कि कलकत्ते से देहली जानेवाली आज कल की शाही सड़क है। इस पर कितनेहीं शहर, क़सबे और बाज़ार थे। उनमें से रूपनाथ, कौशाम्बी और भिलसा के निकटवर्ती साँची नामक स्थान की प्रसिद्धि और महत्ता का वृत्तान्त बहुत दिन से विद्वानों और प्राचीन इमारतों आदि के प्रेमी जनों को अवगत है। परन्तु यह प्रसिद्धि भारहट के भाग्य में न बदी थी। बहुत समय तक इधर उसे किसी ने नहीं जाना। उसके अस्तित्व का पता लगे अभी बहुत थोड़े दिन हुए।

भारहट के प्राचीन वैभव का ठीक ठीक अन्दाज़ा लगाना असंभव सा है। पहले वह चाहे जैसा रहा हो, पर इस समय के ८० वर्ष पूर्व उसके ध्वंसावशेष तक लुप्त थे। वे एक घने जंगल के बीच छिपे हुए थे। शेर, रीछ, भेड़िये और गीदड़ वहाँ के भग्नविहारों में आनन्द से विहार करते थे। जब यह जगह नागोद के राजा के अधिकार में आई तब भारहट के अस्तित्व का पता चला। जहाँ लोगों को मालूम हुआ कि जंगल में एक ऐसा पुराना मन्दिर या मकान है जिससे हज़ारों घर बनाने के लिए काफ़ी ईंट और पत्थर मिल सकते हैं तहाँ उन्होंने लूट शुरू कर दी। जहाँ तक उनसे ढोया गया उन्होंने ढोया और जितना सामान उठा ले जाने लायक़ था सब वे उठा ले गये। इस समय भारहट नाम का जो एक छोटा सा, दो तीन सौ घर का, गाँव है वह सारा का सारा प्राचीन भारहट के स्तूपों और विहारों की ईंटों से बना है। यही गाँव नहीं, पास पड़ोस के और भी कितनेहीं गाँवों में यहाँ की सामग्री यत्र तत्र देख पड़ती है। भारहट के स्तूप के कितनेहीं पटिये, जिन पर सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ और दृश्य खुदे हुए हैं, लोगों ने चबूतरों और दीवारों पर जड़ दिये, कुंवों पर स्नान करने के लिए रख दिये, यहाँ तक कि धोबियों ने कपड़े धोने के लिए उनसे लकड़ी के तख़्तों का काम लिया! कुछ समयोत्तर भारहट गाँव एक ब्राह्मण को जागीर में मिला। तबसे यह लूट बन्द हुई।

१८७३ ईसवी में जनरल कनिंहम नागोद राज्य से होकर निकले। वहाँ उन्हें प्राचीन भारहट के खँडहरों का पता मिला। वे वहाँ गये। देख कर उन्हें दुःख और आश्चर्य्य दोनों हुए। ऐसे विशाल स्थान की यह दुर्दशा! परीक्षा करने पर उन्हें विदित हुआ कि वहाँ पर बहुत पुराना एक प्रकाण्ड स्तूप था और विहार भी कई एक थे। दो तीन बार में उन्होंने स्तूप की पार्श्ववर्ती ज़मीन खुदाई। खोदने से कितनी हीं मूर्तियाँ, कितनेहीं उत्कीर्ण शिलाखण्ड, कितनेहीं खंभे और कितनेहीं टूटे फूटे तोरण आदि उन्हें मिले। सैकड़ों शिलालेख भी पाली में खुदे हुए प्राप्त हुए। हथियारों, औज़ारों, पशुओं, पक्षियों, वृक्ष-फल-फूल-पत्तियों, गहनों, बर्तनों आदि के सैकड़ों प्रतिरूप उत्कीर्ण किये गये मिले। गौतम बुद्ध के चरितसम्बन्धी अनेक दृश्य खुदे हुए पाये गये।

अधिक कौन कहे, बौद्ध-धर्म्म से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का मूर्तिमय दृश्य आँखों के सामने आ गया। खोदने से मालूम हुआ कि यहाँ के स्तूप का व्यास ६८ फुट और प्रदक्षिणा का मार्ग २१३ फीट था। उसमें चार प्रवेश-द्वार थे और सब मिला कर ८० खंभे थे। बौद्ध-जातकों में जो कथायें हैं वे सब चित्र किंवा मूर्तिरूप में इन खंभों और तोरणों पर उत्कीर्ण थीं। खोदने से कितनेही यक्ष, यक्षिणियाँ, देवता, नाग-राज और मायादेवी आदि की बड़ीही सुन्दर सुन्दर मूर्तियाँ अक्षत मिलीं। कनिंहम साहब ने इन सब वस्तुओं को कलकत्ते भेज दिया। वहाँ वे अजायबघर की शोभा बढ़ा रही हैं। साहब डरे कि यदि ये यहाँ पड़ी रहीं तो कुछही दिनों में ये भी धोबियों के पटे बन जायँगी या तोड़ फोड़ कर देहातियों के मकानों में लग जायँगी।

प्राचीन शिलालेखों और सिक्कों से जनरल कनिंहम ने यह सिद्ध किया है कि भारहट का स्तूप कम से कम २१५० वर्ष का पुराना है। शुरू शुरू में स्रुघ्न देश की राजधानी भारहटही के पास सुघ नाम के नगर में थी। यमुना किनारे यह अब एक छोटा सा गाँव है। पर यहाँ पर कितनेही पुराने सिक्के मिले हैं। इससे इसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। स्रुघ्न के राजा धनभूति का एक लेख भारहट के स्तूप के एक तोरण पर खुदा हुआ है। यह राजा ईसा के २४० वर्ष पूर्व हुआ है। अतएव भारहट का स्तूप इक्कीस बाईस सौ वर्ष से कम पुराना नहीं। धनभूति के उत्कीर्ण लेख के सिवा भारहट के स्तूप के भग्नावशिष्ट पत्थरों पर सैकड़ों बौद्ध-यात्रियों के भी लेख पाली में हैं। स्तूप का जो अंश जिसने बनवाया है उसका उल्लेख उसने किया है। यों भी लोगों ने कुछ लेख अपने वहाँ आने की यादगार में खोद दिये हैं।

भारहट में एक स्तूपही नहीं, कई विहार भी थे। नगर बहुत बड़ा था। ऊँचे ऊँचे मकान थे। ख़ूब व्यापार होता था। अनेक अमीर आदमी यहाँ रहते थे। इसके आस पास के ऊँचे ऊँचे टीलों को देखने से इसके प्राचीन वैभव का थोड़ा बहुत अनुमान हुए बिना नहीं रहता। जनरल कनिंहम ने यहाँ के स्तूप आदि के आविर्भाव को इतने महत्त्व का समझा कि आपको इस विषय की एक बहुत बड़ी सचित्र पुस्तक अँगरेज़ी में लिखनी पड़ी। उसी से हमें भारहट-सम्बन्धिनी बातें मालूम हुई हैं।

नरभक्षक मनुष्य।

जब से मानव-सृष्टि इस पृथ्वी पर हुई है तब से नाना प्रकार के परिवर्तन मनुष्य-जाति में हो चुके हैं। हमारे रहन-सहन में, खान-पान में, आपस के व्यवहार में, और, और बहुत सी बातों में ऐसी तबदीलियाँ हो गई हैं कि उनका असली रूप साधारणतः ध्यान में नहीं आता। भला आज कल के चमकते दमकते मकानों को देख कर सहसा कौन कह देगा कि किसी समय मनुष्य पहाड़ों की गुफाओं और वृक्षों की डालियों पर रात काटते थे। मैनचेस्टर और लंकाशायर के बारीक और मुलायम कपड़ों से सुशोभित नाज़ुक बदन जेंटिलमैनों को देखकर किसके हृदय में वल्कल-वस्त्रधारी मनुष्यों की स्मृति आकर उपस्थित हो सकेगी। छप्पन प्रकार के व्यंजनों को, होटल और पाकशालाओं में, मेज़ और दरियों पर, बढ़िया गुल-दस्तों के बीच में रक्खे हुए देख और उनका आस्वा-दन कर कौन कच्चे फल और मांसादि पर जीवन निर्वाह करने का प्राचीनतम चित्र खींच अपने मन को ख़राब करेगा। हज़ारों बरसों से "अहिंसा परमो-धर्मः" की शिक्षा पा कर आज हम भारतवासी भला कैसे अनुमान कर सकते हैं कि भारतेतर देशों में मनुष्य ने पशु-पक्षियों को तो क्या अपने सजातीय मनुष्यों को भी खाने से नहीं छोड़ा। मनुष्य का मनुष्य को साग-पात की तरह खा जाना कैसा भीषण प्रतीत होता है। लेकिन यह कोई कल्पित

गाथा नहीं है । मनुष्य ने मनुष्य को खाया है । प्राचीन समय में ते इसका ख़ासा रिवाज था। परन्तु आजकल भी यह पाशविक प्रथा कहीं कहीं सुनने में आती है । हमारे इस लेख का विषय इसी की उत्पत्ति और ह्रास का वर्णन करना है ।

मनुष्य स्वभाव से तो फलाहारी है । पर वह मांस भी उसी तरह खा सकता है जैसे कि अन्न। जंगली जातियाँ, जो कच्चा मांस खाती हैं, मनुष्य-मांस को और पशुओं के मांस की तरह खा सकती हैं। मनुष्य-मांस-भक्षण की प्रथा बहुत पुरानी है। जंगली जातियों में इसका .खूब रिवाज रहा है। मध्य अफ़्रीका के हब्शियों में यह प्रथा अब भी प्रचलित है। इस विषय का पूर्णतया विचार करने के लिए हमें इसे दो अंगों में विभक्त करना पड़ेगा। एक यह कि यह प्रथा कैसे प्रचलित हुई। दूसरे यह कि यह कैसे लोप होती जाती है। हमारा आज का विषय इसके प्रचलित होने के कारणों और उनकी भीषणता का वर्णन करना है । इसलिए हम पहले इसके बन्द करनेवाले कारणों को संक्षिप्त रीति से कहे देते हैं।

जैसे जैसे किसी जाति में सभ्यता फैलती जाती है वैसे ही वैसे उसकी प्रत्येक बात में अन्तर पड़ता जाता है। यहाँ तक कि उसकी कायाही पलट जाती है। उसके विचार उच्च हो जाते हैं। धार्मिक कुरीतियाँ सुधर जाती हैं। स्वार्थ का ज़ोर कम हो जाता है। मनुष्यों में दूसरों के हानि-लाभ का ख़याल पैदा हो जाता है। अपने पराये का ज्ञान होने लगता है और भाव पवित्र होने लगते हैं। पाशविक वृत्तियाँ छूटने लगती हैं। विचार-शक्ति से काम लिया जाने लगता है। सुधार की अभिलाषा उत्पन्न हो उठती है। इसके जाग्रत होते ही घृणित और कुत्सित व्यवहारों के छोड़ने की इच्छा आप से आप उत्पन्न हो जाती है। उच्च भावों के उदय होतेही धर्म का भी उत्कर्ष होता है । धार्मिक विषयों में भी बुद्धि काम देने लगती है । और वही धर्म जो अन्य देशों में पहले इस मनुष्य-मांस-भक्षण की प्रथा का कारण था, इस रीति को उठा भी देता है । दूसरी बात जो इसको निर्मूल करने में मदद देती है वह माता-पिता और पितरों पर स्नेह है। इस स्नेह के कारण मनुष्य उनकी प्रतिष्ठा करने लगता है। यह भाव उनके जीते जी तक ही नहीं, किन्तु उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनके मृतक शरीर में वैसाही बना रहता है। इस कारण मरने के बाद उनके शरीर का अंग-भंग करना मनुष्य को पसन्द नहीं आता। तीसरी बात जो इसके उठाने में मदद देती है—"मरा सो पीछे पड़ा"—की कहावत है। मृत स्नेही के सूक्ष्म चिह्नों की अपेक्षा स्थूल चिह्न अधिक कष्टकर होते हैं । इसलिए मृतक की लाश को जल्दी आँख ओट कर देनाही अच्छा मालूम होता है। इससे लोग खाने पीने का ख़याल कुछ भूल सा जाते हैं। चौथी बात आत्मा को अमर मान कर भूतों पर विश्वास करना है। जंगली असभ्य जातियाँ विशेष कर भूतों पर विश्वास करती हैं । और इस ख़याल से कि मनुष्य के मर जाने पर भी उसकी आत्मा उसका बदला ले सकती है उनमें एक प्रकार का भय पैदा हो जाता है। इस तरह लाश खाने से बच जाती है।

यही मोटे मोटे कारण हैं जो अनुसन्धान-विद्या-विशारदों के मत में इसको बन्द करने में मुख्य या गौण रूप से सहायता देते हैं। अब इसके प्रचलित करने वाले कारणों को सुनिए।

अकाल ।

जब कभी खाने पीने के सामान की इतनी कमी पड़ जाती है कि क्षुधा-निवारणार्थ कुछ भी नहीं मिलता तब मनुष्य विवश होकर एक दूसरे को खाने लग जाते हैं । यह बात सामुद्रिक यात्राओं और क़िलों के घिर जाने पर बहुधा देखने में आई है। खाना चुक जाने पर, अन्य देशों में, बहुधा ऐसा हुआ है कि बेड़े के आदमियों ने एक दूसरे को खाया है। जिस समय जहाज़ बादबानों के ज़रिये चलाये जाते थे उस समय उनका ठीक रास्ते पर चलना

बहुत कुछ हवा के बहाव पर अवलम्बित था। तूफ़ानों में वे प्रायः नष्ट-भ्रष्ट हो जाते थे; अथवा कहीं के कहीं बह जाते थे। रास्ता बहुत दिनों का हो जाता था। खाने पीने का सामान भी ऐसे लंबे मार्ग के लिए नहीं अटता था। और, जब स्वल्पाहार करते करते भी कुछ नहीं बचता था, और न किसी प्रकार से और कुछ मिलही सकता था; तब बहुधा मनुष्य व्याकुल होकर एक दूसरे को खाने लग जाते थे। ऐसी अवस्था में बड़ो बड़ो सभ्य जातियां भी अपनी सभ्यता भूल जाती हैं। भूख के मारे लोग मतवाले हो जाते हैं और उसी जहाज़ी बेड़े के साथियों में से एक दूसरे को खाना शुरू कर देते हैं। इस क़िस्म के बहुत से क़िस्से सामुद्रिक यात्राओं के वर्णन की किताबों में लिखे हैं। ऐसी एक मिसाल सोलहवीं सदी में इँगलैंड के राजा हेनरी अष्टम के समय में हुई थी। इस समय लोग ऐटलाँटिक महासागर से, उत्तरी अमेरिका के उत्तरी किनारे से होते हुए, बेरिंग स्टेट से निकल कर पैसेफ़िक महासागर में आना चाहते थे। इस रास्ते को उत्तर-पश्चिम वाला रास्ता कहते थे। उसी रास्ते की तलाश में दो जहाज़, मास्टर होर नामी एक अँगरेज़ की निगरानी में, गये थे। जब वे न्यू फ़ौंडलैंड पहुँचे तब उनकी रसद चुक गई। थोड़े दिन तक कंद-मूलादि खाकर गुज़ारा किया गया। परन्तु आख़िरकार एक दूसरे को खाने ही लगे। मास्टर होर ने बहुत समझाया, नरक की प्रचण्ड ज्वाला का भय भी दिखलाया, मगर कुछ कारगर न हुआ। मार-काट शुरू हो गई। मौक़ा पा कर एक दूसरे को चट कर जाने लगा। दैवात् एक फ़रासीसी जहाज़ वहाँ जा पहुँचा। इन मरभुखे अँगरेज़ों ने उसे जा पकड़ा और फ़रासीसियों को उनके भाग्य के सहारे छोड़ आप इँगलैंड वापस गये। क़िलों के घेर में पड़ कर भी लोगों ने ऐसा ही किया है। टेरा डिल फ्यूगो (Tera del Fugo) के रहने वाले भी, जब जाड़े के दिनों में और कुछ नहीं मिलता तब, अपने यहाँ की बुड्ढी औरतों को खाने लगते हैं। उन लोगों से पूछने पर कि, वे अपने कुत्तों को पहले क्यों नहीं खाते, यह जवाब मिलता है कि कुत्ते खाने की चीज़ें उनके लिए ले आते हैं। इसलिए वे काम की चीज़ हैं। अतएव वे नहीं खाये जाते।

वैरनिर्यातन।

जब कभी मनुष्यों में आपस में वैर-भाव हो जाता है तब अवसर पा कर एक दूसरे का अनिष्ट करने में वे कोई कसर उठा नहीं रखते। कभी कभी तो शत्रु का मूलोच्छेदन करने के लिए मनुष्य बड़े बड़े कुत्सित काम कर बैठता है। इससे प्रतिघातक के हृदय में भी बदला लेने की प्रबल ज्वाला धधक उठती है। वह भी उसके ख़ून का प्यासा हो जाता है। कभी कभी मन का आवेग इतना बढ़ जाता है कि मौक़ा पड़ने पर एक ने दूसरे का रक्तपान करके ही अपनी संतप्त आत्मा को शीतल किया है। उत्तरी अमेरिका के रहनेवालों और पालीनीशियन लोगों में ऐसे रक्त-पान का ख़ूब रिवाज था। पर, द्वितीय पाण्डव की प्रतिज्ञा:—"दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः"—हमारे देश में इस रिवाज की सूचक नहीं।

मिथ्या-स्नेह।

मृतकों का उनके सम्बन्धियों और मित्रों द्वारा खाया जाना महा असभ्य और जंगली जातियों में ही पाया गया है। यह प्रथा बहुत दिन तक प्रचलित नहीं रही। इस तरह की सबसे मशहूर मिसाल ग्रन्थकार हेरोडोटस द्वारा मध्य एशिया के इसीडोनीज़ नामक मनुष्यों के मृतक-संस्कार की दावतों का वर्णन है। वहाँ पर मृतक के सम्बन्धी उसके मांस को दूसरे पदार्थों के साथ खाते देखे गये। खोपड़ी सोने में जड़ कर रख छोड़ी जाती थी। यह रस्म इन लोगों में बड़ी पवित्र मानी जाती थी और मृतक की इससे विशेष प्रतिष्ठा समझी जाती थी। तिब्बत में भी १३ वीं सदी तक लोग अपने मरे हुए सम्बन्धियों का मांस खा जाते थे और उनकी खोपड़ियों के प्याले
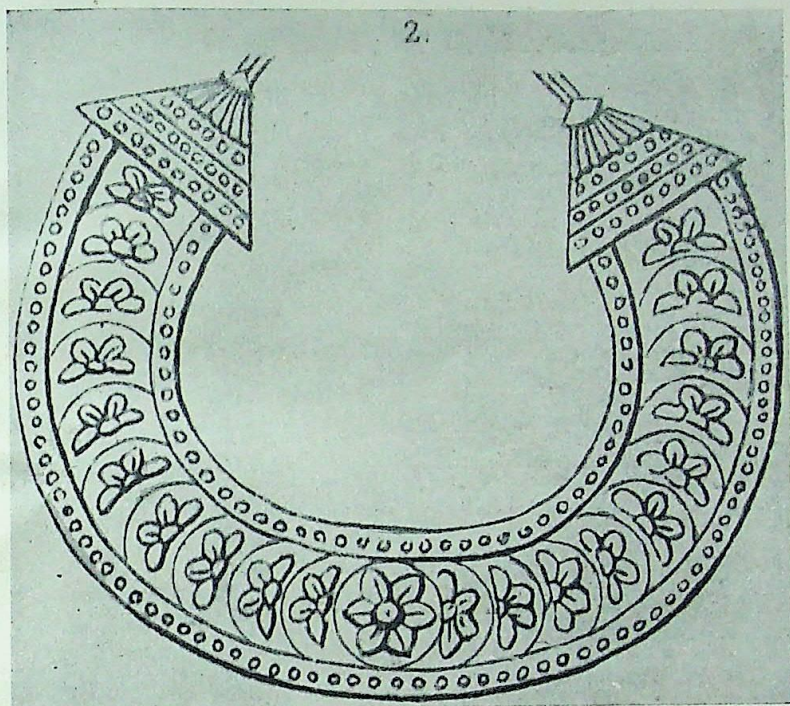
भारहट-स्तूप में खुदा हुआ एक प्राचीन हार।
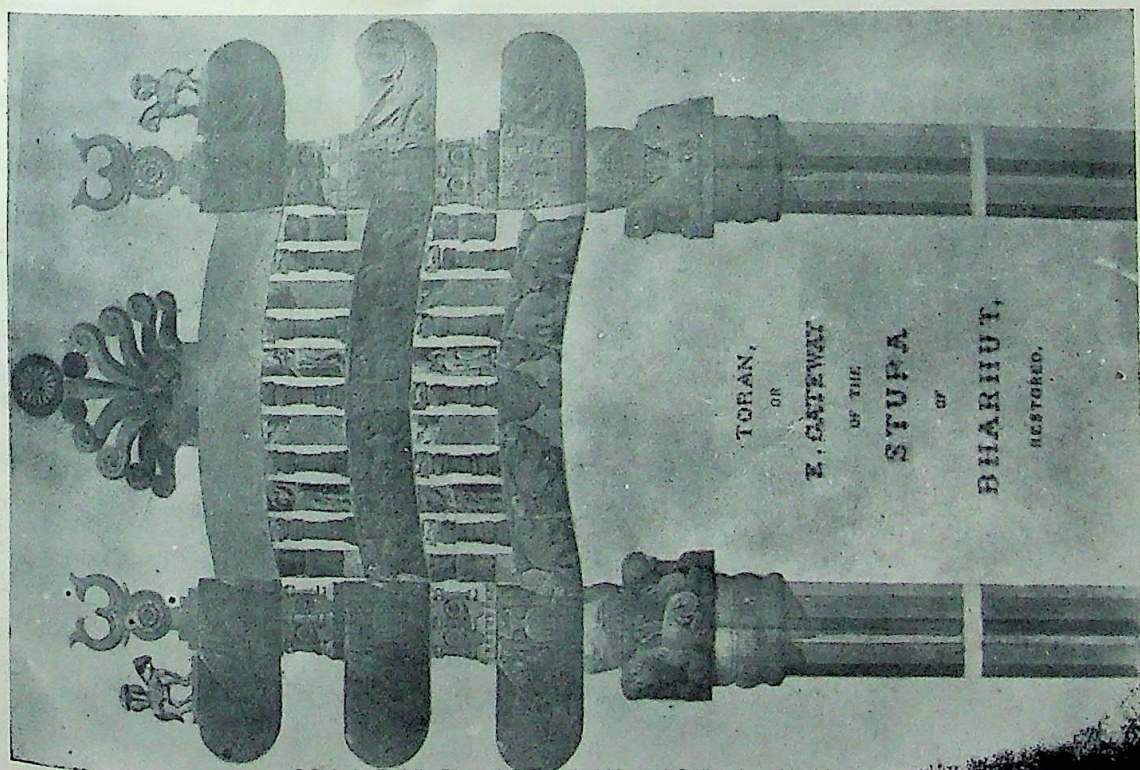
भारहट-स्तूप का एक तोरण।

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

पानी पीने के लिए बनाते थे। आस्ट्रेलिया में भी यह प्रथा रही है।

जादू ।

जंगली जातियों में यह दृढ़ विश्वास होता है कि किसी जानवर के खाने से उसके से गुण खानेवाले में भी आ जाते हैं। यह समझ भी मनुष्य-मांस-भक्षण की जड़ डालनेवाली है। लड़ाइयों में विशेष कर इसके अनुसार काम किया जाता था। विजयी अपने पराजित शत्रु का मांस अपने को बहादुर बनाने की ग़रज़ से खाते थे। आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और उत्तरी अमेरिका के मूल निवासियों में यह रिवाज रहा है। अशांटी और चीन में भी यह रीति कभी कभी देखी गई है। वहाँ बहुधा लोग पराजित शत्रु का भी मांस खाते थे। वीर शत्रु को तो कभी छोड़तेही न थे। हृदय को तो साहस का केन्द्र समझ कर अवश्य ही खा डालते थे।

यह कल्पित सिद्धान्त कि, किसी आदमी का मांस खाने से उसकी सी ख़ासियतें उसके भक्षक में आ जाती हैं, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के लोग अच्छी तरह जानते थे। परन्तु इसकी झलक अधिक सभ्य एशियाटिक योरोपियन जातियों की परम्परागत कहावतों में विशेषतया पाई जाती है।

मज़हब ।

मज़हबी ख़यालातों ने इस विषय में एक अजब खेल खेला है। प्रारम्भिक अवस्था में इन्हीं के कारण मनुष्य की गरदनें कल्पित रक्त-प्रिय देवी-देवताओं के सामने खटाखट काटी गईं। परन्तु इन्हीं ख़यालातों ने मनुष्य के मन को इस घृणित रीति से फेर भी दिया। जंगली जातियों में नरबलि का रिवाज बड़े ज़ोरोशोर से रहा है। किसी न किसी रूप में वह प्रत्येक जंगली जाति में रहा है। फीजी टापू और मेक्सिको के असली बाशिन्दे आदमी के हृदय को सूर्य्य भगवान् और दूसरे देवी-देवताओं की भेट करते थे। एजेटिक नामक असभ्य जाति ने भी अपने युद्ध-देव हुइ ज़ीलोपोकली को ख़ूबही मानव-रक्त पान कराया है। अफ़्रीक़ा में मम्बो जम्बो महाराज ने भी अनगिनत युद्ध के क़ैदियों के ख़ून से स्नान किया है। रोम ऐसी सभ्य जाति ने भी ज्युपिटर के सामने अपने क़ैदियों को ख़ूब ही काटा है। हमारे यहाँ भी राक्षसों का नर-भक्षण करना लिखा है। गोसाईं तुलसीदासजी ने रामायण में लिखा है—"नर अहार रजनीचर करहीं"।

स्वभाव ।

कहीं कहीं लोगों में उनकी आदत ही इसका कारण हुई है। लोग बहुत पुराने समय से नर-मांस खाते थे। खाते खाते आदत पड़ गई। मेक्सिको, सुमात्रा और पश्चिमी अफ़्रीक़ा के लोगों ने बहुत दिनों तक आदमी का मांस खाया है। वहाँ आदमियों का मांस बाज़ारों में बिकता था। मध्य अफ़्रीक़ा में कहीं कहीं इसका रिवाज अब भी सुना जाता है। यहाँ खाने को मनुष्य प्राप्त करने के लिए लड़ाइयाँ होती थीं। जो आदमी लड़ाई में मारे जाते थे उनका मांस दूसरी जगहों को भेजने के लिए सुखाया जाता था। क़ैदी लोग जानवरों की भाँति हाँक लाये जाते थे और बेंचे जाते थे। जहाँ कहीं यह प्रथा सिर्फ़ खाने के लिए प्रचलित होती है वहाँ की आबादी कम हो जाती है। यहाँ तक कि कमज़ोर फिरक़े नेस्तोनाबूद हो जाते हैं।

मानव-जाति के आदिम इतिहास का विचार करनेवाले विद्वानों का प्रश्न है—क्या किसी समय में पृथ्वी के सभी मनुष्य नर-मांसाहारी थे? इस विषय में अनैतिहासिक काल के आदमियों की हड्डियों को देख कर बहुत बहस हुई है। बहुधा वे समूची मिली हैं। इससे यह अनुमान किया गया कि यदि अनैतिहासिक काल के आदमी नर-मांसाहारी होते तो अवश्य ही पुरानी हड्डियाँ टूटी हुई मिलतीं। क्योंकि और जानवरों की हड्डियाँ, जिनका कि मांस खाया जाता था, टूटी हुई मिलती हैं। अगर गुफाओं के रहनेवाले लोग आदमी को खाते होते तो वे आदमी की हड्डियों को और जानवरों और मछलियों की हड्डियों के साथ

कूड़े में ज़रूर फेंकते। पर, कुछ पुरानी हड्डियाँ ऐसी भी निकली हैं जिनसे, भारतेतर देशों में, मनुष्य-मांस-भक्षण की प्रथा का प्रचलित होना सिद्ध होता है।

सभ्यता बढ़ने पर इस घृणित प्रथा का ह्रास हो चला। ग्रैर अन्त में इसका मूलोच्छेद ही हो गया। अब तो इसकी याद भी आते रोमाञ्च हो आता है। यह बात स्वप्नवत् मालूम होती है। ईश्वर करे कि जहाँ यह पाशविक प्रथा प्रचलित सुनने में आती है वहाँ भी इसका नाश हो जाय। मानव-चरित्र की इस कालिमा का धुल जानाही अच्छा है।

व्रजविहारी शुक्ल।

माता का पुत्र को उपदेश।

(१)

पुत्र! साथ तेरे रहती हूँ;
तेरे हित में चित धरती हूँ।
इस कारण जो कुछ कहती हूँ;
सुन कर उसे हृदय में धरना॥

(२)

रात नहीं है अब उठ बैठो;
आलस से निज देह न ऐंठो।
सत्य-सुधार-सिन्धु में पैठो;
पुत्र-चित्त में ज़रा न डरना॥

(३)

रहे नहीं अब पिता तुम्हारे;
चेत करो नैनों के तारे।
दोगे जो तुम भी न सहारे;
बेटा! मेरा कठिन उबरना॥

(४)

संकट में भी कभी न रोना;
धर्म-कर्म से विमुख न होना।
जग जाने पर कभी न सोना;
पुत्र! प्रथम हरिनाम सुमिरना॥

(५)

पर से अपना दुःख न कहना;
गुरुजन की बातें तुम सहना।
सच्चरित्र बन कर नित रहना।
इधर उधर सुत! वृथा न फिरना॥

(६)

साहस, शक्ति, धीरता, उद्यम—
सीखो ये गुण, करो पराक्रम।
ईश सहायक होगा हर दम;
आलस-नद में भूल न गिरना॥

(७)

शिवि, दधीचि, कर्णादि कहानी,
सुन कर सीखो नीति पुरानी।
बनना कभी न सुत! अभिमानी;
परहित से तुम कभी न मुड़ना॥

(८)

जब तक तुम पयपान करोगे,
नित नीरोग-शरीर रहोगे।
फूलोगे नित नये फलोगे;
पुत्र! कभी मदपान न करना॥

(९)

भीख माँगना इक दम छोड़ो;
दासवृत्ति से भी मुख मोड़ो।
सबके साथ अपनपो जोड़ो;
पढ़ो पुत्र! शुभ उद्यम करना॥

(१०)

जो कुछ कह दो हाथ उठाकर,
उससे कभी हटो मत तिल भर।
सभ्य ग्रैर शिक्षित कहला कर,
उचित सदा प्रण-पालन करना॥

(११)

पर दुख को अपना दुख मानो;
देश मात्र को अपना जानो।
पुत्र! वृथाही हठ मत ठानो;
सीखो तुम पर-दुख को हरना॥

(१२)

निज पूर्वज लोगों ने कैसे
काम किये, रहते थे कैसे।

उचित तुम्हारा रहना वैसे ;
अनुचित बेटा ! उससे डरना ॥
(१३)
स्वारथ को जो धर्म समझते ;
पर को दुख देकर हैं हँसते ।
ईश्वर से भी तनिक न डरते ;
समझो उन्हें शीघ्र है मरना ॥
(१४)
जो धोखा देनेवाला हो ;
मुँह मीठा दिल का काला हो ।
सागर हो या नद-नाला हो ;
उसके साथ कभी मत तरना ॥
(१५)
कपटी, कुटिल, कुमति, कुलघालक
हैं, पर बनते हैं जगपालक ।
जो ऐसे हों, हे प्रिय बालक !
उनकी हाँ में हाँ मत करना ॥
(१६)
जहाँ न्याय का नाम नहीं है ;
पक्षपात की धार बही है ।
मेरा यह उपदेश सही है ;
पुत्र वहाँ तू नहीं ठहरना ॥

रामचरित उपाध्याय ।

प्राचीन भारत की एक झलक ।

भारत ! क्या तुम वही पुराने भारत हो ? क्या तुम वही हो जहाँ रघु, दिलीप और राम का राज्य था ? समय ने तुम्हारी स्मृति भी प्रायः नष्टप्राय कर दी। समय की महिमा सर्वथा अज्ञेय और अतर्क्य है। उसी ने तुम्हें कुछ का कुछ कर दिया। अब तो तुम पहचाने तक नहीं जाते !

भारत ! क्या कभी तुम्हें अपनी पूर्व-स्मृति भी होती है ? तुम्हें भला कभी वे दिन भी याद आते हैं जब न रेल थी, न तार; न हाई कोर्ट था, न बोर्ड आव् रेविन्यू का दफ़र; न करेंसी नोट थे, न प्रामीसरी नोट। वह वह समय था जब न कहीं नुमायशें थीं, न कांग्रेस थी, न मुसलिम लीग थी, न हिन्दू-सभा थी। यह सब न था, पर था कुछ ज़रूर। वह जो कुछ था, भूलने की चीज़ नहीं। उसकी याद सुखकारक भी है, दुःखकारक भी। तुम्हारी उस पूर्व दशा का दृश्य देखने को अब हम लालायित हो रहे हैं, पर नहीं देख पड़ता। कृतज्ञ हैं हम गवर्नमेंट के जिसकी बदौलत प्रयाग की प्रदर्शिनी में तुम्हारे कुछ प्राचीन-लीला-दृश्य देखने को मिल गये। पर उतने से सन्तोष कहाँ ? उससे तो उन दृश्यों के दर्शन की लिप्सा और भी बढ़ गई है। क्या कभी उसकी पूर्ति भी होगी ?

बात आज कल की नहीं; सौ दो सौ वर्ष की भी नहीं। उसे हुए हज़ारों वर्ष बीत गये। उस समय राजा रघु का राज्य था। ससागरा पृथ्वी के वे पति थे। साकेत-नगरी (प्राचीन अयोध्या) उनकी राजधानी थी। सत्पात्रों को दे डालनेहीं के लिए वे धनोपार्जन करते थे; प्रजा के काम में लगा देनेहीं के लिए ये कर लेते थे; निर्बलों को प्रबलों के उत्पीड़न से बचानेहीं के लिए वे धनुर्बाण धारण करते थे। विद्वानों का वे अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे; उन्हें वे देवता समझते थे; उनके पैर तक अपने हाथों से धोते थे। यह मजाल न थी कि अरण्य-वासी विद्वानों के लगाये हुए एक छोटे से पौधे की एक टहनी भी कोई तोड़ ले—उनके खेतों से सावाँ की एक बाल भी कोई चुरा ले जाय।

बड़े बड़े ब्रह्मज्ञानी विद्वान् बड़ी बड़ी बस्तियों में, उस समय, न रहते थे। बस्ती से कुछ दूर, जंगल में, वे अपनी पर्णशालायें बनाते थे। सावाँ, कोदों और कँगनी की वे खेती करते थे। गायें भी वे पालते थे। उनके पास सैकड़ों नहीं, हज़ारों विद्यार्थी रहते थे। वे उन्हें विद्या का भी दान देते थे और भोजन-वस्त्र

का भी। अन्याय, उत्पीड़न और चोर कर्म्म का कहीं नाम न था। यज्ञ के पावन धूम से आस पास का प्रदेश सुवासित हुआ करता था। वेद-घोष से दिशायें गुञ्जायमान रहती थीं। आचार्यों की आज्ञायें पालन करने में चक्रवर्ती राजा तक अपनी कृतार्थता मानते थे। ऐसे समय के भारत की एक झलक देखिए।

राजा रघु ने अपनी सारी सम्पत्ति विश्वजित् नामक यज्ञ में दे डाली है। पास कुछ भी नहीं रक्खा। पानी पीने के लिए पीतल का लोटा भी नहीं रह गया। रह क्या गया है मिट्टी ही का सकोरा, मिट्टी ही की हाँड़ी, मिट्टी ही की थाली! इस प्रकार सर्वस्व दान देकर आप रिक्तहस्त हो गये हैं।

इसी समय, वरतन्तु नाम के एक बड़े तपस्वी और बड़े विद्वान् महात्मा राजा रघु के राज्य में तपश्चर्य्या और अध्यापन का काम करते हैं। आश्रम उनका जंगल में है। खेत-पात भी उनके वहीं हैं। अनेक ब्रह्मचारी आपके आश्रम में रहते और अध्ययन करते हैं। वरतन्तु ऋषि की विद्वत्ता का यह हाल है कि वे चैादहों विद्याओं के निधान हैं। तप उनका इतना बढ़ा चढ़ा है कि उनके डर से इन्द्र का आसन डिग रहा है। कहीं इतना घोर तप करके ये मेरा इन्द्रत्व तो नहीं छीन लेना चाहते! इस डर से सुरेन्द्रशर्म्मा को अप्सराओं की शरण लेनी पड़ी। पर, वरतन्तुजी के सामने उनकी एक भी न चली। वे अपना सा मुँह लेकर लैाट गईं। इन्द्र का वह भय सर्वथा निर्मूल था। इन्द्रासन पाने की इच्छा अल्पपुण्यात्माओं हीं को हुआ करती है। वरतन्तु जी ऐसे नहीं।

वरतन्तु के आश्रम में कैात्स नाम का एक विद्यार्थी है। जब उसका अध्ययन समाप्त हो गया और वह पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने योग्य हुआ तब वरतन्तु ने उसे घर जाने की आज्ञा दी। कैात्स ने भक्ति-भाव के उन्मेष में आकर प्रार्थना की:—

"आचार्य्य! मुझ से कुछ गुरु-दक्षिणा लीजिए। आपकी कृपा से मैं मूर्ख से पण्डित हो गया। अतएव मेरी हार्दिक इच्छा है कि मैं पत्र-पुष्परूपी थोड़ी सी पूजा आपकी करूँ"।

वरतन्तु—"वत्स! तुमने मेरे आश्रम में इतने दिन तक रह कर जो मेरी सेवा-शुश्रूषा की है उसी को मैं सबसे बड़ी गुरु-दक्षिणा समझता हूँ। वही क्या कम है"?

कैात्स—"नहीं, आचार्य्य! कुछ आज्ञा तो अवश्यही दीजिए। कृपा कीजिए। मेरा जी नहीं मानता"।

वरतन्तु—"कैात्स! दक्षिणा की अपेक्षा शिष्य की भक्ति मुझे विशेष सन्तोषदायिनी है। उसके मुक़ाबले में दक्षिणा कोई चीज़ नहीं। तुमसे मैं कुछ नहीं चाहता"।

कैात्स—"महाराज! आपको मेरा अनुरोध माननाहीं पड़ेगा। मुझे अपना सेवक समझ कर कुछ अपने मुँह से ज़रूर कहिए"।

शिष्य की इस हठ को देख कर आचार्य्य का महासागर-सदृश शान्त चित्त भी क्षुब्ध हो उठाः—

"अतिशय रगड़ करे जो कोई—
अनल प्रकट चन्दन ते होई"

उन्हें रोष हो आया। उन्हें कैात्स की ग़रीबी का कुछ भी ख़याल न रहा। वे बोलेः—"अच्छी बात है। तू गुरुदक्षिणा दिये बिना जो घर नहीं जाना चाहता तो अब देकर ही जाना। मैंने तुझे चैादह विद्यायें पढ़ाई हैं। अतएव एक एक विद्या के बदले एक एक करोड़ रुपया मुझे ला दे"।

कैात्स इस आज्ञा को सुन कर ज़रा भी नहीं घबराया। उसने—"जो आज्ञा"—कह कर गुरु को प्रणाम किया और वहाँ से चल दिया। जिस ब्राह्मण-कुमार के पास कैापीन, कमण्डलु और पलाश-दण्ड के सिवा और कुछ नहीं था। उसने चैादह करोड़ अशरफियाँ अपने विद्यागुरु को देने की दृढ़ प्रतिज्ञा की।
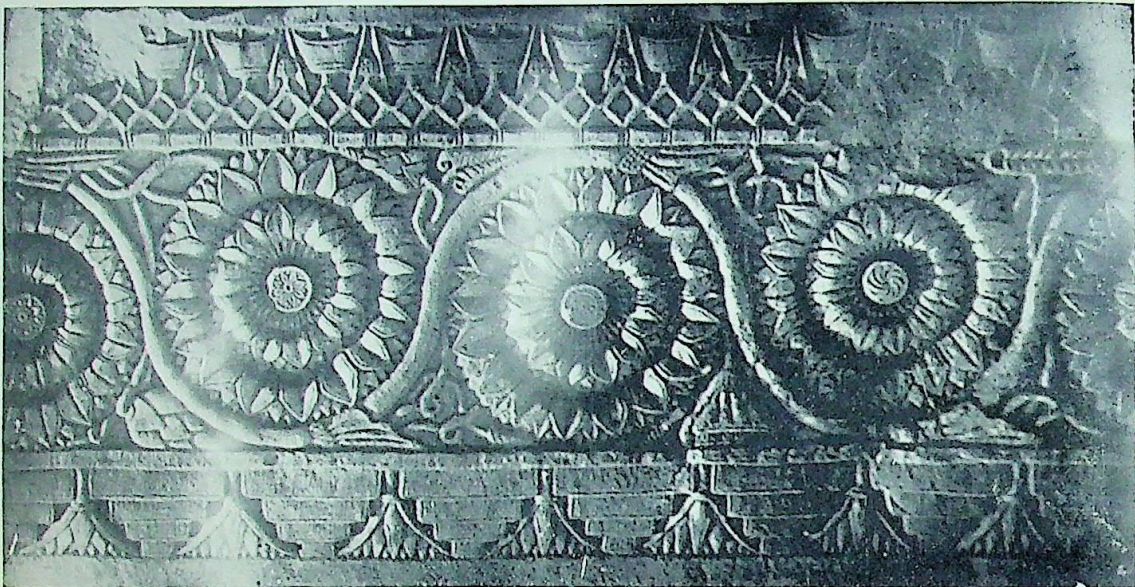
भारहट-स्तूप के एक छज्जे का भीतरी दृश्य।

भारहट-स्तूप के एक छज्जे का भीतरी दृश्य।

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

ज़रा इस घटना पर ध्यान दीजिए। वरतन्तु ने कौत्स को बरसों पढ़ाया—कौन जाने बीस वर्ष पढ़ाया, या पच्चीस वर्ष या उससे भी अधिक—पढ़ाया ही नहीं, अपने घर रक्खा; भोजन-वस्त्र भी दिया और बीमार होने पर सुताधिक-स्नेह से उसकी रक्षा भी की। और इसके बदले में आपने पाया क्या? केवल शिष्यभक्ति! उसी को आपने फ़ीस समझा, उसी को बोर्डिंग् का ख़र्च, उसी को सब कुछ! यह तो हुआ आचार्य्य का हाल। अब शिष्य को देखिए। वह भक्तिदान से सन्तुष्ट नहीं। वह यथाशक्ति कुछ और भी देना चाहता है। बिना दक्षिणा के आचार्य्य के आश्रम से घर जाने के लिए उसका पैर ही नहीं उठता। और जब उससे चौदह करोड़ माँगा जाता है तब वह अपनी अकिञ्चनता का ज़रा भी ख़याल न करके प्रसन्नता-पूर्वक कहता है—"बहुत अच्छा, आचार्य्य! चौदह करोड़ ही दूँगा"। ऐसी अवस्था में कौन अधिक प्रशंसनीय है—गुरु या शिष्य? इसका उत्तर देना कठिन है। गुरु भक्ति-भाव ही से ख़ुश है! चेले के पास चौदह कौड़ियाँ नहीं; पर गुरु की आज्ञा के अनुसार चौदह करोड़ देने की वह प्रतिज्ञा करता है! इस दृश्य का वर्तमान समय के विद्यालय-सम्बन्धी दृश्य से मुक़ाबला कीजिए। आकाश-पाताल का अन्तर है; तिल-ताड़ का अन्तर है; कौड़ी मुहर का अन्तर है। है या नहीं? इसी से कहते हैं कि—भारत! तुम कुछ के कुछ हो गये हो।

अच्छा, इस दृश्य को आप देख चुके। अब इसके बाद का एक और दृश्य देखिए। उसमें आप को पूर्वोक्त वरतन्तु के आश्रम की झलक के सिवा और भी कुछ देखने को मिलेगा। साथही आपको यह भी देखने को मिलेगा कि भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजा ऐसे आश्रमों की कहाँ तक ख़बर रखते थे। इस दृश्य के दिखाने का पुण्य महाकवि कालिदास को है। अपने रघुवंश में वे जो कुछ लिख गये हैं उसी की बदौलत हमें यह दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

चौदह करोड़ दे डालना ऐसे वैसे आदमी का काम नहीं। राजाओं के लिए भी इतना बड़ा दान देना कठिन काम है। यही सोच कर कौत्स ने राजा रघु से याचना करने का निश्चय किया। राजा रघु की जो स्थिति उस समय थी उसका उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है। परन्तु कौत्स को उसकी कुछ ख़बर न थी। अतएव वह गुरु-दक्षिणा के लिए धन प्राप्त करने के इरादे से रघु के पास पहुँचा।

स मृण्मये वीतहिरण्मयत्वात् पात्रे निधायार्घ्यमनर्घशीलः।
श्रुतप्रकाशं यशसा प्रकाशः प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः॥

जिस रघु के ख़ज़ाने में, कुछ समय पहले, सोने के ढेर के ढेर भरे हुए थे उसके खाने पीने के पात्र भी सोनेही के होंगे, इसमें क्या सन्देह हो सकता है? परन्तु वह समय सुवर्ण-सञ्चय का न था। वह तो सारा का सारा दिया जा चुका था। अब रघु के पास पात्र थे मिट्टी के। वे यद्यपि चमकदार न थे, तथापि रघु का शरीर उसके अत्युज्ज्वल यश से ज़रूर ख़ूब चमक रहा था। उसके शील-स्वभाव का क्या कहना है। अतिथियों का—विशेष करके विद्वान् अतिथियों का—सत्कार करना वह अपना बहुत बड़ा कर्तव्य समझता था। इस कारण, जब उसने उस वेद-शास्त्र-सम्पन्न कौत्स के आने की ख़बर सुनी तब उन्हीं मिट्टी के पात्रों में अर्घ्य और पूजा की सामग्री लेकर वह उठ खड़ा हुआ।

तमर्चयित्वा विधिवद् विधिज्ञस्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
विशांपतिर्विष्टरभाजमारात् कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच॥

आज कल के राजा कहलाये जाने वाले लोगों की तरह रघु अपने आसन पर डटा नहीं बैठा रहा। कौत्स को देखतेही वह उठा। उठाही नहीं, उठ कर वह कुछ दूर तक गया भी और उस तपोधनी अतिथि को साथ लिवा लाया। रघु यद्यपि, उस समय, सुवर्ण-सम्पत्ति से धनवान् न था, तथापि मानरूपी धन को भी जो धन समझते हैं उनमें वह सबसे बढ़ चढ़ कर था। महा मानधनी होने पर भी रघु ने उस तपोधनी ब्राह्मण की विधिपूर्वक पूजा की।

विद्या और तप के धन को उसने और सब धनों से बढ़ कर समझा। चक्रवर्ती राजा होने पर भी रघु को अभ्यागत के आदरातिथ्य की क्रिया अच्छी तरह मालूम थी। अपने इस क्रिया-ज्ञान का यथेष्ट उपयोग करके रघु ने कौत्स को प्रसन्न किया। जब वह स्वस्थ होकर आसन पर बैठ गया तब रघु ने नम्रता-पूर्वक, भृकुटी या हाथ के इशारे से नहीं, किन्तु वाणी द्वारा, कुशल-समाचार पूछना आरम्भ किया। इतनाहीं नहीं, राजा ने हाथ भी जोड़ने की ज़रूरत समझी। विद्वान् और तपस्वी की महिमा तो देखिए।

अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते।
यतस्त्वया ज्ञानमशेषमाप्तं लोकेन चैतन्यमिवोष्णरश्मेः॥

हे कुशाग्रबुद्धे! कहिए, आपके गुरु तो अच्छे हैं? वे एक असाधारण विद्वान् हैं—वे सर्वदर्शी महात्मा हैं। जिन ऋषियों ने वेदमन्त्रों की रचना की है उनमें उनका स्थान सब से ऊँचा है। मन्त्र-कर्ताओं में वे सब से श्रेष्ठ हैं। जिस तरह सूर्य्य से प्रकाश प्राप्त होने पर यह सारा जगत्, सुबह, सोते से जग पड़ता है, ठीक, उसी तरह, आप अपने पूजनीय गुरु से समस्त ज्ञान-राशि प्राप्त करके और अपने अज्ञान-जात अन्धकार को दूर करके जग से उठे हैं। ज्ञानावस्था की प्राप्ति बड़ी ही सुखदायक होती है; उसकी महिमा अवर्णनीय है। एक तो आपकी बुद्धि स्वभावही से कुश की नोक के समान तीव्र, फिर महर्षि वरतन्तु से अशेष ज्ञान की प्राप्ति। क्या कहना है। महाराज आप धन्य हैं।

रघु ने, यहाँ पर, वरतन्तु ऋषि की जो प्रशंसा की है और उनके लिए जो विशेषण दिये हैं उनसे बड़ी व्यापक ध्वनि निकलती है। ऐतिहासिक दृष्टि से वह बड़े महत्त्व की है। उससे कालिदास के मानसिक भावों का भी ख़ूब पता चलता है। दो हज़ार वर्ष पहले की ये बातें समझने और सोचने लायक़ हैं।

कायेन वाचा मनसापि शश्वद्यत्सम्भृतं वासवधैर्य्यलोपि।
आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्॥

हाँ, महाराज! यह तो कहिए—आपके विद्यागुरु महर्षि वरतन्तु की तपस्या का क्या हाल है। उनके तपश्चरण के बाधक कोई विघ्न तो उपस्थित नहीं—विघ्नों के कारण तपश्चर्य्या में कुछ कमी तो नहीं? महर्षि बड़ाही घोर तप कर रहे हैं। उनका तप एक प्रकार का नहीं, तीन प्रकार का है। कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों से शरीर-द्वारा, तथा वेदपाठ और गायत्री आदि मन्त्रों के जप से वाणी और मन के द्वारा वे अपनी तपश्चर्य्या की निरन्तर वृद्धि किया करते हैं। उनका यह कायिक, वाचिक और मानसिक तप सुरेन्द्र के धैर्य्य को भी चंचल कर रहा है। वह डर रहा है कि कहीं ये मेरा आसन न छीन लें। इसी से महर्षि के तपश्चरण सम्बन्ध में मुझे बड़ी फ़िक्र रहती है। मैं नहीं चाहता कि उसमें किसी तरह का व्याघात पड़े; क्योंकि ऐसे ऐसे महात्मा मेरे राज्य के भूषण हैं। उनके कारण मैं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ।

आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम्।
कच्चिन्न वाय्वादिरुपप्लवो वः श्रमच्छिदामाश्रमपादपानाम्॥

आपके आश्रम के पेड़-पौधे तो हरे भरे हैं? सूखे तो नहीं? आँधी और तूफ़ान आदि से उन्हें हानि तो नहीं पहुँची? आश्रम के इन पेड़ों से बहुत आराम मिलता है। आश्रमवासी तो इनकी छाया से आराम पाते ही हैं; अपनी शीतल छाया से ये पथिकों के श्रम का भी परिहार करते हैं। इनके इसी गुण के कारण महर्षि ने इन्हें बच्चे की तरह पाला है। थाले बना कर उन्होंने इनको समय समय पर सींचा है; तृण की टट्टियाँ लगाकर जाड़े से इनकी रक्षा की है; काँटों से घेर कर इन्हें पशुओं से खा लिये जाने से बचाया है।

रघु के इस प्रश्न से यह ध्वनित होता है कि वायु पर भी इस राजा का अधिकार था। सर्वतोभाव से धर्म्मपूर्वक राज्य करने के कारण पञ्च महाभूतों को भी इसने अपने वश में कर रक्खा था। पेड़ों को उखाड़ डालना या उनकी डालों को तोड़ देना तो

दूर रहा, रघुवंशी राजाओं के राज्य में स्त्रियों के वस्त्र भी वायु बेक़ायदा नहीं उड़ा सकता था :—

> वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् ।

कुशल-सम्बन्धी प्रश्नों में ऋषि के मृग-समुदाय को भी राजा रघु नहीं भूले। प्राचीन काल में अरण्यवासी मुनि मृगों को भी पालते थे। वे गृह-पशुओं की तरह उनके आश्रमों में विचरा करते थे।

> क्रियानिमित्तेष्वपि वत्सलत्वादभग्नकामा मुनिभिः कुशेषु ।
> तदङ्कशय्याच्युतनाभिनाला कच्चिन्मृगीणामनघा प्रसूतिः ॥

मुनि जन बड़ेही दयालु होते हैं। आपके आश्रम की हरिणियाँ जब बच्चे देती हैं तब ऋषि लोग उनके बच्चों की बेहद सेवा-शुश्रूषा करते हैं। आश्रम के आस पास सब तरफ़ जंगल है। उसमें साँप और बिच्छू आदि विषैले जन्तु भरे हुए हैं। उनसे बच्चों को कष्ट न पहुँचे, इस कारण ऋषि उन्हें प्रायः अपनी गोद से नहीं उतारते। उत्पन्न होने के बाद दस बारह दिन तक वे उन्हें रात भर अपने उत्संगही पर रखते हैं। अतएव उनके नाभिनाल ऋषियों के शरीर पर ही गिर जाते हैं। परन्तु इससे वे ज़रा भी विषण्ण-नहीं होते। जब ये बच्चे बढ़ कर कुछ बड़े होते हैं तब यज्ञादि बहुत आवश्यक क्रियाओं के निमित्त लाये गये कुशों को भी वे खाने लगते हैं। परन्तु उन पर ऋषियों का अत्यन्त स्नेह होने के कारण उन्हें ऐसा करने से भी वे नहीं रोकते। उनके नैमित्तिक कार्यों में चाहे भलेही विघ्न आजाय, पर मृग-शिशुओं की इच्छा का वे विघात नहीं करते। आप की यह स्नेह-संवर्द्धित हरिण-सन्तति तो मज़े में है? उसे कोई कष्ट तो नहीं?

> निवर्त्यते यैर्नियमाभिषेको येभ्यो निवापाञ्जलयः पितॄणाम् ।
> तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि शिवानि वस्तीर्थजलानि कच्चित् ॥

आपके तीर्थजलों की क्या हालत है? उनमें कोई ख़राबी तो नहीं? वे सूख तो नहीं गये? पशु उन्हें गँदला तो नहीं करते? इन तीर्थजलों को—इन तड़ागों और बावलियों को—मैं आपके बड़े काम का समझता हूँ। यही जल आपके स्नानादि के नित्य काम आते हैं। अग्निष्वात्तादि पितरों का तर्पण भी आप इन्हीं से करते हैं। इन्हीं के किनारे रेत पर आप अपने खेतों की उपज का षष्ठांश राजा के लिए रख छोड़ते हैं।

यह वह समय था जब न कोई तहसीलदार था, न रेविन्यू मनीआर्डर थे, न लगान वसूल करने के लिए कोई क़ानून था। न किसी पर नालिशें होती थीं, न बेदख़ली थी, न कुर्क़ी थी। राज-कर उपज के रूप में दिया जाता था—सो भी छः मन पीछे एक मन। झूठ, धोखेबाज़ी और चोर कर्म्म का कहीं नाम न था। जिसे जितना कर देना होता था वह उतना पास के किसी कुवे, तालाब या बावली के किनारे चुपचाप रख देता था। समय पर राजकर्म्मचारी उसे उठा ले जाते थे। भारत का यह प्राचीन दृश्य किस सहृदय के कण्ठ को गद्गद् और नेत्रों को साश्रु नहीं कर सकता?

> नीवारपाकादि कडङ्गरीयैरामृश्यते जानपदैर्न कच्चित् ।
> कालोपपन्नातिथिकल्प्यभागं वन्यं शरीरस्थितिसाधनं वः ॥

बलि-वैश्वदेव के समय अतिथि आजाने से उसे विमुख जाने देना मना है। अतएव जिस जंगली तृणधान्य (साँवा, कोदों आदि) से आप अपने शरीर की भी रक्षा करते हैं और अतिथियों की भी क्षुधा शान्त करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं उसे, भूल से छूट आये हुए, गाँव और नगर के पशु खा तो नहीं जाते?

इन ऋषियों के उदर-निर्वाह की साधन-सामग्री को तो देखिए। वे खाते क्या थे—मक्का, कँगनी और साँवाँ! पर विद्वत्ता उनकी ऐसी थी कि साकेत के चक्रवर्ती राजा उनके पैर अपने हाथ से धोते थे!! उनकी तपस्या का यह हाल था कि सुरराज इन्द्र भी उसे देख कर कम्पित होते थे!!! Plain living and high thinking का ऐसा उत्कृष्ट नमूना क्या कभी किसी देश की किसी जाति में और कहीं पाया जा सकता है? जान पड़ता है, ये ऋषि अनाज काट कर या तो वहीं खेतही में रखते थे, या आश्रम के हाते में किसी खुली जगह, या वहीं कहीं छप्परों के नीचे।

अन्यथा नगर के गाय-भैंसों से उसके खाये जाने का डर न होता। इससे सिद्ध है कि उस समय चोरी का तो कुछ ज़िक्रही नहीं; पशु भी ऋषियों के आश्रम तक नहीं पहुँचने पाते थे। उनके मालिक उनकी रखवाली का बड़ाही अच्छा बन्दोबस्त रखते थे। बहुत संभव है, इसमें ग़फ़लत होने पर उन्हें सख़्त राजदण्ड भोगना पड़ता रहा हो।

अपि प्रसन्नेन महर्षिणा त्वं सम्यग्विनीयानुमतो गृहाय।
कालोह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते॥

सब विद्याओं में निष्णात करके आपके गुरु ने आपको गृहस्थाश्रम-सुख भोगने के लिए क्या प्रसन्नता-पूर्वक आज्ञा दे दी है? ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास—इन तीनों आश्रमों पर उपकार करने का सामर्थ्य एक गृहस्थाश्रम ही में है। आपकी उम्र अब उसमें प्रवेश करने के सर्वथा योग्य है।

तवार्हतो नाभिगमेन तृप्तं मनो नियोगक्रिययोत्सुकं मे।
अप्याज्ञया शासितुरात्मना वा प्राप्तोऽसि संभावयितुं वनान्माम्॥

आप हमारे परम पूज्य हैं। अतएव सिर्फ़ आपके आगमन सेही मुझे विशेष आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता। यदि आप दया करके मुझसे कुछ सेवा भी लें तो अवश्य मुझे विशेष आनन्द हो सकता है। अतएव आप मेरे लिए कोई काम बतलावें—कुछ तो आज्ञा करें। हाँ, भला यह तो कहिए कि आपने जो मुझ पर यह कृपा की है वह आपने अपनेही मन से की है या गुरु की आज्ञा से। वन से इतनी दूर मेरे पास आने का कारण क्या?

इस विस्तृत कुशलप्रश्नावली के समाप्त होने पर कौत्स ने कहा:—

"राजन्! हमारे आश्रम में सब प्रकार कुशल है। हमारे तपश्चरण में कोई विघ्न नहीं; आश्रम-पादप ख़ूब अच्छी दशा में हैं; जल की कमी नहीं; अन्न काफ़ी है; पश्वादिकों का कोई उपद्रव नहीं। आपके राजा होते, भला, हम लोगों को कभी स्वप्न में भी कष्ट हो सकता है। सूर्य के मध्य आकाश में स्थित रहते, मजाल है जो रात्रि-संभूत अन्धकार अपना मुँह दिखाने का हौसला करे! रहा मेरे आने का कारण, सो मैं गुरु के लिए आपसे बहुत कुछ माँगने आया था। परन्तु मैं देर से आया। आपसे माँगने का समय जाता रहा। आपके ये मिट्टी के पात्र इसके प्रमाण हैं। आप प्रसन्न रहें। अब मैं आपसे इस विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। मैं तो मनुष्य हूँ। गुरु की कृपा से चार अक्षर मैंने पढ़े भी हैं। अतएव ऐसे समय में आपसे याचना करनी मुझे मुनासिब नहीं। सारे संसार को जलवृष्टि से आप्लावित करके शरत्काल को प्राप्त होनेवाले रिक्त मेघों को, पतङ्ग-योनि में उत्पन्न चातक भी, अपनी याचनाओं से तङ्ग नहीं करते"।

राजा ने उत्तर दिया—"अच्छा, बतलाइए तो, कौन सी चीज़ आप अपने गुरु को देना चाहते हैं और कितनी देना चाहते हैं"।

इस पर कौत्स ने सब हाल कहा। सुन कर राजा बोला—"कुछ चिन्ता नहीं। आप दो तीन दिन मेरी अग्निहोत्रशाला में ठहरिए। मैं आपकी अर्थ-सिद्धि के लिए चेष्टा करूँगा। आपका मेरे पास से विफल-मनोरथ जाना मेरे लिए बड़ेही कलङ्क की बात होगी। यह मैं नहीं चाहता—यह मुझे असह्य होगा"।

रघु के ख़ज़ाने में कौड़ी न थी। चौदह करोड़ द्रव्य कहाँ से आवे। राजा धर्म्म-संकट में पड़ा। अन्त में उसने कुवेर पर चढ़ाई करके उतना द्रव्य प्राप्त करने का निश्चय किया। उसने अपना शस्त्रास्त्रपूर्ण रथ सजाया। प्रातःकाल यात्रा करने के इरादे से रात को वह उसी रथ पर सोया। पर उसे प्रस्थान करने की ज़रूरत नहीं पड़ी। रातही को उसका ख़ज़ाना अशरफ़ियों से अकस्मात् भर गया। अतएव उसने वह सब धन कौत्स के सामने लाकर हाज़िर कर दिया। वह चौदह करोड़ से कहीं अधिक था। सवाल था सिर्फ़ चौदह करोड़ के लिए; परन्तु उतनाही देना रघु के लिए कोई विशेष उदारता की बात न थी। इससे राजा वह सारा का सारा द्रव्य कौत्स को देने लगा। परन्तु वह मतलब से अधिक
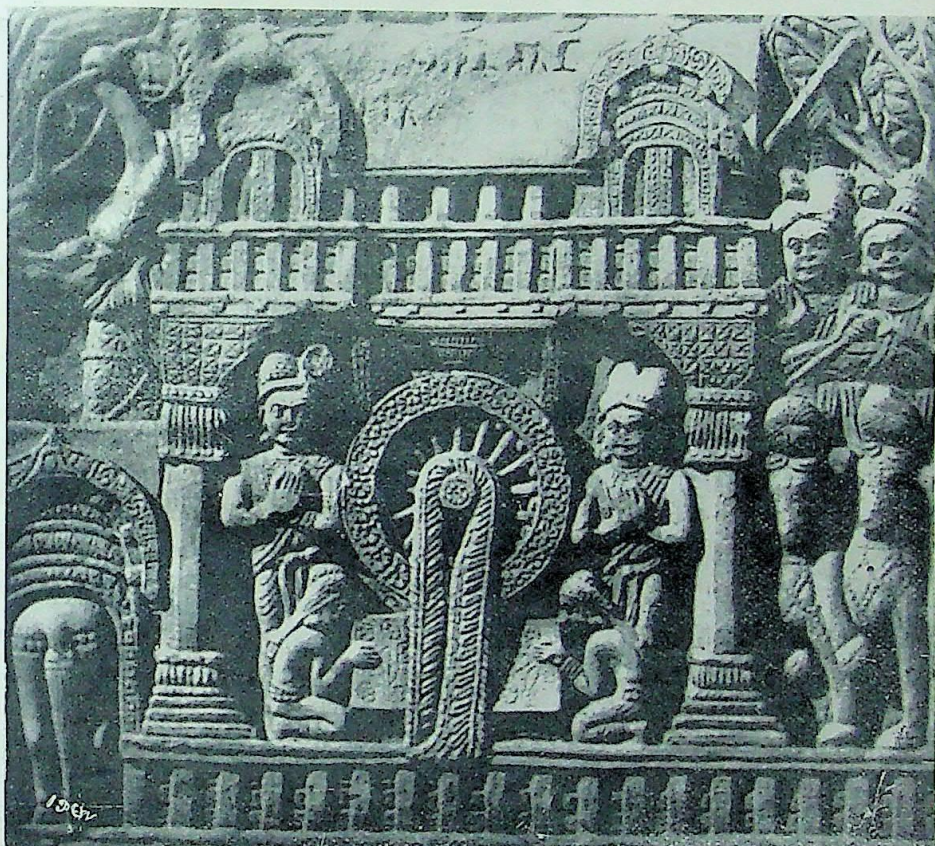
भारहट के स्तूप का धर्म्मचक्र।

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

क्यों लेता। उसने गिन कर चौदह करोड़ ले लिया। बाक़ी सब वहीं पड़ा रहा। अब बतलाइए उन दोनों में से किसे अधिक प्रशंसा का पात्र समझना चाहिए—दाता रघु को या याचक कौत्स को? रघु की राजधानी, साकेत-नगरी, के निवासियों ने तो उन दोनों को बराबर एकही सा अभिनन्दनीय समझा :—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ ।
गुरुप्रदेयाधिकनिस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च ॥

बहुत प्राचीन भारत की यह एक धुँधली सी झलक है। उस ज़माने में विद्वत्ता की कितनी क़दर थी; विद्वान् अपना जीवन किस तरह निर्वाह करते थे; वे कहाँ रहते थे, किस तरह रहते थे और क्या खाते थे; राजा कितने प्रजापालक थे, कितने दानी थे, कितने धर्म्मनिष्ठ थे; प्रजा-जन कितने-सत्यनिष्ठ और राजाज्ञा को कहाँ तक माननेवाले थे—इनका, और इनके सिवा और भी ऐसाही बहुतसी बातों का अनुमान कालिदास के पूर्वोक्त पद्यों से बहुत अच्छी तरह हो सकता है। हम लोग इस महाकवि के नितान्त कृतज्ञ हैं। उसी की कृपा से हमें यह प्राचीन भारत की झलक देखने को मिली है। रामायण और महाभारत के आधार पर कई विद्वानों ने भारत का तत्कालीन इतिहास लिखा है। क्या ही अच्छा हो, यदि कालिदास के ग्रन्थों के आश्रय पर भी कोई उस समय की सामाजिक, नैतिक और राजकीय व्यवस्था का एक लेख-चित्र तैयार करने की कृपा करे। इसके लिए सामग्री तो बहुत है। पर, हाँ, उसका उपयोग करनेवाला अप्राप्य नहीं तो दुष्प्राप्य ज़रूर है।

पूर्वस्मृति बुरी भी होती है, भली भी; पर होती बड़े महत्त्व की है। पुरातन बातों को भूलना न चाहिए। देखिए, गवर्नमेंट हमारे प्राचीन ग्रन्थों को लोप होने से बचाने का यत्न करती है; वह हमारी प्राचीन इमारतों को बना रखने की चेष्टा करती है; वह भारत के प्राचीन काव्यों को स्कूलों और कालेजों में पढ़ाती है। जो कुछ उसे करना मुनासिब है वह करती है। अतएव यदि और किसी कारण से नहीं तो गवर्नमेंट की नक़ल करने के इरादे से ही हम लोगों को अपनी प्राचीन सभ्यता की स्मृति लुप्त न होने देना चाहिए। जहाँ हम और सैकड़ों बातों की नक़ल करते हैं तहाँ एक और बात की भी सही। कितनीही बातें अब अच्छी हैं; कितनीहीं तब अच्छी थीं। पर अच्छी हों या बुरी, पुरानी बातों का स्मरण ज़रूर बड़े काम का होता है।

उषा।
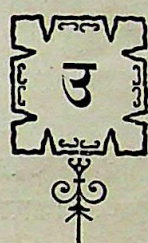
उषा शब्द रात्रिशेष का वाचक है। सूर्योदय के पहले उषा-काल होता है। उषा के सम्बन्ध से ही उषःकाल शब्द प्रातःकाल का बोधक हुआ है। वेदों में उषा का कई प्रकार से वर्णन किया गया है। वैदिक निघण्टु में उषा के नाम—विभावरी, भास्वती, उदती, द्योतना आदि हैं। ऋक्संहिता में लिखा है—घोड़ों के रथ पर सूर्य से ३० योजन की दूरी पर उषा स्थित है। देखिए—अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका ऋतुं परियंति सद्यः। १। १२३। ८। कहीं लिखा है—उषा को इन्द्र ने पैदा किया है। यथा—यः सूर्यं य उषसं जजान। २। १२। १

ऋग्वेद के

दुहिता दिवः—१। ४८। १६

भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिः—१। १२३। ५

यामिन्याः ज्येष्ठा सहोदरा—१। १२४। ८

इन मन्त्रों से ज्ञात होता है कि उषःकाल की देवता का प्रसङ्गवश अनेक रूप से वर्णन किया गया है। रात्रि के आरम्भ और अन्त में उषा की स्थिति है। इसीलिए ऊपर के मन्त्र में वह दिन-रात्रि की बड़ी बहन मानी गई है। सूर्योदय के पहले पूर्व दिशा में देर तक जो लालिमा दिखलाई देती है वही उषा है। उषा के ही प्रकाश से रात्रि का अंधकार दूर होता है। इस विषय का वैदिक सूक्त देखिए:—

उषा इच्छन्ती समिधाने अग्ना
उद्यन्त सूर्य उर्विया ज्योतिरश्रेत्।

सायणाचार्य के मत में सूर्योदय से २२३ पल पहले उषा का उदय होता है।

पैाराणिक मत से उषा बाण नामक राजा की कन्या और अनिरुद्ध की स्त्री है। हरिवंश में लिखा हैः—

बाणस्य दुहिता कन्या तत्रोषा नाम भाविनी।

कुछ भी हो, उषा का अर्थ अमरकोष, मेदिनीकोष आदि कोषों में वही लिखा है जो वैदिक मत से होता है—अर्थात् प्रातःकाल या रात्रिशेष। पूर्व दिशा में सूर्य के अर्धबिम्बोदय तक, और पश्चिम में अर्ध-बिम्बास्त होने के बाद तक, उषा का समय रहता है। साधारणतः इसे संध्या-समय कहते हैं। प्रातः संध्या और सायंसंध्या का प्रमाण एक ही है। जो उषा-मान है वही संध्या-मान है। विशेषता इतनीहीं है कि उषा का नाम प्रातःकाल ही में लिया जाता है। सायंकाल का नाम संध्या या गोधूलि है।

आचार्य वराहमिहिर ने अपने बृहत्संहिता नामक ग्रन्थ में उषा को संध्याकाल के नाम से अभिहित किया हैः—

अर्धास्तमितानुदितात् सूर्यादस्पष्टभं नभो यावत्।
तावत् संध्याकालश्चिह्नैरेतैः फलं चास्मिन्॥

अर्थात्, आधा सूर्यबिम्ब अस्त होने के बाद, जब तक आकाश में तारकायें स्पष्ट न देख पड़ें तब तक, संध्याकाल है। और, सूर्योदय के पहले जब तारकायें मंद हो जायँ तब से सूर्योदय तक प्रातः-संध्याकाल है। फलित ज्योतिष में उषःकाल और गोधूलि में पश्चिम और पूर्व दिशा की यात्रा शुभ मानी गई है।

उषा का महत्त्व भारतवर्ष के सिवा अन्य देशों में भी है। उषा को ग्रीक भाषा में इयस (Eoss) और लैटिन में आरोरा (Aurora) कहते हैं। अँग-रेज़ी भाषा में प्रातःकालीन उषा को डान (Dawn) और सायङ्कालीन को ट्वि-लाइट (Twilight) कहते हैं।

अच्छा, उषा के उदय का प्राकृतिक कारण क्या है और उषाकाल रहता कितनी देर तक है।

सूर्यास्त के बाद, पृथ्वी की वक्रता के कारण, सूर्य-किरण बहुत दूर तक न जाकर, ऊपरी वायु-मण्डल के आघात से फैल कर, उसी स्थान में प्रति-बिम्बित हो जाते हैं। इस प्रतिफलन को अँगरेज़ी में रिफ्लेक्शन (Reflection) कहते हैं। यह क्षितिज के नीचे सूर्य के १८° अंश जाने तक रहता है। यह १८° अंश का अन्तर, निरक्ष देश में, जहाँ उत्तरी ध्रुव भूमि और आकाश से मिला हुआ मालूम होता है, लम्बरूप (Perpendicular distance) होता है। क्योंकि, निरक्ष देश में सूर्य का अहोरात्रवृत्त क्षितिज को लम्बरूप से काटता है, पर अक्षांशवाले देशों में वह तिरछा होकर काटता है। मतलब यह कि सरल मार्ग से चलने में थोड़ा काल लगता है और वक्र मार्ग से जाने में अधिक। इसीलिए निरक्ष देश में उषा थोड़ी ही देर रहती है। इन सब देशों में अक्षांश के अनुसार उषा न्यूनाधिक रहती है।

उत्तरी ध्रुव-प्रदेश में, क्षितिज के नीचे, कोई छः महीने तक सूर्य रहता है—अर्थात् २३ सितम्बर से २१ मार्च तक। इस बीच में क्षितिज से सूर्य का लम्ब-रूप अन्तर २३°। २४′ अंश से अधिक नहीं होता। इतने अन्तर पर सूर्य २१ दिसम्बर को पहुँचा करता है। इसलिए, १८° अंश का अन्तर २३°। २४′ का जो भाग हो उसी के हिसाब से छः मास का भाग लेने से अपेक्षित देश का उषा-काल जाना जा सकता है। इस प्रकार २३ सितम्बर के बाद दो महीने तक, और, २१ मार्च के पहले दो महीने तक, उषा का उदय किंवा संध्याकाल रहता है। इस तरह कुल चार महीने उषा का उदय समझना चाहिए। इसी नियम के अनुसार २१ मार्च से २३ सितम्बर तक सूर्य दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश में, क्षितिज के नीचे, रहा करता है। वहाँ भी उषा के उदय का उतनाही समय समझिए।

निरक्ष में उषा का उदय।

निरक्ष देश में, संपात-विन्दु के पास, नाडीवृत्त ही सूर्य का अहोरात्रवृत्त हो जाता है। इसलिए वह

क्षितिजवृत्त को काट कर समकोण पैदा करता है। नीचे दिये गये क्षेत्र के संपात-बिन्दु में स सूर्यास्त का चिह्न और र संध्या के अन्त में सूर्य का चिह्न है।
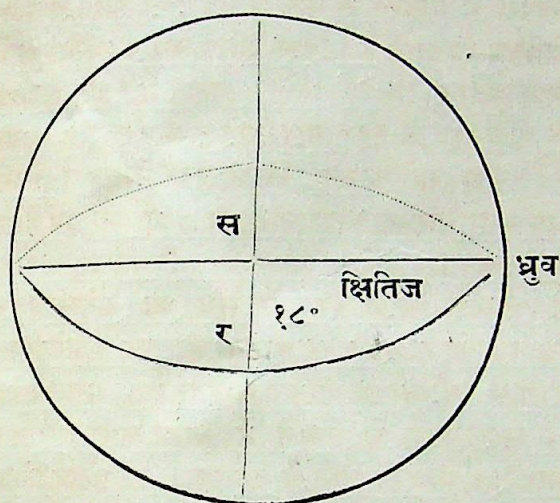
यहाँ स र=१८° के हैं। अब यह जानना है कि इस मार्ग को सूर्य कितनी देर में तय करेगा।

२४ घंटे में सूर्य ३६०° अंश चलता है।

∴ ३६०° : १८° :: २४ : गति

$$\therefore \text{गति} = \frac{१८ \times २४}{३६०} = १\frac{१}{५} \text{ घंटा} = १ \text{ घं० } १२ \text{ मि०}$$

अर्थात् निरक्षदेश में १८° अंश क्षितिज के नीचे सूर्य १ घंटा १२ मिनट में चलेगा। निरक्ष से हमारा देश उत्तर की तरफ़ हटा हुआ है। इसलिए यहाँ संध्या या उषाकाल १ घंटा १२ मिनट से अधिक होगा। प्राचीन घड़ी-घंटे के हिसाब से २½ कच्ची घड़ियों का एक घंटा माना जाता है। १५° अंश चलने में १ घंटा लगता है। क्योंकि, ३६०° अंश चलने में २४ घंटे लगते हैं। यह मोटा हिसाब है। इसी से रामदैवज्ञ ने अपने मुहूर्तचिन्तामणि ग्रन्थ में लिखा है:—

संध्या त्रिनाडी प्रमितार्कबिम्बात्
अर्धोदितास्तादध ऊर्ध्वमत्र।

अर्थात् संध्याकाल तीन घड़ी होता है। यह काल निरक्ष देश के मान से अधिक है। और अधिक होना ही चाहिए। क्योंकि, रामदैवज्ञ ने काशी में मुहूर्त-चिन्तामणि बनाया है। काशी का अक्षांश २५°। १६′ है।

प्रत्येक देश में उषा के उदय में अन्तर होता है। इसका मुख्य कारण अक्षांश और सूर्य की क्रान्ति है। यह विषय ज्योतिष का है। अतएव इस पर और अधिक लिखना आवश्यक नहीं।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी।

अनुताप।

(१)

बड़े भाग्य से इस दुनिया में दुर्लभ मानव-तन पाया;
वृथा गँवाया उसको हमने, माया में मन उलझाया।
क्या करना है उचित, जन्म से कभी न इस पर ध्यान दिया;
अज्ञानी पशु-तुल्य सर्वदा बेसमझे सब काम किया॥

(२)

जी न लगा पढ़ने लिखने में खेलों ही में रहे फँसे;
शिक्षा का जो उचित समय था किया वृथा बरबाद उसे।
कहा न माना गुरुवर्यों का, फल उसका विषपूर्ण फला;
बुरा काम करनेवालों का हो सकता है कभी भला?

(३)

दुःशीलों की संगति करके कुजनों के सरदार बने;
दिन दिन दुराचार कर हमने पाये दुःसह दुःख घने।
अपने इन अनुचित कृत्यों की जब हमको है सुधि आती,
तब ऋण-रोग-रागद्वेषों की ज्वाला सही नहीं जाती॥

(४)

पुरखों की कुछ रही कमाई उस पर था सब ठाट खड़ा;
उसे उड़ातेही आफ़त का हम पर टूट पहाड़ पड़ा।
रही न पूँजी पास, न कोई रहा कर्ज़ देनेवाला;
मित्र एक भी रहा न दुर्गम दुख में सुध लेनेवाला॥

(५)

करके कुछ व्यवसाय न हमने सीखा स्वस्थ सुखी होना;
सीखा नई जवानी में बस, व्याकुल हो दुखड़ा रोना।
करते हम अनभिज्ञ काम क्या निरुद्योग हो बैठ रहे;
लेकर भार गृहस्थी का हा! दुख असंख्य चुपचाप सहे॥

(६)

हाय हमारी बुरी दशा पर निन्दा होने लगी बड़ी ;
सह न सके, घर छोड़ दिये चल, हो विरक्त हम उसी घड़ी।
घूमे ठौर ठौर, पर मन को ज़रा नहीं विश्राम मिला ;
भरे तमोगुण से मानस में नहीं सत्त्वगुण-कमल खिला॥

(७)

विमलविवेक-भानु का मन में उदय नहीं होता जब तक,
सत्त्वकमलका विकसित होना देखा गया नहीं तबतक।
भटके हम बाबाजी बन कर, सारा भेस बदल डाला;
भस्म लगाया, जटा बढ़ाया, गले बाँध कण्ठी-माला॥

(८)

काम-क्रोध-मद-मोह-लोभ-वश हृदयविषयसे रहा भरा;
रही वासना बनी हमारी, मिटा न मन का मैल ज़रा।
योंही रहे भटकते सारी उम्र हमारी बीत चली ;
किया न कुछ परमार्थ, एकभी नहीं स्वार्थकी दाल गली॥

(९)

किया न काम शुभङ्कर कोई यह शरीर उत्तम पाकर;
किया न कुछ उपकार किसीका इस अनित्य जगमें आकर।
नहीं सुधारी देशदशा कुछ, सदुपदेश भी नहीं दिया;
नहीं जाति को उन्नत करने में हमने कुछ भाग लिया॥

(१०)

सन्तानों को देख अशिक्षित शिक्षा का न प्रचार किया ;
विद्वानों की सेवा में रह उनका वचनामृत न पिया।
बने विरोधी शुभ स्वधर्म के, मत विधर्मियों का भाया;
विधि-निषेध पर ध्यान न देकर किया वही जो मन भाया॥

(११)

हे ईश्वर! तुम दीनबन्धु हो, हाथ जोड़ हम विनय करें;
ऐसी बुद्धि हमें दो जिससे निष्कलङ्क होकर विचरें।
भजन तुम्हारा करें प्रेम से, रहें न्याय से जहाँ कहीं,
जनसीदन अनुताप वृथा अब करने से कुछ लाभ नहीं॥

जनार्दन झा।

सतसई-संहार की कुछ उक्तियों पर एतराज़।

तसई-संहार नामक लेखमाला में पण्डित पद्मसिंहजी ने बिहारीलाल के एक दोहे की बड़ी प्रशंसा की। उन्होंने यह कह दिया कि यह दोहा सतसई के चोटी के दोहों में से है। "राम" नामक एक महाशय को आपकी इस उक्ति में अनुचित अत्युक्ति जान पड़ी। अतएव उन्होंने इस पर एक छोटा सा आक्षेपपूर्ण लेख प्रकाशित करने के लिए भेजा। इस लेख को सरस्वती-सम्पादक ने पण्डित पद्मसिंहजी के पास इसलिए भेज दिया कि यदि वे इस पर कुछ कहना चाहें तो कह दें। दोनों लेख साथ ही प्रकाशित कर दिये जायँगे। ऐसा करने से पाठकों को अधिक आनन्द आ सकता है। आक्षेप पहले और समाधान महीने दो महीने पीछे प्रकाशित करने से पहले लेख की बहुत सी बातें भूल जाती हैं। इस कारण मनोरञ्जन और आनन्द कुछ कम हो जाता है। अस्तु। पण्डित पद्मसिंहजी ने अपना उत्तर भेजा है। वह, और "राम" महाशय का लेख, दोनों, अब साथ ही साथ प्रकाशित किये जाते हैं।

"राम" महाशय का लेख।

मानहु विधि तन अच्छि छबि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन को किये भूषण पायन्दाज॥

गत सितम्बर की सरस्वती में श्रीमान् पण्डित पद्मसिंहजी ने श्रीविद्यावारिधिजी के अर्थ पर, जो इन्होंने बिहारीलाल के ऊपर लिखे दोहे पर किया है, आलोचना करते हुए जोश में आकर यहाँ तक लिख डाला है कि "यह दोहा सतसई के चोटी के दोहों में से है" इत्यादि। परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धि में इस दोहे पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि योग्य समालोचक ने इस कथन में बहुत कुछ अनुचित अत्युक्ति से काम लिया है। क्योंकि प्रथम

तो जिस उर्दू वाले शेर से इसे उत्तम बताया गया है इसके साथ न्याययुक्त तुलना नहीं की गई। दूसरे, दोहे में एक बड़ा भारी दोष है जिस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया।

उर्दू का शेर यह है:—

क्या नज़ाकत है कि ग्रारिज़ उनके नीले पड़ गये।
हमने तो वोसा लिया था ख़्वाब में तसवीर का॥

अर्थात् तन्वी के कपोल इतने कोमल हैं कि स्वप्न में भी, सीधे उनको नहीं, उनके चित्र को चुम्बन करने से उनको इतना कष्ट पहुँचा कि उन पर नीले दाग़ पड़ गये।

संकल्पमात्र से, जो केवल मानसिक क्रिया है, शरीर पर इतना गहरा प्रभाव पड़ना, यदि न्याय की दृष्टि से देखा जाय तो, कोमलता के वर्णन की असीम पराकाष्ठा है। अब इसके सम्मुख सतसई वाले दोहे को लीजिए, जिसका सार समालोचक जी के निज शब्दों में यह है कि—"मानो ब्रह्मा ने भूषणों का पायन्दाज़ बना दिया कि दृष्टि अपने पग उससे पोंछ कर तन्वी के तन पर पड़े। शरीररूपी स्वच्छ चाँदनी को आँखों के मैले पैर ख़राब न कर दें। (+ + + आँखों के पैर ग्रैार उनसे शरीर की कान्ति का मैला होना कितनी नज़ाकत, सफ़ाई ग्रैार नाज़ुक-ख़याली है, कुछ ठिकाना है?") इत्यादि।

पाठकवृन्द! थोड़ा ध्यान देने से विदित होगा कि दोहे में जो कुछ कहा गया है वह इतनी असा-धारण बात नहीं है जितना कि उसको बढ़ा कर कोष्ठक के भीतर दिखाया गया है। इसमें 'दृग' ग्रैार 'तन' का प्रत्यक्ष में सीधा सीधा सम्बन्ध है—अर्थात् दोनों एक दूसरे के आमने सामने हैं। पर शेर में स्वप्न में चित्र के प्रति केवल मानसिक क्रिया के प्रभाव से तन का चिह्नित हो जाना वर्णन किया गया है। इसलिए प्रत्यक्षही सिद्ध है, ग्रैार जिसके स्वीकार कर लेने में हमें कुछ संकोच न करना चाहिए, कि शेर का भाव दोहे की अपेक्षा कहीं उच्च ग्रैार गम्भीर है।

दूसरे, जब हम दोहे के 'विधि' शब्द पर दृष्टि डालते हैं तो हमें उपर्युक्त सम्मति के स्थिर करने में ग्रैार भी कोई सन्देह नहीं रहता। सब जानते हैं कि 'भूषण' कोई दैवी पदार्थ नहीं है जिसको 'विधि' वा 'ब्रह्मा' पहना कर किसी व्यक्ति को उत्पन्न करता हो; किन्तु वह एक कृत्रिम वस्तु है। अतः इस दोहे में उसके पायन्दाज़ बनाने का कर्ता 'विधि' को बतलाना कहाँ तक ठीक है, यह आप स्वयं सोच सकते हैं।

सारांश यह कि विद्वान समालोचक का इस दोहे के प्रति यह व्यवस्था देना कि वह "सतसई के चोटी के दोहों में से है" हमारी समझ में सतसई के गैारव को बढ़ाता नहीं किन्तु कम करता है। अन्त में हम इतना ग्रैार कहना चाहते हैं कि कोई महाशय इस लेख से यह न समझे कि हमारा अभिप्राय कवि-शिरोमणि श्रीविहारीलाल की अपूर्व कविता को सर्वथा दूषित वा कलङ्कित सिद्ध करने का है। नहीं नहीं, किन्तु हम मुक्त कण्ठ से यह स्वीकार करते हैं कि उनके कितने सारगर्भित दोहे कविता के ऐसे ऐसे गूढ़ रहस्य से परिपूर्ण हैं, जिसके शिखर तक बेचारे उर्दू वाले क्या फ़ारसी के बड़े बड़े प्रसिद्ध कवि (जिनकी कविता को देखने का हमको अब तक अवसर मिला है) नहीं पहुँचे। परन्तु इससे यह व्यवस्था नहीं दी जा सकती कि उनकी सतसई का एक पद्य भी सदोष नहीं है। आख़िर वे मनुष्य ही तो थे। यदि इतने अधिक (७००) दोहों के समूह में कहीं एक आध स्थल पर चूक गये तो आश्चर्य ही क्या है! उसके प्रकट करने से उनकी जगद्-विख्यात काव्य-प्रवीणता को कोई हानि नहीं पहुँच सकती। इसलिए कोई आवश्यकता नहीं है कि हम उस पर आवरण चढ़ाने का उद्योग करें।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा का उत्तर।

श्रीयुत "राम" महाशय ने इस दोहे की समा-लोचना के सम्बन्ध में मुझ पर ग्रैार विहारी पर ये आक्षेप या ऐतराज़ किये हैं कि मैंने (१)—"जोश में

आकर अनुचित अत्युक्ति से काम लिया है"—उर्दू-वाले शेर के साथ न्याययुक्त तुलना नहीं की गई" (२)—"दोहे में जो कुछ कहा गया है वह साधारण बात है, मैंने उसे कोष्ठक (ब्रैकट) के भीतर बढ़ा कर दिखलाया है" (३) यह दोहा सतसई के चोटी के दोहों में नहीं। इसे चोटी का दोहा बतलाना, "सतसई के गौरव को बढ़ाता नहीं किन्तु घटाता है"। और सबसे बढ़ कर यह कि (४)—"इस दोहे में एक बड़ा भारी दोष है, जिस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया"। यहाँ विहारीलाल "चूक गये" हैं—इत्यादि।

इन इलज़ामात की सफ़ाई में निवेदन है कि (१) उर्दू वाले शेर के साथ नितान्त न्याययुक्त तुलना की गई है। आपने व्यर्थ ही जोश में आकर उर्दू वाले शेर को दोहे पर तर्जीह देने की चेष्टा की है (२) जो कुछ दोहे में है (साधारण या असाधारण) वही कोष्ठक में दिखलाया गया है, एक मात्रा भी बढ़ाकर नहीं दिखलाई गई। कृपया फिर ध्यान से पढ़ जाइए। (३) यह दोहा बेशक सतसई के गौरव को बढ़ानेवाला और चोटी के दोहों में से है। यह कवितादेवी का मुकुटमणि है—प्रत्येक काव्य-मर्मज्ञ सहृदय इसका साक्षी है।—(४) यह दोहा सर्वथा निर्दोष है। बड़ा भारी तो क्या अणु मात्र भी कोई दूषण इसमें नहीं है। इसमें विहारी की चूक बतलाना "सखुनफ़हमी आलमेबाला मालूमशुद" की कहावत को चरितार्थ कर दिखाना है।

हमें यह धारणा हुई कि महाशय "राम", जैसा कि उनके लेख से प्रकट है, उर्दू-फ़ारसी के उत्तम विद्वान् होंगे। अतएव, सम्भव है, फ़ारसी-साहित्य के अनुशीलन से ही कविता के विषय में उन्होंने ऐसी राय क़ायम की हो। यह भी सम्भव है कि फ़ारसी के साहित्य में उत्तम और निर्दोष कविता के कुछ निराले नियम हों, जिनके अनुसार विहारी का यह दोहा दूषित ठहरता हो। यही सोच कर हमने किसी उर्दू-फ़ारसी के सुप्रसिद्ध कवि से इस विषय में "न्याययुक्त तुलना" कराना उचित समझा। इस-लिए शमशुलउलमा मौलाना अलताफ़हुसेन हाली के पास उर्दू वाले शेर के साथ विहारी का दोहा, तथा महाशय "राम" का ऐतराज़ भेज कर उनसे प्रार्थना की कि इस पर अपनी पक्षपातरहित सम्मति देकर अनुगृहीत करें। हमारे पत्र के उत्तर में "हाली" महोदय ने जो पत्र भेजा है उसे हम नागराक्षरों में ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं।

हाली साहब की सम्मति।

पानीपत,

६—दिसम्बर, सन् १९१०

जनाब मन—इनायतनामे का जवाब भेजने में इस सबब से देर हुई कि मैं आँखों की शिकायत के सबब लिखता पढ़ता बहुत कम हूँ। अक्सर तहरीरों में दूसरे का मोहताज रहता हूँ और बग़ैर सख़्त ज़रूरत के जवाब नहीं लिखता।

विहारी सतसई के दोहे और एक उर्दू शेर के मुताल्लिक़ जो आपने मेरी राय दरयाफ़्त की है सो मेरे नज़दीक शेर को दोहे के मज़मून से कुछ निसबत नहीं। शाइर कैसा ही नामुमकिनउलवक़ूअ मज़मून बाँधे, जब उसके साथ गोया की क़ैद लगा दी, फिर नामुमकिन नामुमकिन नहीं रहता।

मसलन्—ज़ैद बेऐब होने में गोया फ़रिश्ता है; या घोड़ा क्या है हवा है; या उसके दांतों की बतीसी गोया मोतियों की लड़ी है; या उसका चहरा चौदहवीं रात का चाँद है। पस जब कि दोहे के मज़मून में 'मानो' यानी 'गोया' का लफ़्ज़ मौजूद है तो उसमें कोई इस्तिहाला यानी* अदमइमकान बाक़ी नहीं रहता। बरख़िलाफ़ इसके शेर का मज़मून बिलकुल दायरे इमकान से ख़ारिज और† नामुमकिन उल्-वक़ूअ है। मोतरिज़ जिस दलील से मज़मून शेर से मुताल्लिक़ हद्द दरजे की नज़ाकत साबित

* अदमइमकान—असम्भवता।

† नामुमकिनउलवक़ूअ—असम्भव; जो न हो सके।

करता है उससे नज़ाकत का सबूत नहीं बल्कि उसकी नफ़ो * होती है :—

लखनऊ के एक नामवर शाइर ने अपनी मसनवी में बाज़ार की रौनक़ और चहल पहल इस तरह बयान की है कि "बाज़ार में आबे गौहर का छिड़काव होता है"—ज़ाहिर है कि इस बयान से बजाय इसके कि बाज़ार की रौनक़ साबित हो यह ख़याल होता है कि वहाँ ख़ाक उड़ती होगी, क्योंकि आबे-गौहर का छिड़काव ख़ाक को दबा नहीं सकता। इसी तरह शेर मज़कूर का हाल है। क्योंकि—

ख़्वाब में तसवीर का बोसा लेने से साहबे † तसवीर के होटों का नीला पड़ जाना बजाय इसके कि साहबे तसवीर की नज़ाकत साबित करे बोसा लेने वाले का जादूगर होना साबित करता है।

मोतरिज़ का यह ऐतराज़ भी सही नहीं है कि ज़ेवर चूंकि मसनूयी ‡ चीज़ है, इसलिए ब्रह्मा या क़ुदरत को उसका बनानेवाला क़रार देना ग़लत है। क्योंकि इनसान के तमाम मसनूयात § दरहक़ीक़त ख़ुदा के मसनूयात हैं। क्योंकि इनसान ख़ुद उसका मसनूअ़ है। इस पर दलील लाने की कुछ ज़रूरत नहीं है। क्योंकि हर ज़बान में ऐसी हज़ारों मिसालें मौजूद हैं कि इनसान के कामों को मजाज़न् ख़ुदा की तरफ़ मनसूब किया गया है, और तसव्वुफ़ और वेदान्तवाले तो इनसान के हर काम को मजाज़न् नहीं बल्कि हक़ीक़तन् ख़ुदाही का काम बताते हैं ....

ख़ाकसार दुआगो—
अलताफ़ हुसैन हाली।

आशा है, हाली महोदय की इस विद्वत्तापूर्ण बहस को पढ़कर "राम" महाशय की शंकाओं का समाधान हो जायगा।

---

* नफ़ी—अभाव।
† साहबे तसवीर—जिसका वह फ़ोटो है।
‡ मसनूयी—कृत्रिम। § मसनूयात—रचनायें।

अन्त में हम यह निवेदन कर देना आवश्यक और उचित समझते हैं कि विहारी के उक्त दोहे में स्पष्ट ही "उत्प्रेक्षालङ्कार" है। इसमें किसी भी साहित्य-मर्मज्ञ को सन्देह नहीं हो सकता। हरि-प्रकाश-टीकाकार ने 'मानहु' पद का अन्वय दोहे के पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दोनों जगह किया है। रसचन्द्रिका-टीकाकार ने "हेतूत्प्रेक्षा" बतला कर साफ़ही लिखा है कि "विधि भूषणों के पायन्दाज़ बनाने का हेतु (कारण) नहीं है। उसमें हेतु की सम्भावना की गई है। उसे यहाँ हेतु मान लिया गया है। इत्यादि। अभिप्राय यह है कि अपनी दी हुई अलौकिक सुन्दरता की रक्षा के निमित्त मानों भूषण भी स्वयं विधि ने ही प्रदान किये हैं। अर्थात् उसके भूषण भी दिव्य हैं। और, यह अलौकिक विधि-दत्त भूषण भी शरीर-सौन्दर्य के सामने ऐसे हैं जैसे मख़मली फ़र्श के आगे नारियल का पायन्दाज़ !!!

अफ़रीक़ा के बौने।

अफ़रीक़ा के बौने आदमियों के बारे में स्क्रिब्नर्स मैगेज़ीन नामक पत्र में स्टैनली साहब ने कुछ दिन हुए एक लेख प्रकाशित किया था। वह बड़ाही कौतूहलोद्दीपक है। अतएव हम उसका सारांश सरस्वती के पाठकों को भी सुनाना चाहते हैं। स्टैनली साहब का वृत्तांत उन्हीं के मुख से सुनिए:—

हमने अफ़रीक़ा महादेश के समस्त पर्वत, मरु-भूमि, वन, इत्यादि में बहुत वर्षों तक भ्रमण करने के बाद जो अभिज्ञता प्राप्त की है उसे अपने एक ग्रन्थ में प्रकाशित कर चुके हैं। अफ़रीक़ा के बौनों के सम्बन्ध में हमारे मन में पहले साधारणतः कई प्रश्न उठा करते थे। ये बौने सचमुच मनुष्य श्रेणी के हैं या नहीं? मनुष्यों की तरह इनमें युक्ति, तर्क और चिन्ता-शक्ति है या नहीं? वे जो कुछ देखते हैं उसे प्रकाशित कर सकते हैं या नहीं?

अभिज्ञता प्राप्त करने पर हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि बौनों में और हम में कोई विशेष भेद नहीं। जैसे हम विचार और वार्तालाप करते हैं वैसेही वे भी सोचते, विचारते और बातचीत करते हैं। डारविन साहब कुछ ही क्यों न कहें, इसमें कोई संदेह नहीं कि मनुष्य सदा से मनुष्य है। वह बन्दर की औलाद नहीं। मनुष्य का अन्य जन्तुओं के साथ सदा से पार्थक्य चला आता है। प्राचीन काल में जब हमारे पूर्व पुरुष पर्वत-गह्वरों में वास करते और पेड़ की छाल पहनते थे तब भी उनमें और अन्य जीवों में बड़ा भेद था। हमने मिलान करके देखा है कि बौनों की बुद्धि हम लोगों की बुद्धि से किसी तरह कम नहीं। युग-युगांतर से उनकी दशा ऐसी ही रही है। ईसा के चार सौ पैंतालीस वर्ष पहले, हिरोडोटस के समय में, इन लोगों की जैसी दशा थी वैसीही आज भी है। उस समय तथा उसके पहले वे ऐलबर्ट झील के आस पास रहते थे। इन बौने आदमियों का आविष्कार पहले पहल हिरोडोटस तथा ऐण्ड्र बाटिल ने किया था। अठारह सौ छिअत्तर ईसवी में हमने पहले पहल एक बौना मनुष्य देखा; परन्तु उसको अच्छी तरह न देख पाये। १८८१ ईसवी में, जब हम एमिल पाशा को छुड़ाने के लिए फ़ौज लेकर अफ़रीक़ा के जंगलों में गये थे, तब भिन्न भिन्न उम्र के कोई पचास बौनों को वहाँ से पकड़ लाये थे। अफ़रीक़ा में इह्वरियो और इतूरी नाम की दो नदियाँ हैं। इन्हीं दोनों नदियों के बीच के प्रदेश में बौने रहते हैं। इस प्रदेश का विस्तार कोई तीस हज़ार मील है। ऊपर लिखे हुए बौनों को जब हमने पकड़ा था तब उनके बहुत से गाँव देखे थे और उनके सम्बन्ध में बहुत सी बातें भी जानी थीं। एक गाँव को पार करने में कोई डेढ़ दो घंटे समय लगता है।

जिन जंगलों में ये बौने रहते हैं उनके बाहर अपेक्षाकृत सुसभ्य कृषक बसते हैं। बौनों की अपेक्षा वे ऊँचे, बलिष्ठ और सुन्दर होते हैं। शरीर की शोभा बढ़ाने के लिए वे मनुष्यों के दाँत और बन्दरों की हड्डियाँ आदि के माला बनाकर पहनते हैं। साधारण मनुष्यों की तरह बौनों की उँचाई भी न्यूनाधिक होती है। बौनों की अधिक से अधिक उँचाई पचास इंच होती है। सैकड़ों ऐसे भी जवान बौने देखने में आते हैं जो केवल तेंतीस इंच लम्बे होते हैं।

हमने पहले सुना था कि बौने-योद्धा ख़ूब लम्बी दाढ़ी रखते हैं; पर अनुसन्धान से मालूम हुआ कि केवल एक को छोड़ कर और किसी के दाढ़ी नहीं है। उनके शरीर का चमड़ा इतना ढीला होता है कि सहज ही में उँगली से पकड़ कर खींचा जा सकता है।

अस्त्र, शस्त्र, गहना इत्यादि अपने इस्तेमाल के कोई भी पदार्थ ये स्वयं नहीं प्रस्तुत कर सकते। वन के बाहर जो कृषक रहते हैं उन्हीं से ये लोग अन्य वस्तुओं के बदले में ये पदार्थ ले आते हैं, या चुरा लाते हैं। शहद, जंगली जानवरों का मांस, व्याघ्रचर्म, पक्षियों के पर आदि ही इनके परिवर्तन के मुख्य पदार्थ हैं। अन्य मांस जब नहीं मिलता तब ये लोग गढ़ा खोद कर हाथियों या जंगली भैंसों का शिकार करते हैं; और उनके मांस तथा हड्डियों के बदले में कृषकों से तीर-कमान, लोहे के गहने, कमरबन्द, तरकश, छुरे, थैले इत्यादि पदार्थ ले आते हैं। कच्चे पक्के केले तथा केले का मद्य ये लोग बहुत पसंद करते हैं। इसी मद्य को पीकर ये लोग आनन्द से नृत्य करते हैं। यही शराब इनकी विलासिता की सामग्री है। ये लोग नाना प्रकार के जंगली फल भी खाते हैं। उनमें से कुछ ऐसे मीठे और मज़ेदार होते हैं कि पृथ्वी की कोई भी सभ्य जाति उनका आदर कर सकती है। इसके सिवा, जिन फलों को ये खाते हैं उनमें से कोई कोई ऐसे विषाक्त भी होते हैं कि यदि कोई अन्य मनुष्य उनको खा ले तो तुरन्तही मर जाय। माँस को ये अच्छी तरह पका कर नहीं खाते; केवल उसको सेंक लेते हैं। नहीं कह सकते कि ये उसको पकानाही नहीं जानते, या इनको कच्चाही मांस अच्छा लगता है। बौने लोग नर-मांस

को बड़े प्रेम से खाते हैं। हमने देखा है कि ये लोग क़ब्र खोद कर मृत देह को उठा ले गये हैं। हमारे दल के लोगों को मार कर भी इन्होंने खाया है। एक दिन हमने देखा कि एक आहत स्त्री को घेरे हुए कुछ बौने बैठे हैं और उसके चारों ओर अग्नि जल रही है। प्रत्येक बौने के हाथ में एक एक बर्तन है। उनके बैठने के ढँग से ही मालूम होता था कि उस स्त्री का मांस खाने का ये लोग बन्दोबस्त कर रहे हैं। हमने अपने क़ैदियों से पूछ कर निश्चय कर लिया है कि अफ़रीक़ा के बौने नर-मांस-भक्षी हैं।

बौने खेती नहीं करते और न कोई अन्य पदार्थ ही उत्पन्न करते हैं। वन के बाहर वाले कृषक तंबाकू, केला इत्यादि उत्पन्न करते हैं; उन्हीं को चुरा कर बौने अपनी आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। इन लोगों के अस्त्र-शस्त्र बरछे, तीर, कमान और छुरे हैं। धनुष के दोनों किनारों पर ये रेशम के फूल लगाते हैं और बीच में बन्दर की पूँछ बाँधते हैं। यह पूँछ धनुष को कड़ा बनाये रखने के लिए व्यवहार की जाती है। तीरों की लम्बाई कोई अठारह इंच होती है। इनका अगला सिरा विष से बुझा रहता है। इन तीरों को बड़ी सावधानी से छूना चाहिए; क्योंकि सूखा विष भी बड़ा भयानक होता है। इस विष के प्रयोग से बड़ीही भीषण-यन्त्रणा-दायक मृत्यु होती है। ईश्वर न करे किसी की मृत्यु इससे हो। इस विष से मरने की अपेक्षा अन्य सब प्रकार से मरना मनुष्य सादर स्वीकार कर सकता है। इस विष-प्रयोग की बात हम पहले न जानते थे। १८८७ ई० में इन बौनों के साथ एक क्षुद्र युद्ध में हमारे कई सिपाही सामान्य रूप से घायल हुए। हमने उनका तुरन्त इलाज किया; परन्तु तब भी वे न बच सके। यदि वे तीर विषाक्त न होते तो बिना किसी चिकित्सा के ही वे अच्छे हो जाते। घायलों में से कई एक धनुष्टंकार रोग से पीड़ित होकर मरे। कई एक के आहत स्थान सड़ गये और उनकी बुरी मृत्यु हुई। जो लोग कुछ दिन बचे भी उनका रक्त ऐसा दूषित हो गया कि वे अपने जीवन को बोझ समझने लगे। उनकी समझ में ऐसे जीवन से मृत्यु ही भली।

इस विष का प्रतीकार करनेवाली ओषधि हमने कोई एक साल में ढूँढ़ निकाली। बहुत परीक्षा करने के बाद यह मालूम हुआ कि आहत स्थान के निकट एमनकार्ब (Ammon Carb) ओषधि का प्रवेश करने से बड़ा लाभ होता है। ये लोग अपने विष को जिस वस्तु से तैयार करते हैं उससे डाक्टर प्रोज़र ने स्ट्रोपांथिन (Stropanthin) नाम की एक ओषधि तैयार की है। इसकी $\frac{1}{10}$ ग्रेन मात्रा व्यवहार करने से मृत्यु हो सकती है।

बौने मनुष्य दो भागों में विभक्त हैं। एक दल के लोगों का रंग कुछ कुछ लाल होता है; दूसरे दल-वाले बेहद काले होते हैं। दोनों ही दलवालों का मस्तक छोटा और ठुड्ढी बड़ी होती है। उनके हाथ छोटे और चिकने तथा पैर टेढ़े होते हैं। तिस पर भी कितने ही बौनों का चेहरा ख़ूबसूरत होता है।

बौनों के सरदार की एक स्त्री का रूप वर्णन करने योग्य है। उसके शरीर का रंग अत्यन्त उज्ज्वल था। वह बहुत गहने न पहने थी; केवल लोहे के कुछ बाले और नाक में नथ थी। उसके छोटे छोटे काले बालों में एक प्रकार का तेल लगा हुआ था। इससे उसके मुख का सौन्दर्य्य और भी बढ़ गया था। वह ख़ूब शान्त थी। वह जिस कार्य्य पर नियुक्त थी उसको बड़े मनोयोग तथा अध्यवसाय के साथ करती थी।

यह हम लिख चुके हैं कि ये बौने सैकड़ों वर्ष से एक ही अवस्था में हैं। इसका कारण कदाचित् यह होगा कि ये सभ्य मनुष्यों के साथ नहीं मिलते जुलते। शिक्षा पाने पर ये लोग भी योरुप और अमेरिका-निवासियों की तरह सभ्य हो सकते हैं। एक चालीस वर्ष की उम्रवाली स्त्री हमारे दल में रहने से पाक-विद्या में ऐसी निपुण हो गई थी कि योरुप का कोई प्रथम श्रेणी का बावर्ची भी उसका मुक़ाबला न कर सकता था। वह बहुत ही सफ़ाई से रहती,

साफ़ कपड़े पहनती, और कोई भी वस्तु बिना हाथ धोये न छूती थी। उसमें यदि कोई दोष था तो यह कि वह बड़ी वाचाल थी। वह अपनी जिह्वा को थोड़ी देर भी न रोक सकती थी। यह न समझिए कि वह कोई बुरी बातें कहती थी; उसकी बातें बड़ी ही रहस्य-पूर्ण होती थीं।

हमारे क़ैदियों में एक अठारह वर्ष का बालक भी था। वह बड़ा अल्पभाषी था। दिन रात वह अपने काम में ही लगा रहता था; किसी से बातचीत न करता था। यदि कोई उससे प्रश्न करता तो वह लज्जा के मारे मर सा जाता था। कोई उस पर यदि अत्याचार भी करता तो वह उसे चुपचाप सह-लेता था।

मतलब यह कि असभ्य बौने शिक्षा पाने पर थोड़े ही दिनों में सभ्य हो सकते हैं। यद्यपि वे अपने व्यवहार की एक भी वस्तु नहीं बना सकते तथापि उनमें अन्य मनुष्यों की तरह सज्ञानता ज़रूर है। ये लोग प्रेम करना और प्रेम का बदला देना भी जानते हैं। ये बड़े ही साहसी तथा अध्यवसायी होते हैं। वन में सिंह और बाघ से भी नहीं डरते और चतुरता में चिम्पैंज़ो बन्दर को भी इनसे हार माननी पड़ती है। हमें योरपवालों के ऐसे बहुत से दृष्टान्त मालूम हैं जो जंगली भैंसों और हाथियों के द्वारा हत हुए हैं। पर ये क्षुद्र असभ्य बौने इन भीषण जन्तुओं को सहज ही में मार डालते हैं।

बौने लोगों के गाँव बड़े बड़े पेड़ों के नीचे होते हैं। हमने एक ऐसा गाँव देखा है। उसमें छियानवे घर थे। वे छोटे घर बहुत ही साफ़ सुथरे थे। चलने फिरने से बीच में जो रास्ता बन गया था वह पाँच छः फ़ीट से अधिक चौड़ा न था। जिस गाँव का रास्ता जितना ही अधिक चौड़ा होता है उसकी बस्ती उतनी ही अधिक होती है। घर के दोनों ओर दरवाज़े होते हैं। दरवाज़े तीन फ़ीट से अधिक ऊँचे नहीं होते। आक्रमण के समय घर से बाहर भागने के लिए गुप्त द्वार भी होते हैं। गाँव के सब घर वृत्ताकार बने होते हैं और वृत्त के बीच में उनके राजा या सरदार का घर होता है। राजा की चौकसी रखना प्रत्येक बौने का मुख्य कर्तव्य है। घरों की ऊँचाई चार फ़ीट, लम्बाई आठ-दस फ़ीट और चौड़ाई छः सात फ़ीट होती है। पेड़ों के बड़े बड़े पत्ते ही उत्तम बिछौने समझे जाते हैं।

सवेरा होने पर प्रायः सभी बौने भोजन की सामग्री एकत्र करने के लिए घर से बाहर निकलते हैं। पहले दिन के बनाये हुए जाल और गढ़ों को ढूँढ़नाही उनका प्रथम कार्य होता है। घरों में जो लोग रह जाते हैं वह गाँव की रखवाली करते हैं।

इन बौनों के साथ कभी कभी बाहर रहनेवाले किसानों की लड़ाई हो जाती है। इसका कारण यह है कि ये लोग रात को उनके यहाँ से चीज़ें चुरा लाते हैं। इन लोगों में कोई नैतिक नियम न होने से चोरी करने में बड़ी सुविधा होती है। इन्हें ज्योंहीं कोई चीज़ पसन्द आती है त्योंही ये उसे ले भागते हैं। इसीलिए किसान कहते हैं कि यह जाति पृथ्वी से मिट जाय तो अच्छा हो। बौने यदि अस्त्र शस्त्र से सज्जित न हों तो कई मिल कर भी एक किसान का मुक़ाबला नहीं कर सकते। किन्तु यदि हाथ में अस्त्र हो तो एक बौना भी एक बड़े अस्त्रधारी योद्धा का सामना कर सकता है। हमारे दल का एक साहसी बन्दूक़ धारी सिपाही एक दिन एक साधारण बौने का सामना न कर सका था। बौने सदा सतर्क रहते हैं। किन्तु हमारे सिपाही किसी को सामने न देख कर तुरन्त असावधान हो जाते हैं। इसीलिए वे मारे जाते हैं।

बौनों की देह से एक प्रकार की दुर्गंधि आती है। इसलिए यदि वे कहीं आस पास होते हैं तो तुरन्त जान लिये जाते हैं।

कितनी शताब्दियों से ये लोग इस जंगल में रहते हैं, इसका निर्णय करना कठिन है। किसी किसी इतिहास-वेत्ता का अनुमान है कि ये लोग कोई साढ़े तीन हज़ार वर्ष से यहाँ रहते हैं। इतने दिन असभ्य अवस्था में रहने पर भी ये पृथ्वी से लुप्त नहीं हुए।

अतएव यह आशा की जाती है कि ये भविष्यत् में अवश्य ही सभ्य हो जायँगे।

उदयनारायण वाजपेयी।

हिन्दी का व्याकरण।

हिन्दी की इतनी उन्नति होने पर भी आज तक हिन्दी में न तो हिन्दी का व्याकरण ही लिखा गया और न (उससे कठिन) उसका इतिहास ही बना। यद्यपि ये दोनों काम एक प्रसिद्ध सभा द्वारा हो रहे हैं तो भी ये काम एक ही शिक्षित महाशय की शक्ति के बाहर नहीं हैं। विलायतवालों ने हिन्दुस्तान-सम्बन्धी अनेक विषयों के साथ साथ अपनी भाषा में हिन्दी-साहित्य का इतिहास और उसका व्याकरण भी यथोचित पूर्णता से लिखा है; पर हम लोग उस आधार पर भी कुछ न कर सके। हमसे कई लोगों ने यह पूछा कि हिन्दी में ऐसा साहित्य-संग्रह और व्याकरण बताओ जो एफ० ए० के दर्जे में पढ़ाया जाय। पाठक-गण कदाचित् इस प्रश्न का उत्तर दे सकेंगे।

हिन्दी के व्याकरण जो हिन्दी में पहले पहल लिखे गये हैं वे बहुधा पादरी लोगों ने लिखे हैं। हम लोग "भाषा-भास्कर" की निन्दा किया करते हैं; पर उसके सूत्र आज तक "भाषा-प्रभाकर" में पाये जाते हैं। साहित्य के आधार से व्याकरण लिखना हम लोगों को इतना कठिन हो रहा है कि पण्डित केशवराम भट्ट को अपनी पुस्तक में उर्दू शायरों के उदाहरण देने पड़े हैं। अब यहाँ यह संदेह हो सकता है कि क्या हिन्दी-रचना अभी इतनी स्थिर नहीं है कि उसका व्याकरण लिखा जा सके; अथवा कविता के रस में मत्त होने से हम लोगों को व्याकरण तलछट के समान देख पड़ता है। जो हो, पर, व्याकरण के बिना हिन्दी की शोभा फीकी है और शिक्षित हिन्दुस्तानियों के लिए यह कलंक की बात है। बंगाली और मराठी भाषाओं में एक आने से लेकर सोलह आने व्याकरण अँगरेज़ी और देश-भाषा में लिखे हुए पाये जाते हैं; पर हिन्दी में ऊँची कक्षाओं में भी "बालबोध व्याकरण" पढ़ाया जाता है। हाल में "वर्तमान अँगरेज़ी-व्याकरण के ढँग पर" लिखा हुआ एक और व्याकरण प्रचलित हुआ है जो उसी प्रकार काम दे रहा है। पाठ्य पुस्तकें नियत करनेवालों को विवश हो कर व्याकरण के नाम से कोई न कोई पुस्तक चुननी ही पड़ती है।

इस लेख में हम व्याकरण की पुस्तकों के विषय में कुछ न कह कर उसके वाद-ग्रस्त विषयों का उल्लेख करते हैं; और हमें इस बात की आशा है कि हिन्दी-व्याकरण लिखनेवाले इसका निर्णय करेंगे। कुछ उदारण अशुद्ध भाषा के भी दिये जायँगे।

(१) राजा का बहुवचन—कई पुस्तकों और पत्रों में 'राजे' शब्द पाया जाता है। आगरे और दिल्ली की बोली में 'राजे' शब्द नहीं आता है। प्रेमसागर और परीक्षा-गुरु इसके लिए प्रमाण हैं। राजा शिव-प्रसाद ने भी 'राजे' कभी नहीं लिखा। आज तक की छपी व्याकरण-पुस्तकों में भी राजा का बहुवचन 'राजे' नहीं बताया गया। उर्दू में भी 'राजे' नहीं होते। तो क्या अब इस रूपान्तर को एकदेशीय प्रयोग कहना चाहिए? व्याकरण बहुधा लिखी हुई भाषा पर से बनता है। और लिखने की तथा बोलने की भाषाओं में प्रायः सभी कहीं अन्तर हुआ करता है। ऐसी अवस्था में "राजे" लिखना ठीक है या नहीं? और यह नया रूपान्तर केवल लेखकों की भूल के कारण व्याकरण में लिया जाना चाहिए या नहीं? काल पाकर 'राजे' प्रबल होकर 'राजा' को कुछ न समझेंगे। यहाँ उन नियमों के बताने की आवश्यकता नहीं है जिनके कारण 'घोड़ा' का 'घोड़े' हो जाता है; पर 'पिता' का 'पिते' नहीं होता। मेरा मत यह है कि "दिल्ली और आगरे की खड़ी बोली" के अनुसार 'राजे' अशुद्ध है।

(२) भाववाच्य—हिन्दी में अकर्मक-क्रियाओं का कर्मवाच्य रूप पाया जाता है और उनके साथ

कोई कर्त्ता नहीं रहता। इस रूप को भाववाच्य कहते हैं। इस रूप से बहुधा अशक्यता का बोध होता है; जैसे, मुझसे उठा नहीं जाता। कभी कभी कर्मवाच्य में भी यही अर्थ रहता है; जैसे, मुझसे उसका दुख न देखा गया। यहाँ तक तो सब बातें व्याकरण की हैं। अब हिन्दी में कहीं कहीं एक निराला ही भाववाच्य पाया जाता है, जिसका किसी व्याकरण में पता ही नहीं लगता। लेखों में भी विशेष लोग और विशेष स्थान ही इसके जन्मदाता हैं। वह भाववाच्य यह है—"इसके पीछे नौकर को बुलाया गया"। जान पड़ता है कि जल्दी के कारण शब्दों का परस्पर सम्बन्ध ध्यान में न रहने से इस प्रयोग की सृष्टि हुई है। हमने एक व्याकरण की प्रस्तावना में यह रचना देखी; पर वाच्य के प्रकरण में उसके विषय में कुछ भी लिखा हुआ न पाया। इससे यह अनुमान होता है कि लोग ऐसा बोलते हैं और लिखते भी हैं; पर उसे व्याकरण में स्थान पाने के योग्य नहीं समझते। यह वाच्य बहुधा उपन्यासों में मिलता है, जिनके लेखक वर्णन में तल्लीन होकर कभी कभी वाक्यों का सिर-पैर भूल जाते हैं। क्या यह वाच्य भी व्याकरण में लिया जाय?

(३) कर्मणि प्रयोग—यह विषय व्याकरणों में इस नाम से बहुधा नहीं मिलता। भाषाभास्कर में केवल एक जगह इस सम्बन्ध में "प्रयोग" शब्द नाममात्र के लिए आया है। अँगरेज़ी में हार्नली ने जो गौड़-भाषाओं का व्याकरण लिखा है उसमें यह विषय समझाया है और "प्रयोग" शब्द के विषय में लिखा है कि ये नाम देशी हैं। जिस प्रयोग का वर्णन हम यहाँ करते हैं उसका उदाहरण यह है:—मैंने आपकी बात सुनी। यहाँ पर कर्म के लिंग और वचन क्रिया के अनुसार होने से इस रचना को कर्मणिप्रयोग कहते हैं। मराठी में यह विषय आता है और हरि गोपाल पाध्ये की "भाषातत्त्वदीपिका" में मराठी के अनुसार इसका वर्णन हिन्दी में किया गया है। इस विषय में जो भूल होती है उसके कई उदाहरण एक बार सरस्वती में सत्यहरिश्चन्द्र और मुद्राराक्षस से दिये गये थे। लव-कुश चरित में इसके कई उदाहरण हैं जो "छत्तीसगढ़-मित्र" में बताये गये थे; जैसे,

मैंने टिप्पणी भी लिख दिया है।
अस कहि सकल कथा तेहि केरी।
कह्यो कीश रिस रोकि घनेरी"॥
"युद्धाज्ञा सिय सों बहुरि पायो लव रणधीर"।

ऐसी रचना सब जगह नहीं पाई जाती। राजा शिवप्रसाद ने जिस काशी में रह कर ऐसी भाषा नहीं लिखी उसी पुरी से ऐसी भाषा का देशान्तरों में प्रचार होना बड़े ही अचरज की बात है। यदि ये बातें छपने में हो जाती हों तो फिर उसके लिए कुछ उपाय ही नहीं है! क्या इस रचना के समर्थन में भी व्याकरण में एक नियम बढ़ाना पड़ेगा!!!

(४) स्त्रीलिंग हाथी—किसी किसी (बनारसी) व्याकरण में हाथी स्त्रीलिंग लिखा है; क्योंकि लोग उसे वहाँ स्त्रीलिंग बोलते हैं। बुंदेलखंड के कुछ भागों में 'मोर' भी स्त्रीलिंग है; पर व्याकरणों में 'मोर' पुँल्लिंग और 'मोरनी' स्त्रीलिंग लिखा जाता है। क्या हिन्दी का व्याकरण बनारसी हिन्दी के अनुसार होना चाहिए? या यह समझना चाहिए कि बनारसी लोग शुद्ध हिन्दी नहीं बोलते? 'हाथी' शब्द सब जगह स्त्रीलिंग नहीं है; क्योंकि संसार के सब से बड़े जन्तु का लिंग जानने में सब को कठिनाई नहीं पड़ती। किसी पुस्तक में भी हाथी स्त्रीलिंग नहीं है; तो फिर बोलने की भाषा को, और तिस पर भी केवल एक देशी भाषा को, इतना मान क्यों दिया जाय? देश-भेद के कारण भाषा कई प्रकार की अवश्य होती है; पर सब लोग कई कारणों से एक विशेष स्थान की भाषा को प्रमाण मान कर उसी के अनुसार व्याकरण लिखते हैं। उर्दू में भी दिल्ली और लखनऊ ही प्रमाण हैं; क्योंकि इन दो स्थानों में भाषा को राजाश्रय प्राप्त था और लेखकों की संख्या अधिक थी। उर्दू में जब किसी शब्द के विषय में या किसी रचना के संबन्ध से विवाद होता है तब यही पूछा जाता है कि यह बात किसके "कलाम"

में आई है। हिन्दी का विस्तार बहुत है; इसलिए इस भाषा का कोई माननीय रूप अवश्य निश्चित होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा तो सब को "हमने आपकी बात नहीं सुना" लिखना पड़ेगा, और फिर इस बात की खोज में रहना पड़ेगा कि सब प्रदेशों के सब रूप किस पत्र में इकट्ठे मिल सकेंगे। समालोचना के अभाव से तो यहाँ तक हुआ है कि भूलों से भरी हुई हिन्दी पुस्तकें भी ऐसी ऊँची जगह पहुँच गई हैं जहाँ पर विद्या का अंत हो जाता है और भाषा के झगड़ालू लोग झाँक तक नहीं सकते।

(५) कोई कोई 'चाहिये' का रूप 'चाहिए' लिखकर उसका बहुवचन चाहिएं लिखते हैं, यद्यपि यह शब्द अव्यय-रूप है। 'लड़की' का बहुवचन कहीं लड़कियें और कहीं 'लड़कियाँ' लिखा जाता है। 'मिलाया' का स्त्रीलिंग रूप कोई मिलाई और कोई 'मिलायी' लिखते हैं। कोई 'जावे' और कोई 'जावै' लिखते हैं। इन सब उदाहरणों में यह नहीं जान पड़ता कि ये रूप उच्चारण के अनुसार होते हैं अथवा इन रूपों के अनुसार उच्चारण करना पड़ता है।

(६) "कद्रू ने विनता को दासी बना ली"— इस प्रकार के वाक्यों में बहुधा भूलें होती हैं। और ये भूलें प्रायः सभी स्थानों में पाई जाती हैं। ऊपर के उदाहरण में दो कर्म हैं। जब सकर्मक क्रिया में एक ही कर्म रहता है और उसकी विभक्ति प्रकट रहती है तब अप्रधान कर्त्ता के साथ क्रिया अन्य पुरुष पुँल्लिंग एकवचन में रहती है; जैसे, "रानी ने सहेलियों को बुलाया"। इस नियम के अनुसार ऊपर के वाक्य की क्रिया मुख्य कर्म "विनता को" के कारण "बना लिया" होनी चाहिए; पर उसके साथ एक दूसरा कर्म "दासी" है जो क्रिया के निकट है और स्त्रीलिंग है। इससे "बना ली" भी ठीक जान पड़ता है। इसी प्रकार का उदाहरण "गाड़ी को खड़ा करो" है। इस वाक्य को कोई कोई "गाड़ी को खड़ी करो" कहते हैं। एक और वाक्य हम इसी प्रकार का लिखते हैं। साधु ने स्त्री को रानी समझा (समझी?) इस वाक्य में कठिनाई यही है कि क्रिया किस कर्म के अनुसार होनी चाहिए।

(७) अब हम कुछ भूलें एक हिन्दी मासिक पत्र से उद्धृत करते हैं। यह पत्र नागपुर के कृषि-विभाग से प्रकाशित होता है और ६ वर्ष से मध्य-प्रदेश के किसानों को शिक्षा दे रहा है। ये भूलें छठी पुस्तक के आठवें नम्बर में हैं। इस पत्र की भाषा के विषय में, जहाँ तक जाना गया है, आज तक किसी ने कुछ नहीं लिखा।

(१) सुधारणा करने की एक रीति है कि जो साधी होकर ख़र्च की नहीं है और वह हर एक किसान के ताकद के बाहर नहीं है।

(२) कन्हार यह काली नरम ज़मीन होती है।

(३) सिंचाई के न होने से यहाँ की रैयत को जो बुरा अनुभव आया है उस पर से उन्होंने यह सिखापन लिया है कि बुरे सालों में अगर किसी बात की वे आशा कर सकते हैं तो वह केवल प्राण बचाना यही है।

(४) इन लोगों को कामदार यह नाम दिया गया है।

(५) शर्त यह रहती है कि एक साल के आख़ीर में उतनाही बीज उसने वापिस ला देना चाहिये।

(६) यह काम सरकार का न रहना चाहिए कि वे बीज पैदा करने के लिये खेतियाँ रखे।

इन उदाहरणों से दो बातें जान पड़ती हैं (१) अँगरेजी का जो अनुवाद होता है वह शब्द-प्रति-शब्द रहता है (२) अनुवाद करनेवाला हिन्दी नहीं जानता और उसकी मातृ-भाषा कदाचित् मराठी है। प्रायः इसी प्रकार की भाषा उन प्रश्न-पत्रों में रहती है जो हिन्दी-नार्मल-स्कूल के विद्यार्थियों की परीक्षा में दिये जाते हैं। भाषा और व्याकरण का संहार इससे अधिक और क्या होगा?

(८) एक व्याकरण में, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, 'किन्हीं ने', 'किन्हीं को', 'किन्हीं से',

आदि रूप दिये हैं। पुस्तक में इन शब्दों के उदाहरण वाक्य बनाकर नहीं लिखे गये। इसलिए हम, यहाँ पर, वाक्यों में उनका प्रयोग करते हैं।

यह काम किसी ने नहीं किया।
यह काम किन्हीं ने नहीं किया।
यह पुस्तक किसी को दे दो।
यह पुस्तक किन्हीं को दे दो।

व्याकरण की बहुत सी पुस्तकों में लिखा है कि 'कोई' शब्द बहुवचन में घटित नहीं होता और साहित्य में भी इस प्रकार के उदाहरण नहीं मिलते। बोलने में भी ऐसी रचना नहीं पाई जाती। ऐसी अवस्था में यह रूप कहाँ से आया, इसका निर्णय कठिन है। जो लोग हिन्दी का शुद्ध व्याकरण लिखते हैं वे बहुधा साहित्य पढ़ कर नियम बनाते हैं। वे अँगरेज़ी के व्याकरण का हिन्दी में अनुवाद कर उस अनुवाद को हिन्दी व्याकरण नहीं कहते।

(९) "राजा को नौ पुत्र थे"। इस प्रकार के कई उदाहरण भारतेन्दु की पुस्तकों में पाये जाते हैं। कोई कोई लेखक "को" के बदले "के" लिखना अधिक शुद्ध समझते हैं। "उसका एक पुत्र था", "उसको एक पुत्र था" और "उसके एक पुत्र था"—इन एकार्थी तीन वाक्यों में थोड़ा सा अर्थ-भेद है और उस पर ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार के वाक्यों में 'को' का उपयोग मराठी में बहुत होता है; जैसे, त्याला एकंदर सहा मुलें आहेत। संभव है कि मराठी का प्रभाव हिन्दी पर पड़ा हो।

(१०) क्रियार्थक संज्ञा—इसके सम्बन्ध में तीन प्रकार की रचना देखने में आती हैः—तुमको यह बात कहना पड़ेगा; तुमको यह बात कहना पड़ेगी; तुमको यह बात कहनी पड़ेगी। इस प्रकार के कई उदाहरण पुस्तकों में मिलते हैं। जो लोग पहले उदाहरण का उपयोग करते हैं वे "बात-कहना" को एक शब्द मानते हैं और अंतिम शब्द के अनुसार क्रिया रखते हैं। दूसरे उदाहरण ये हैंः—बातें करना कठिन थीं; बातें करनी कठिन थीं; बातें करना कठिन था। यहाँ दो उदाहरणों में कर्त्ता 'बातें' हैं और पहले उदाहरण में क्रियार्थक संज्ञा विशेषण के समान आकर 'बातें' संज्ञा से लिंग में अन्वित होती है।

कामताप्रसाद गुरु।

विविध विषय।

१—आसमानी युद्ध।

बड़े बड़े ज्ञानियों और विज्ञानियों का यह ख़याल है कि हवा में उड़नेवाले विमानों या जहाज़ों का ख़ूब प्रचार होने से संसार में शान्ति का निष्कण्टक राज्य हो जायगा। फिर लड़ाइयाँ न होंगी। ख़ून का बहना बन्द हो जायगा। कोई देश किसी अन्य देश को व्यर्थ छेड़ने की मूर्खता न करेगा। परन्तु यह जब होगा तब। इस समय तो बिलकुल ही उलटे सामान हो रहे हैं। कभी यह पढ़ते हैं कि किसी ने तीर की शकल की एक ऐसी कल बनाई है जो आसमान पर बहुत ऊँचे चढ़ जायगी और वहाँ से नीचे, थोड़ी उँचाई पर उड़नेवाले, हवाई जहाज़ों पर गिर कर उन्हें चकनाचूर कर देगी। कभी यह पढ़ते हैं कि ऐसी तोपें तैयार हुई हैं जिनका मुँह आसमान की तरफ़ रहेगा और जिनसे छोड़े गये गोले उड़नेवाले जहाज़ों को तोड़ कर एक क्षण में नीचे गिरा देंगे। कभी यह पढ़ते हैं कि हवाई जहाज़ों पर ख़ुद भी तोपें रहेंगी और वे एक मिनट में सौ सौ पचास पचास गोलों की बाढ़ें दागेंगी। सो शान्ति तो दूर रही, अशान्तिही उत्पन्न करने की सामग्री अभी इकट्ठी की जा रही है। कुछ भी हो, आसमान से गोलों और गोलियों का छोड़ा जाना बड़ाही भयङ्कर काम होगा। एक हज़ार गज़ की उँचाई से छोड़ी गई गोलियों का वेग—एक सेकंड में चार सौ फ़ुट फ़ी गोली के हिसाब से भी अधिक होगा। इस समय तक जितनी अच्छी अच्छी हवाई कलें बनी हैं सबमें चार हज़ार गोलियाँ रह सकती हैं। यदि इस तरह

की पचास कलों से गोलियों की बाढ़ दागी जाय तो लाखों सेना का नाश ज़रा ही देर में हो सकता है। इस दशा में आक्रमण की गई सेना यदि ज़मीन से ऊपर की ओर फ़ायर करेगी तो उसकी गोलियों की बाढ़ लौट कर उलटा उसी पर गिरेगी और उसी का संहार करेगी। फ़्रांस के पास इस समय कोई चालीस पचास ऐसे हवाई जहाज़ हैं जिनसे चार चार पाँच पाँच सौ गोलियाँ दागी जा सकती हैं। वहाँ के फ़ौजी अफ़सरों का यह ख़याल है कि इन इतनी कलों के कारण उनकी सेना का बल इतना बढ़ गया है जितना कि डेढ़ लाख योद्धा और रखने से भी न बढ़ता। शायद वह दिन दूर नहीं है जब ये कलें बड़ी बड़ी सेनाओं का रखना बिलकुल ही व्यर्थ साबित कर देंगी।

२—'ज्ञ' का उच्चारण।

पण्डित माधव राव आठले, भेलसा से लिखते हैं:—

हिन्दी भाषा की लिखावट और उसका उच्चारण, संस्कृत भाषा की लिखावट और उच्चारण से सब प्रकार मिलता है। अतएव संस्कृत भाषा के उच्चारण के नियम हिन्दी भाषा में भी चरितार्थ हो सकते हैं। जिन जिन अक्षरों का संयोग संयुक्ताक्षर के उच्चारण में मालूम होता है, उन उन अक्षरों को मिलाकर संयुक्ताक्षर लिखा जाता है। परन्तु वर्णमाला में क्ष, त्र और ज्ञ ये तीन संयुक्ताक्षर ऐसे हैं कि जिन अक्षरों का संयोग इनके उच्चारण में मालूम होता है वे अक्षर इनमें बिलकुल नहीं दिखाई देते। इसीलिए ये अक्षर वर्णमाला में जोड़ दिये गये हैं। ऐसा मेरा मत है। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस प्रकार क्ष का उच्चारण 'कष' के सदृश होता है, क्योंकि वह क और ष के संयोग से बना है; और त्र का उच्चारण 'त्र' के सदृश होता है, क्योंकि वह त और र के संयोग से बना है; उसी प्रकार ज्ञ का उच्चारण 'ज्ञ' के सदृश होना चाहिए क्योंकि वह ज और ञ के संयोग से बना है। फिर ज्ञ का उच्चारण 'ज्ञ' के सदृश क्यों नहीं होता? आज कल इसका उच्चारण महाराष्ट्र लोग प्रायः 'दुन्ञ' और कोई कोई 'ग्ञ' करते हैं। परन्तु शुद्धता के संबंध में विचार किया जाय तो 'दुन्ञ' और 'ग्ञ' ये दोनों उच्चारण अशुद्ध मालूम होते हैं, क्योंकि जिस अक्षर का जो स्थान हो उस अक्षर का उच्चारण उसी स्थान से होना चाहिए—यह प्रसिद्ध व्याकरणप्रणेता पाणिनि मुनि का मत है। ज्ञ बना है ज और ञ के संयोग से। इससे इसका स्थान तालु है। दुन्ञ उच्चारण करने से दंत और ग्ञ उच्चारण करने से कण्ठ—ये स्थानविशेष आते हैं। इसलिए ज्ञ का उच्चारण 'दुन्ञ' या 'ग्ञ' के सदृश करना अशुद्ध है। मेरी राय में इसका शुद्ध उच्चारण 'ज्ञ' है।

मेरी यह इच्छा है कि इस अक्षर के उच्चारण के विषय में कोई महाशय निर्णयात्मक उत्तर दें तो मैं उनको बहुत धन्यवाद दूँ।

३—मिट्टी की ईंटों पर ग्रन्थ।

पहले काग़ज़ बनाना लोग न जानते थे। भोजपत्र और ताड़ के पत्तों पर लिखने की तरकीब भी न मालूम थी। उस समय मिट्टी की ईंटों पर ग्रन्थ लिखे जाते थे। लिखे क्या जाते थे, उन पर खोदे जाते थे। ऐसे एक बहुत बड़े ग्रन्थ-समूह या पुस्तकालय का पता प्राचीन बाबुल के चाल्डिया प्रान्त में लगा है। लाखों ईंटें ज़मीन में गड़ी हुई मिली हैं। उन पर बत्तीस हज़ार लेख हैं। ग्रन्थ भिन्न भिन्न विषयों के हैं। छोटे छोटे बच्चों से लेकर वयस्क आदमियों तक के लिए रचे गये ग्रन्थ इस संग्रह में हैं। यह संग्रह कोई साढ़े चार हज़ार वर्ष का पुराना है! इन लेखों से उस समय की लिपि, भाषा, व्यवहार और रीति-रस्म आदि अनेक बातों का पता लगाया जा सकता है। कितनेही पुरातत्त्वज्ञ इन लेखों को पढ़ने और उन्हें टीका-टिप्पणी समेत प्रकाशित करने का उद्योग कर रहे हैं। आशा है, इन लेखों की सहायता से दुनिया के बहुत पुराने समय का इतिहास मालूम हो जायगा।

४—विलक्षण स्मरणशक्ति।

लन्दन में लास्टन नाम का एक आदमी है। उसकी स्मरण-शक्ति बड़ीही विलक्षण है। अँगरेज़ी की "रिव्यू आव् रीव्यूज़" नामक मासिक पुस्तक में लिखा है कि लास्टन को दुनिया भर की मुख्य मुख्य चालीस हज़ार घटनाओं की तारीखें याद हैं! पूर्वोक्त मासिक पुस्तक के सम्पादक ने लास्टन की परीक्षा ली और जैसा वह दावा करता है वैसाही उसे पाया। इस अद्भुत स्मरण-शक्ति के आदमी को कोई १४०० लड़ाइयों की तारीखें याद हैं। किसी भी महत्त्वपूर्ण घटना का आप नाम लीजिए, वह तत्काल उसकी तारीख़ बतला देगा। हज़ारों तारीखें उसके सिर में भरी हुई हैं। आप उसे एक सौ घटनाओं की तारीखें आध घंटे में बतला दीजिए। बस इतनीही देर में वे उसके दिमाग़ में नक़्श हो जायँगी। फिर आप जो तारीख़ जब चाहिए पूँछ लीजिए। लास्टन ने अपना सिर बेच देने की नोटिस दी है। वह उसके लिए कम से कम १५००० रुपये माँगता है। इतने रुपये देने से, मरने पर, उसका सिर परीक्षा के लिए डाक्टरों को मिल सकेगा। परीक्षा से वे इस बात की जाँच कर सकेंगे कि इसके सिर में है क्या बात, जो हज़ारों तारीखें इसे याद रहती हैं।

५—जालन्धर का कन्यामहाविद्यालय।

जालन्धर में जो कन्या-महाविद्यालय है उस पर सरस्वती में दो एक दफ़े लेख और नोट निकल चुके हैं। इस विद्यालय को स्थापित हुए १३ वर्ष हुए। इसकी गत वर्ष की रिपोर्ट देखने से जान पड़ता है कि यह दिनों दिन उन्नति कर रहा है। जिन्हें इसकी बाबत कुछ विशेष जानना हो वे विद्यालय के मुख्याधिष्ठाता से नियमावली और रिपोर्ट आदि मँगा कर सब बातें जान सकते हैं। इस संख्या में इस विद्यालय की चिकित्सा-श्रेणी का एक चित्र प्रकाशित किया जाता है। यह १९०९ ईसवी का है। इस चित्र में जो लड़की बैठी हुई है उसका नाम है भगवान देवी। इस लड़की ने एक ग़रीब के घर जन्म पाया। पर अपनी विद्याभिरुचि से प्रोत्साहित होकर इसने एक सद्गृहस्थ के यहाँ नौकरी कर ली। इस तरह जीविका-निर्वाह का प्रबन्ध हो जाने पर यह इस विद्यालय में पढ़ती रही। इसे विद्यालय के खेलों से बड़ा शौक़ था। लुधियाने के एक सज्जन के साथ इसका विवाह हुए अभी सात ही आठ महीने हुए। अभी हाल की बात है, एक दिन एक चोर भगवान देवी के घर घुसा। उस समय घर पर कोई पुरुष न था। स्त्रियाँ कई थीं। पर चोर को देख कर वे सब भाग गईं। भगवान देवी डरी नहीं। उसने एक डंडा उठाया और उससे चोर की बेतरह ख़बर ली। चोर ने जो माल असबाव चुराया था भगवान देवी ने सब उससे रखवा लिया और पुरुषों के आने तक घर से उसे निकलने भी नहीं दिया। इस कारण देवीजी की अख़बारों में ख़ूब स्तुति हो रही है। सचमुच ही भगवान देवी स्तुतिपात्र है।

६—भारतीय गणित और ज्योतिष-शास्त्र का उद्धार।

प्राचीन भारत में गणित और ज्योतिष-शास्त्र बड़ी उन्नत अवस्था में था। इन विषयों पर यहाँ के विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ ऐसे लिखे हैं, जिनके जोड़े के ग्रन्थ अन्यत्र नहीं मिलते। किन्तु कालक्रम से यहाँ के लोगों का ध्यान इन शास्त्रों की ओर से हट जाने के कारण कितनेहीं ग्रन्थ लुप्तप्राय हो गये हैं। हर्ष का विषय है कि उनके उद्धार का प्रयत्न होने लगा है।

इस विषय में क़ासिम-बाज़ार के महाराज का उद्योग प्रशंसनीय है। गत कई वर्षों से आप भारतीय गणित और ज्योतिष की उन्नति का प्रयत्न कर रहे हैं। आप चाहते हैं कि भारतीय गणित और ज्योतिष के इतिहास की खोज की जाय। कलकत्ते के विश्वविद्यालय को आप चार हज़ार रुपये साल के हिसाब से पाँच वर्ष में बीस हज़ार रुपये देना चाहते हैं। इस रुपये से भारतीय गणित और ज्योतिष-सम्बन्धी प्राचीन पुस्तकों की खोज की जायगी, उन

जालन्धर के कन्यामहाविद्यालय की प्रारम्भिक चिकित्सा-श्रेणी और डाकृर गणेशदास।

इंडियन प्रेस, इलाहाबाद।

पर टीकायें लिखी जायँगी, फिर वे सटीक ग्रन्थ प्रकाशित किये जायँगे। इससे इन विषयों की संस्कृत-पुस्तकें लुप्त न रहेंगी और विद्वानों को उनके अवलोकन का अवसर मिलेगा। विश्वविद्यालय ने आपके इस दान और प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार किया है।

७—गोरे आदमियों की एक नई जाति।

योरप और अमेरिका के सभ्य और शिक्षित लोगों को अपने गोरे होने का बड़ा गर्व है। गोरा चमड़ा होना वे अधिक बुद्धि, बल, पराक्रम और तेजस्विता की सनद समझते हैं। कालों पर प्रभुत्व करना भी वे इसी चमड़े की सफ़ेदी का एक गुण मानते हैं। मानों इनके इस घमंड को निःसार सिद्ध करनेही के लिए एक और गोरी जाति का पता लगा है। यह जाति न सभ्य है, न शिक्षित है, न सम्पत्ति-शालिनी है। दक्षिणी अमेरिका के अगम्य जंगलों में, सभ्य समाज की बस्ती से हज़ारों कोस की दूरी पर, मेजर पी॰ एच॰ फासेट ने इस जाति का पता लगाया है। ये लोग बेहद गोरे हैं; पर बे डाढ़ी मूछ के हैं। इनके बाल कुछ कुछ सुर्ख़ी लिये हुए हैं। अमेरिका के अमेज़ान प्रदेश के असभ्य इंडियन इनके अस्तित्व को मुद्दतों से मानते चले आते हैं। पर सभ्य गोरों को इनकी बातों पर विश्वास न आता था। उनका वह अविश्वास अब पूर्वोक्त मेजर महाशय ने दूर कर दिया। इस ख़बर ने योरप और अमेरिका के बड़े बड़े वैज्ञानिकों के कान खड़े कर दिये हैं। वे सोच रहे हैं कि इन असभ्यशिरोमणियों के शरीर पर गोरा चमड़ा कहाँ से आया? इन लोगों के विषय में विशेष बातें जानने के लिए सभ्य पण्डितों की उत्सुकता बेहद बढ़ रही है। इन नये गोरों की बस्ती में जाकर सब बातें जानने की तैयारियाँ हो रही हैं। सम्भव है, शीघ्रही इनका विशेष वृत्तान्त प्रकाशित हो।

८—उपोषण-व्रत।

भारतवर्ष में उपोषण या उपास करने की प्रथा बहुत पुरानी है। आठवें पन्द्रहवें दिन उपवास करने से शरीर के भीतर इकट्ठा हुआ विकार प्रशमित हो जाता है। पर अनाज की जगह पेट भर दूध बालाई खाना या फल-मूल आदि से आकंठ तृप्ति करना उपोषण नहीं कहलाता। उससे कोई लाभ नहीं। कुछ दिनों से पश्चिमी देशों में भी इस व्रत का आरम्भ हुआ है। इससे अन्यान्य विकारों के दूर होने के सिवा स्थौल्य-रोग को बहुत लाभ पहुँचता है। डाक्टरों की राय है कि पाँच छः रोज़ से अधिक बिना खाये पिये कोई मनुष्य जीता नहीं रह सकता। परन्तु अमेरिका में एक अस्पताल है जहाँ उपोषण-व्रत के द्वारा रोगों की चिकित्सा होती है। वहाँ बीस बीस पचीस पचीस दिन तक तो साधारण आदमी उपोषण करते हैं। कुछ समय हुआ फासेल नाम के एक आदमी ने ९० दिन तक उपोषण-व्रत किया था। वह बेहद मोटा था। उसके शरीर में चर्बी का अत्यन्त आधिक्य था। उसकी यह शिकायत उपोषण से बिलकुल ही जाती रही। उपोषण से शरीर के धातुओं में समत्व आ जाता है। उपोषण के बाद शरीर ऐसा हलका और नीरोग हो जाता है जैसा कि माँ के पेट से बाहर आने के बाद होता है। परन्तु उस स्थिति को बनी रखने के लिए शराब पीना, तंबाकू पीना या खाना, और मनमाने खाद्य पदार्थ पेट में न भरते रहना चाहिए। संयम से रहना चाहिए। इस देश में भी उपोषण-व्रत की महिमा अब लोगों के ध्यान में आने लगी है। कई आदमियों ने पन्द्रह पन्द्रह बीस बीस दिन तक उपोषण करके लाभ उठाया है। इसमें मरने का डर नहीं रहता; परन्तु, हाँ, सावधानी से रहना चाहिए।

९—अँगरेज़ी-विश्वकोश का प्रकाशन।

यह विश्वकोश छप कर प्रकाशित होने पर है। इसके विषय में एक नोट जनवरी की सरस्वती में निकल चुका है। यह बड़ाही महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ है। विद्या, विज्ञान और कला-कौशल आदि से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी शाखायें हैं सबके विषय में आज तक जो कुछ मालूम हुआ है वह इस ग्रन्थ में आपको मिलेगा। सब मिलाकर इसकी २९ जिल्दें हैं। इसके

हर पृष्ठ में दो कालम हैं। कुल ग्रन्थ बावन हज़ार कालमों में ख़तम हुआ है। पन्द्रह सौ चुने चुने पण्डितों ने इसके भिन्न भिन्न लेखों को लिखा है। इसके यदि दस सफ़े आप रोज़ पढ़ें तो पूरा ग्रन्थ पढ़ने के लिए सात वर्ष चाहिए। इसमें जिन विद्वानों ने लेख दिये हैं उन्हें चौबीस लाख पैंतालीस हज़ार रुपया पुरस्कार देना पड़ा है। इस आवृत्ति के निकालने में कोई पचहत्तर लाख रुपया ख़र्च हुआ है। इसमें सैकड़ों पूरे पृष्ठ के और हज़ारों छोटे छोटे चित्र हैं। सब लेखों की संख्या चालीस हज़ार हैं। दो तरह के काग़ज़ पर यह ग्रन्थ छपा है। कुछ कापियों का काग़ज़ पतला है, कुछ का मोटा। जिल्द भी कई तरह की है। कोई चार सौ रुपये इसकी क़ीमत है। चाहे एक मुश्त दे दे, चाहे क़िस्तबन्दी करके थोड़ी थोड़ी। जो अँगरेज़ी जानते हैं और ख़र्च करने का सामर्थ्य रखते हैं उन्हें यह ग्रन्थ ज़रूर अपने संग्रह में रखना चाहिए। उसे देख कर उन्हें शायद कभी यह ख़याल आ जाय कि हम लोगों की अपनी निजकी मातृ-भाषा में विश्वकोश क्या एक अच्छा शब्दकोश भी नहीं—यहाँ तक कि उसे बनाने की योग्यता रखनेवाले भी ढूँढ़ने पर नहीं मिलते।

१०—साहित्यरत्नमाला।

कलकत्ते में जो नागरीप्रचारिणी सभा है उसके मन्त्री अपने १९।१, सूतापट्टी के आफ़िस से साहित्य-रत्नमाला नाम की एक मासिक पुस्तक आगामी चैत्र से निकालनेवाले हैं। इस पुस्तक के प्रत्येक अङ्क में ५६ पृष्ठ होंगे। इसमें अनेक भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रन्थों के अनुवाद क्रम क्रम से प्रकाशित हुआ करेंगे। हाजीबाबा, अपना सहारा, नपोलियन का जीवन-चरित और ध्रुव-लोक का शीतकाल आदि सात पुस्तकें पहले अङ्क में आरम्भ की जायँगी। कितनी ही पुस्तकें सचित्र रहेंगी। ऐसी उपयोगी मासिक पुस्तक का वार्षिक मूल्य केवल दो रुपये रक्खा गया है। हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि के इच्छुकों को चाहिए कि इस पुस्तक को एक बार अवश्य देखें।

पुस्तक-परीक्षा।

१—श्रीशान्तिनाथ-महाकाव्यम्। श्रीमुनिभद्रसूरि-विरचित। श्रावक-पण्डित-हरगोविन्ददास और बेचरदास द्वारा संशोधित। पृष्ठ-संख्या १८ + ३५५। मूल्य ३ रुपये। बनारस की जैन-यशोविजय-पाठशाला से जो पुस्तक-मालिका निकलती है उसका यह बीसवाँ ग्रन्थ है। विक्रम संवत् १४१० में यह काव्य प्रणीत हुआ था। इसके कर्ता मुनिभद्रसूरि ने पुस्तकान्त में एक प्रशस्ति लिखी है। तदनुसार आप फीरोज़शाह बादशाह के बड़े कृपापात्र थेः—"श्रीपेरोजमहीमहेन्द्रसदसि प्राप्तप्रतिष्ठोदयः"। आपके गुरु गुणभद्रसूरि महम्मदशाह बादशाह के कृपाभाजन थे। बड़े पण्डित थे। बादशाह ने आपको बहुत कुछ धन देना चाहा। पर आपने न लिया। आपने कहा, जैन तपस्वियों को द्रव्य-ग्रहण करना मना है। इस संस्कृत-काव्य-ग्रन्थ में १९ सर्ग हैं। किसी किसी सर्ग में दो दो तीन तीन सौ श्लोक हैं। काव्य मूलमात्र प्रकाशित हुआ है। कोई टीका नहीं। इससे थोड़ी संस्कृत जाननेवाले इससे विशेष आनन्द नहीं उठा सकते। इसमें इसके नामानुसार शान्तिनाथ का चरित है। महाकाव्य का लक्षणानुयायी बनाने के लिए इसमें ऋतु-नगर-उपवनविहार-पर्वत-समुद्र आदि का भी वर्णन है। "दुष्करयमकालङ्कारमय-सर्ग" से भी महाकवि मुनिभद्र ने इस ग्रन्थ की महाकाव्य पदवी चरितार्थ की है। इसमें सन्देह नहीं कि यह महाकाव्य है। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इसके कर्त्ता महाकवि मुनिभद्रसूरि में धार्मिक दुराग्रह की कमी न थी। उन्होंने कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के काव्यों के विषय में एक जगह इस काव्य की प्रशस्ति में लिखा हैः—

> मिथ्यात्वाञ्छितकाव्यपञ्चकमिदं व्याचक्षते सूरयः

आपका कहना है कि पण्डित लोग (शायद जैन पण्डितों से ही मतलब है) इन पञ्च महाकाव्यों को मिथ्यात्व दोष से दूषित बतलाते हैं। उन्हें पढ़ते पढ़ाते हैं सिर्फ़ व्युत्पत्ति के लिए। पर शान्तिनाथ के

इस चरित में वह दोष नहीं। इससे इसे पढ़ने से व्युत्पत्ति भी हो सकती है और पुण्य भी। इस पर हमारी प्रार्थना है कि सूरिवर्य्य मुनिभद्रजी ने जो इस काव्य में नदी-पर्वत-समुद्र और उपवनविहार आदि का वर्णन किया है क्या वह साद्यन्त याथार्थ्याञ्चित है? क्या उसमें कपोल-कल्पना से कुछ भी काम नहीं लिया गया? शान्तिनाथजी के चरित से सम्बन्ध रखनेवाले ताम्रपत्रों और शिला-लेखों ही के आधार पर क्या उन्होंने इस महाकाव्य को बनाया है? यदि नहीं, तो वे कालिदास आदि की कक्षा से बहिर्गत नहीं हो सकते। हाँ, यह हो सकता है कि किसी का आसन मिथ्यात्व-सम्बन्ध में कुछ ऊँचा हो, किसी का नीचा। परन्तु, कुछ भी हो, हमें तो इस शान्तिनाथ महाकाव्य की अपेक्षा मिथ्यात्व-दोषपूर्ण पूर्वोक्त पंच महाकाव्य ही अधिक अच्छे मालूम होते हैं। बाज़ आये हम मुनिभद्रजी के *'राट्प्रिया', 'तपऋतु †' और 'भवेऽत्रेतः ‡' आदि सुन्दर-सुहावने पदों से।

जैनों के कितनेहीं ग्रन्थों का संशोधन और प्रकाशन पाश्चात्य पण्डितों ने किया है। जैकोबी साहब भी उनमें से एक हैं। आपने एशियाटिक सोसायटी के लिए हेमचन्द्राचार्य्य के परिशिष्टपर्व नामक ग्रन्थ का सम्पादन किया है। उसमें उन्होंने हेमचन्द्र की कुछ भूलें दिखलाई हैं। इस कारण, शान्तिनाथ महाकाव्य के संशोधकों ने इस पुस्तक की लम्बी भूमिका में उन्हें बेतरह आड़े हाथों लिया है और उनकी दिखलाई हुई प्रत्येक अशुद्धि को शुद्ध साबित किया है। यहाँ तक कि ऐसे वृत्त को भी जिसके तीन चरणों में आठ आठ और एक में नौ अक्षर थे, उन्होंने ठीक बतलाया है। प्रमाण इस विषय में आपने गणरत्नमहोदधि का दिया है। पर यदि वे प्रमाणोद्धृत पद्य भी किसी ने आँख मूँदकर लिखे हों तो? मतलब यह कि हमारे पण्डितों से कभी ग़लती होती ही नहीं। ख़ैर, न होती होगी। परन्तु आपको इन पाश्चात्य पण्डितों पर इतना ख़फ़ा न होना चाहिए। उन्होंने आपका कुछ काम भी तो किया है। क्या आप कह सकते हैं कि उनके कारण आपकी हानिही हानि हुई है; लाभ कुछ भी नहीं हुआ?

अपनी भूमिका में इस महाकाव्य के संशोधकों ने व्यंग्य से अन्य-धर्म्मवालों पर भी आक्षेप किये हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप लोग इस समय काशी में हैं; गिरिनार, पाटन या सम्मेद-शिखर पर नहीं। अतएव कोई काम ऐसा न करना चाहिए जिससे किसी को व्यर्थ कष्ट पहुँचे। औरों पर चोट-चपेट किये बिना भी तो आप अपना काम कर सकते हैं।

इस महाकाव्य में एक सर्ग-सूची की कमी है।

※

२—सुलभ व्याकरण। यह हिन्दी का सुलभ व्याकरण है। इन्दौर-राज्य के मदरसों की चौथी और पाँचवीं दफ़ा के लिए बना है। इसे इन्दौर के पण्डित कन्हैयालाल उपाध्याय ने बनाया और बंबई के निर्णयसागर प्रेस में छपाया है। छोटे सांचे के ११० पृष्ठ इसमें हैं। मूल्य साढ़े छः आने रक्खा गया है। पुस्तक पर पतली जिल्द है। छपाई साफ़ और सुन्दर है। इस व्याकरण की रचना नये ढंग से की गई है। कुछ प्रकरण अँगरेज़ी व्याकरण की प्रणाली पर लिखे गये हैं। थोड़े में बहुत बातें बतलाने का प्रयत्न किया गया है। उपाध्यायजी को उसमें बहुत कुछ सफलता भी हुई है। पुस्तक की भाषा में कहीं कहीं दोष देख पड़ते हैं। उदाहरणः—

> जिससे किसी निश्चय पदार्थ का बोध हो उसे निश्चयवाचक सर्वनाम कहते हैं। पृष्ठ ३४

इस वाक्य में—"निश्चय पदार्थ" की जगह "निश्चित पदार्थ" होता तो अच्छा होता।

※

३—ज्ञानसागर। लेखक श्रीयुत नारायण महादाजी आगरे, मुल्ताई, मध्य-प्रदेश। बड़ी ख़ुशी की बात

---

* प्राणातत्रिदिवतोऽवतीर्णके जीव एव विजयस्य राट्प्रिया—पृष्ठ १०७

† उपययौ जलभृत्समयोऽन्यदा तपऋतुं गमयन्विषयाद्बहिः—पृष्ठ ११२

‡ भवांस्तु चक्री भविता भवेऽत्रेतः पञ्चमे पञ्चम एव चक्री—पृष्ठ १६१

है, महाराष्ट्र सज्जन भी हिन्दी में पुस्तकें लिखने लगे। हिन्दी के लिए यह शुभ लक्षण है। इसमें पृथ्वी की बनावट, पानी, वायुमण्डल, सूर्य्यमण्डल, मनुष्य की उत्पत्ति आदि २० विषयों पर छोटे छोटे निबन्ध हैं। यथास्थान चित्र भी दिये गये हैं। भैातिक-शास्त्र-सम्बन्धी बातों को आगरे महाशय ने सरल भाषा में बहुत अच्छी तरह समझाया है। आप वैज्ञानिक शिक्षा के बड़े पक्षपाती हैं। पर इस विषय की पुस्तकों का हिन्दी में प्रायः अभाव है। उसे आप दूर करने की चेष्टा में हैं। यह बड़ी अच्छी बात है। हिन्दी पढ़ने वालों को चाहिए कि "ज्ञान-सागर" लेकर आगरेजी के उत्साह को बढ़ावें। पुस्तक अच्छे काग़ज़ पर बड़ी सुन्दरता से छपी है। जिल्द बँधी हुई है। अन्त में कठिन शब्दों का कोश भी है और सूचीपत्र भी। पृष्ठ-संख्या २०० से अधिक है। दाम केवल सवा रुपया है। लेखक की मातृभाषा मराठी है। अतएव उनसे भाषा-सम्बन्धिनी भूलें होना स्वाभाविक है। इस बात को उन्होंने स्वीकार भी किया है। हिन्दी-प्रेमियों को भाषा-सौन्दर्य्य की परवा न करके इस पुस्तक के विषय की ओर ध्यान देना चाहिए:—

भणित भदेसि वस्तु भलि वरणी—
विश्वकथा जगमंगलकरणी

पुस्तक का नाम ज्ञानसागर होने की अपेक्षा ज्ञानसीकर होता तो अच्छा था।

चित्र-परिचय।

(१)

निकुम्भिला-यज्ञमन्दिर में मेघनाद का यज्ञानुष्ठान।

मेघनाद अग्नि का उपासक था। विजय की इच्छा से अपने उपास्य देव को सन्तुष्ट करने के लिए वह रात्रि में यज्ञ करने गया। वह यज्ञ करही रहा था कि विभीषण को ख़बर हो गई। विभीषण जानता था कि यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण होने से मेघनाद अजेय हो जायगा। इसलिए वह लक्ष्मण को लेकर मेघनाद के पास गया। आप तो अलग द्वार पर खड़ा हो गया, लक्ष्मण उसके पास पहुँचे। उन्हें देखकर मेघनाद ने कहा—"तुम कौन हो? क्या मेरे इष्टदेव अग्नि हो?" लक्ष्मण ने कहा—"नहीं, मैं तुम्हारा इष्टदेव नहीं; किन्तु तुम्हारा कालरूप यम हूँ। तुम्हें खाने को आया हूँ। मेरा नाम लक्ष्मण है।" इस पर क्रुद्ध होकर मेघनाद ने अपना यज्ञपात्र—अर्घा—फेंक कर उन्हें मारा। उसके लगते ही लक्ष्मणजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मेघनाद ने द्वार की ओर देखा तो विभीषण को वहाँ खड़ा पाया। इससे क्रुद्ध होकर वह बोला—"रे कुलाङ्गार! रे कुलकलङ्क! रे पापी पितृव्य! तू अपने परमप्रतापी भाई को छोड़कर नराधम राम से जा मिला! इस पर मेघनाद और विभीषण के मध्य बहुत उत्तर-प्रत्युत्तर हुए। अन्त में, जब लक्ष्मण की मूर्च्छा दूर हुई तब, उन्होंने मेघनाद के साथ घोर युद्ध करके तलवार से उसे मार डाला। इस संख्या का रंगीन चित्र इसी घटना से सम्बन्ध रखता है।

(२)

गत संख्या में एकलिपिविस्तार-परिषद् के प्रयाग वाले जिस अधिवेशन का उल्लेख किया गया है उसके सभापति माननीय मिस्टर कृष्णस्वामी आइयर का चित्र इस बार अन्यत्र प्रकाशित है। आइयर महोदय अब तक मदरास-हाई-कोर्ट के जज थे। आपकी योग्यता पर मुग्ध होकर गवर्नमेंट ने अब आपको मदरास के गवर्नर की कार्य्यकारिणी सभा का मेम्बर बनाया है:—

चकास्ति योग्येन हि योग्यसङ्गमः

Printed and Published by Panch Kory Mittra at the Indian Press, Allahabad.
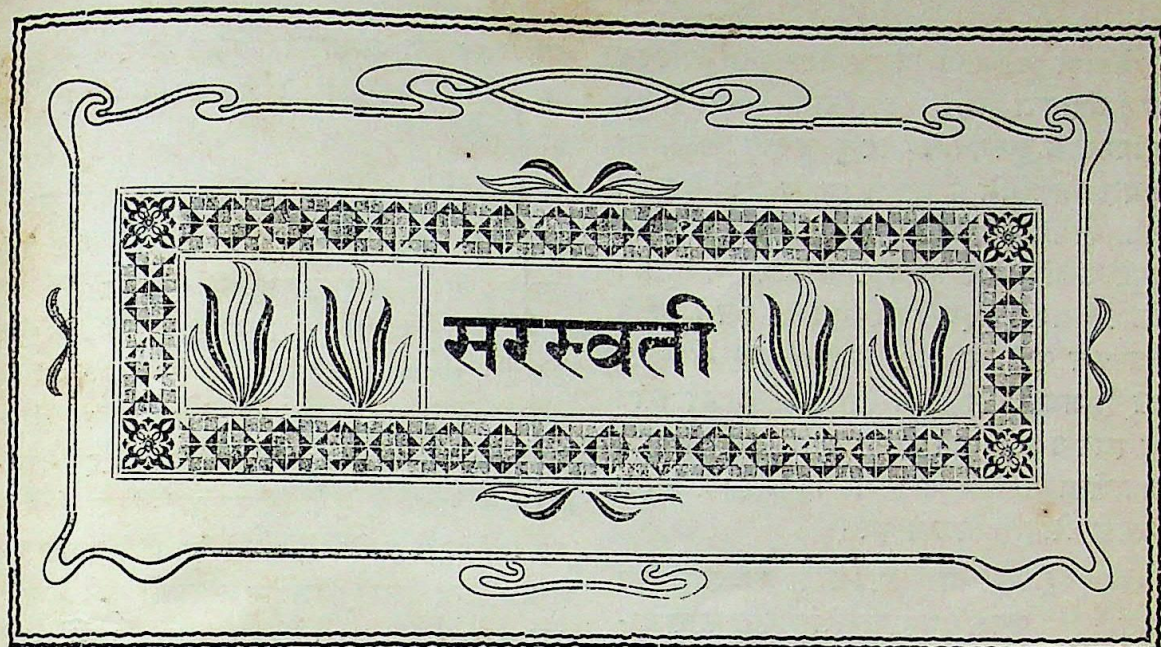
सचित्र मासिक पत्रिका।

भाग १२] १ जुलाई, १९११—आषाढ शुक्ल ५, १९६८। [संख्या ७

राजराना ज़ालिमसिंह झाला।

राजराना ज़ालिमसिंह झालावाड़ राज्य के प्रतिष्ठाता थे। इनका जन्म संवत् १७९६ में हुआ था। ये झाला जाति के राजपूत थे। इनके पूर्वपुरुष झालावाड़ राज्य के अन्तर्गत हलवद के जागीरदार थे। जिस समय औरङ्गज़ेब के पुत्र आपस में राज्य के लिए युद्ध कर रहे थे उसी समय हलवद के ठाकुर माधवसिंह कुछ सवारों को साथ लेकर राजा भीमसिंह के पास कोटे पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद उन्होंने महाराज-कुमार अर्जुनसिंह से अपनी बहन का विवाह कर दिया। इसके बाद वे फ़ौजदार के पद पर नियत हुए और नादरा का इलाक़ा उन्हें जागीर में मिला। इस पद को प्राप्त करने से कोटे के क़िले और वहाँ की सम्पूर्ण सेना पर उनका अधिकार हो गया। उनकी मृत्यु के बाद उनके पुत्र मदनसिंह फ़ौजदार हुए। मदनसिंह के दो पुत्र थे—हिम्मतसिंह और पृथ्वीसिंह। यही पृथ्वीसिंह ज़ालिमसिंह के पिता थे। अपने पिता के शरीरपात के बाद हिम्मतसिंह ने फ़ौजदार का पद प्राप्त किया। इस पद पर रह कर उन्होंने अनेक प्रशंसनीय कार्य्य किये।

हिम्मतसिंह के कोई पुत्र न था। अतएव उन्होंने अपने छोटे भाई के पुत्र ज़ालिमसिंह को गोद लिया। संवत् १८१७ में ज़ालिमसिंह को भी फ़ौजदारी का पद मिला। इस समय इनकी अवस्था इक्कीस वर्ष की थी। इसी साल जयपुर के महाराज माधवसिंह ने एक बड़ी भारी सेना लेकर कोटे पर चढ़ाई की। बटवाड़ा नामक स्थान के निकट फ़ौजदार ज़ालिमसिंह ने हाड़ों की केवल पाँच हज़ार सेना लेकर उनका सामना किया। इस युद्ध में ज़ालिम-

सिंह ने बड़ी बुद्धिमानी और वीरता का परिचय दिया। महाराज होलकर उस समय थोड़ी ही दूर पर डेरा डाले हुए पड़े थे; परन्तु उन्होंने किसी का भी पक्ष नहीं लिया था। ज़ालिमसिंह ने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप युद्ध करना नहीं चाहते तो जयपुर वालों के डेरे ही लूट लीजिए। ऐसे कामों के लिए होलकर सदैव तैयार रहते थे। इससे उन्होंने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यह समाचार सुनते ही जयपुर की सेना विचलित हो गई। सब लोग इधर उधर भागने लगे। इसी समय हाड़ों ने उनका पीछा करके बहुत हानि पहुँचाई। इस युद्ध में ज़ालिमसिंह ही विजयी हुए।

संवत् १८२२ में कोटा-नरेश छत्रशाल का देहान्त हुआ। उनके पुत्र गुमानसिंह पिता के राज्याधिकारी हुए। इसके थोड़े ही दिनों बाद ज़ालिमसिंह से उनकी अनबन हो गई। इससे उन्होंने ज़ालिमसिंह को फ़ौजदारी के पद से अलग कर दिया और उनकी जागीर भी ज़ब्त कर ली। अतएव ज़ालिमसिंह उदयपुर के महाराना अरसीजी के पास चले गये। अरसीजी इन्हें अच्छी तरह जानते थे। इससे उन्होंने इनका अच्छा सत्कार किया और अपने यहाँ रख लिया। ज़ालिमसिंह के प्रयत्न से अरसीजी अपने सरदारों के दबाव से स्वतन्त्र हुए। इनके गुणों को देख कर महाराना इनसे बहुत प्रसन्न हुए और पारितोषिक स्वरूप इन्हें चित्रखेड़ा की जागीर दी।

कुछ दिनों बाद मेवाड़ के सरदार महाराना अरसीजी को राज्यच्युत करने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने यह ज़ाहिर किया कि महाराना राजसिंह की गर्भवती स्त्री के एक पुत्र हुआ है। वही राज्य का अधिकारी है। फिर उन्होंने महादाजी सेंधिया को उस लड़के के पक्ष में खड़ा किया। अन्त में युद्ध हुआ। इस युद्ध में ज़ालिमसिंह ने ऐसी वीरता दिखाई कि सेंधिया को परास्त होकर भागना पड़ा। भाग कर वे उज्जैन आये। वहाँ उन्हें सहायता मिली। इससे वे फिर लौट पड़े और फिर युद्ध हुआ। इस बार मेवाड़ की सेना को बहुत हानि पहुँची। ज़ालिमसिंह का घोड़ा मारा गया और वे ख़ुद भी घायल होकर पकड़े गये। यह घटना संवत् १८२५ की है।

मरहटों से किसी तरह पिण्ड छुड़ा कर ज़ालिमसिंह फिर कोटे आये। उस समय कोटे पर बड़ी विपत्ति थी। मल्हारराव होलकर कोटे के कई क़िलों पर दख़ल कर चुके थे और राजधानी तक छीन लेने की फ़िक्र में थे। सन्धि के लिए बहुत प्रयत्न करके लोग निराश हो चुके थे। पर ज़ालिमसिंह ने बिना बुलाये ही आ कर सन्धि करा दी। इस कार्य्य से प्रसन्न होकर कोटे के तत्कालीन राजा महाराव गुमानसिंह ने ज़ालिमसिंह की जागीर वापस कर दी और उन्हें फिर फ़ौजदार बनाया। कुछ दिनों के बाद गुमानसिंह बहुत बीमार हुए। उनके बचने की उम्मेद न रही। अतएव उन्होंने अपने सब सरदारों को एकत्र करके अपने पुत्र उम्मेदसिंह को ज़ालिमसिंह की गोद में दिया और उन्हें शिक्षक तथा प्रधान मन्त्री नियत किया।

संवत् १८२७ में उम्मेदसिंहजी गद्दी पर बैठे। उनके राजतिलक के दिन ही हाड़ों ने कैलवाड़ा का क़िला विजय किया। इससे ज़ालिमसिंह की प्रभुता और भी बढ़ गई। कोटे के सरदार इनकी इस उन्नति से असन्तुष्ट होकर बखेड़े करने लगे। किन्तु ज़ालिमसिंह ने इसकी कुछ भी परवा न की। इन्होंने सब सरदारों को कोटे से निकाल दिया और उनकी जागीरें छीन लीं। जब उन सरदारों को कहीं भी शरण न मिली तब वे फिर ज़ालिमसिंह की शरण आये। अतएव ज़ालिमसिंह ने उनकी जागीरों का कुछ हिस्सा देकर उन्हें रख लिया। तथापि ज़ालिमसिंह को उन लोगों से शङ्का बनी ही रहती थी। कई बार उन लोगों ने इनके प्राणघात की भी चेष्टा की। परन्तु ज़ालिमसिंह बहुत सावधान रहते थे। इससे उनकी दाल न गली।

महाराव उम्मेदसिंह के बालिग़ होने पर भी उनका लड़कपन न गया। वे कोई काम अपने

मन्त्री ज़ालिमसिंह से बिना पूछे न करते थे। और ज़ालिमसिंह भी प्रत्येक काम महारावजी की आज्ञा लेकर किया करते थे। एक बार ज़ालिमसिंह के पुत्र ने महाराजकुमार को कोई अनुचित बात कही। इस पर इन्होंने अपने लड़के को अपनी जागीर पर भेज दिया। जब स्वयं महाराव ने बहुत कुछ अनुरोध किया तब, तीन वर्ष बाद, उसका अपराध ज़ालिमसिंह ने क्षमा किया और कोटे आने की आज्ञा दी।

ज़ालिमसिंह ने कोटे के सब किलों को ख़ूब मज़बूत और युद्ध के सामान से सुसज्जित किया। कोटे का नगरकोट भी उन्होंने ऐसा बनवाया कि इस समय भी आगरे के सिवा और कहीं का नगरकोट उसकी बराबरी नहीं कर सकता। अन्यान्य राज्यों से, तथा पिंडारियों के सरदारों से भी, ज़ालिमसिंह बहुत अच्छा वर्त्ताव किया करते थे। मेवाड़ और मारवाड़ के सरदारों ने अपने स्वामियों से बखेड़ा करके जब जब ज़ालिमसिंह की शरण ली तब तब इन्होंने सुलह करा दी।

करनल माँनसून होलकर से परास्त हो कर कोटे आये तो ज़ालिमसिंह ने उन्हें नगर में घुसने से रोका। उन्होंने कहा, आपकी सेना नगर में जाकर उपद्रव मचावेगी। इसके सिवा होलकर भी हमें बहुत सतावेंगे। इससे अच्छा यही होगा कि आप नगर के बाहर रहिए। हम रसद आदि का इन्तज़ाम कर देंगे और होलकर के आक्रमण से आपकी रक्षा भी करेंगे। उन्होंने किया भी ऐसा ही। इस कारण ज़ालिमसिंह से होलकर बहुत असन्तुष्ट हुए और दस लाख रुपये जुर्माने के माँगे। किन्तु ज़ालिमसिंह ने तीन लाख रुपये दे कर अपना पिण्ड छुड़ाया।

सन् १८१७ ईसवी में पिंडारियों के साथ अँगरेज़ों का युद्ध हुआ। उस समय ज़ालिमसिंह ने अँगरेज़ों की पूरी मदद की। इन्हीं की सहायता से मैलकम साहब पिंडारियों को दमन कर सके। इसके पुरस्कार में अँगरेज़ी गवर्नमेंट ने ज़ालिमसिंह को चार परगने हमेशा के लिए जागीर दी। ये परगने होलकर-राज्य की ओर से ज़ालिमसिंह के ठेके में थे। होलकर का अधिकार उनसे उठा दिया गया और वे ज़ालिमसिंह के अधिकार में कर दिये गये। उसी साल, दिसम्बर में, कोटा-राज्य और अँगरेज़ों के दरमियान सन्धि हुई। १८१८ ईसवी के मार्च महीने में ज़ालिमसिंह ने सरकार से इक़रार करा लिया कि कोटे के मन्त्री का पद सदैव उनके ही घराने में रहे।

सन् १८१९ ईसवी के नवम्बर महीने में महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु हुई। उनके तीन पुत्र थे—किशोरसिंह, विष्णुसिंह और पृथिवीसिंह। किशोरसिंह और विष्णुसिंह तो शान्त स्वभाव के थे और अपना अधिक समय ईश्वराराधन में ही लगाते थे; किन्तु पृथिवीसिंह युद्धप्रिय थे और ज़ालिमसिंह को अलग करना चाहते थे। ज़ालिमसिंह के दो पुत्र थे—एक औरस, जिसका नाम माधवसिंह था; दूसरा अनौरस, जिसका नाम गोवर्द्धनदास था। महाराव तथा उनके भाई लोग माधवसिंह से अप्रसन्न रहते थे; पर गोवर्द्धनदास पर उनकी बड़ी कृपा थी।

इसी गोवर्द्धनदास ने पृथिवीसिंह को ज़ालिमसिंह के विरुद्ध उभारा। पृथिवीसिंह और गोवर्द्धनदास के बहकाने से महाराव किशोरसिंह ने ज़ालिमसिंह से खुल्लमखुल्ला शत्रुता प्रकट करने की ठानी। उन्होंने क़िले में बैठ कर युद्ध छेड़ दिया। इस पर पोलिटिकल एजेंट, कर्नल टाड, और ज़ालिमसिंह ने आपस में विचार करके क़िले में रसद जाना बन्द कर दिया। तब लाचार होकर महाराव जी पाँच सौ सवारों के साथ क़िले से निकल भागे और रङ्गवाड़ी में जाकर ठहरे। वहाँ पोलिटिकल एजेंट ने महाराव को बहुत समझा बुझा कर ज़ालिमसिंह से मेल करा दिया। पृथिवीसिंह महाराव के पास से अलग कर दिये गये और गोवर्द्धनदास दिल्ली में क़ैद रक्खे गये।

१८२० ईसवी के अगस्त महीने की सत्रहवीं तारीख़ को महाराव किशोरसिंह के राज्याभिषेक का उत्सव हुआ। उस समय ज़ालिमसिंह ने दो

बहुत ही अच्छे काम किये। एक तो उन्होंने महाराव माधवसिंह और एजेंट कर्नल टाड से यह लिखवा लिया कि पुराने विश्वासपात्र मुलाज़िमों को हिसाब समझाने के लिए कोई तङ्ग न करे और यदि वे नौकरी से हटाये जाँय तो जहाँ चाहें वहाँ रह सकें। दूसरा यह कि कोटे के राज्य से बेगार का दण्ड उठा दिया जाय। इस प्रस्ताव को स्वीकार कराकर उन्होंने कोटा राज्य के प्रत्येक गाँव में पत्थर के खम्भे पर यह खुदवाकर गड़वा दिया कि आज से बेगार का दण्ड उठा दिया गया।

१८२१ ईसवी में गोवर्द्धन के बहकाने पर महाराव किशोरसिंह ने फिर भी ज़ालिमसिंह से युद्ध करने की तैयारी की। इस बार पोलिटिकल एजेंट के हज़ार समझाने पर भी उन्होंने न माना। कोटे के सब सरदार महाराव के पक्ष में हो गये। तब एजेंट साहब ने ज़ालिमसिंह की सहायता के लिए नीमच से रिसाले मँगवाये। पहली अक्तूबर को सबेरे ही युद्ध आरम्भ हुआ। अन्त में महाराव हार खा कर नाथद्वारे चले गये। महाराव के भाई पृथिवीसिंह इस युद्ध में काम आये।

संवत् १८८० में एजेंट साहब के समझाने पर महाराव किशोरसिंहजी फिर कोटे आये। ज़ालिमसिंह ने उनके खर्च आदि का प्रबन्ध कर दिया। संवत् १८८४ में महाराव किशोरसिंहजी का स्वर्गवास हुआ। उनके पुत्र रामसिंह जी गद्दी पर बैठे। इसके थोड़े ही दिनों बाद ज़ालिमसिंह ने भी, पचासी वर्ष की अवस्था में, शरीर-त्याग किया। उनके बाद माधवसिंह राजमन्त्री हुए। किन्तु उनसे भी महाराव सदैव अप्रसन्न रहते थे। इससे अँगरेज़ी गवर्नमेंट की सलाह से रामसिंह ने माधवसिंह को बारह लाख की आमदनी के सत्रह परगने दे कर महाराज राना की उपाधि दी और झालावाड़ का पृथक् राज्य स्थापित कर दिया।

इस राज्य पर अभी उस साल जो विपत्ति आई थी उसका स्मरण पाठकों को अब तक बना होगा। उसकी बदौलत इसका बहुत सा अंश कट कर फिर कोटे में मिल गया। मैं इस पर कुछ नहीं कहना चाहता—और लोग बहुत कुछ कह चुके हैं।

अमरसिंह।

बाल-विनोद।

सुकुमारी।

(यथा बीजं तथाङ्कुरः)

गोपुर नामक एक ग्राम में, अपने योग्य मनोज्ञ धाम में।
एक कुलीन विप्र रहते थे, उन्हें 'सुदर्शन' सब कहते थे॥१॥

वे अत्यन्त सदाचारी थे, सुजनोचित सद्गुणधारी थे।
थे वे यदपि बड़े विद्वान, किन्तु न था उनको अभिमान॥२॥

रहन सहन उनकी थी ऐसी, होनी श्रेष्ठ चाहिए जैसी।
किसी बात से वे न दुखी थे, सभी भाँति सन्तुष्ट सुखी थे॥३॥

'शान्ति' नाम की शोभा सानी, थी उनकी गृहिणी मनमानी।
वह सरला, गुणवती, सती, थी, मिष्टभाषिणी, बुद्धिमती थी॥४॥

अल्पवयस्का एक बालिका, मानों सुन्दर रूप-मालिका।
थी उनकी पुत्री अति प्यारी, 'सुकुमारी' नामक सुकुमारी॥५॥

छोटे से ही उसको दम्पति, शिक्षा देने लगे यथामति।
जो कुछ उसे सिखाया जाता, फिर न भूलते पाया जाता॥६॥

पाक-शास्त्र-युत सूचीकर्म्म, लिखना-पढ़ना, नारी-धर्म्म।
अल्प वयस ही में सुकुमारी, सीख गई ये बातें सारी॥७॥

पौराणिक इतिहास पढ़ा कर, सदाचार का प्रेम बढ़ा कर।
उसे शान्ति जो शिक्षा देती, कण्ठ शीघ्र ही वह कर लेती॥८॥

सावित्री की कथा पवित्र, हरिश्चन्द्र का पुण्य चरित्र।
कितने ही ऐसे आख्यान, पढ़ती थी वह धर के ध्यान॥९॥

सत्य बोलना, गर्व न करना, परमेश्वर से मन में डरना।
विपति-काल में धीरज धरना, सुवचन से सबका मन हरना॥१०॥

सदा पाप से करनी भीति, तजनी नहीं धर्म्म की रीति।
सब जीवों पर रखनी प्रीति, सीखी उसने यह सब नीति॥११॥

पांच बरस कीही थी वह जब, देती थी निज गुण-परिचय तब।
उदाहरण सुन इसका एक, सोचो उसका बुद्धि-विवेक॥१२॥

बाल अनेक एक दिन जुड़ कर, खेल रहे थे इसके घर पर ।
यह भी थी उस दल में शामिल, क्रीड़ा करते थे सब हिलमिल ॥१३॥

मचा व्याह गुड़ियों के घर था, वर-दुलहिन का मेल सुघर था ।
ज्योंनारों की धूम मची थी, शेष न कोई रीति बची थी ॥१४॥

तितली एक इसी अवसर पर, रङ्ग-विरङ्गी बड़ी मनोहर ।
उड़ती हुई वहां पर आई, वह सुकुमारी के मन भाई ॥१५॥

छवि विचित्र उसकी निहार के, मन में अति आनन्द धार के ।
सबको उसे दिखाया उसने, मानों दृग-फल पाया उसने ॥१६॥

तदन्तर वाणी अति भोली, सुकुमारी सबसे यों बोली—
"देखो, देखो, ध्यान लगाकर, यह पङ्खी है कैसी सुन्दर ! १७॥

"जिसने इसे बनाया ऐसा, जाने वह होवेगा कैसा !
चित्र-विचित्र रङ्ग इसका है, प्यारा अङ्ग अङ्ग इसका है ॥१८॥

"सच कहती थी मुझसे माता; रचता अद्भुत सृष्टि विधाता ।
है विचित्र ईश्वर की माया, उसे किसीने जान न पाया"॥१९॥

सुकुमारी का कहना सार्थ, समझा कोई शिशु न यथार्थ ।
केवल वे सब करके शोर, लगे कूदने चारों ओर ॥२०॥

एक बालिका ने फिर सत्वर, ली वह तितली पकड़ दौड़ कर ।
उसके झपट मारते साथ, पड़ वह गई अचानक हाथ ॥२१॥

"तारा, तारा, यह क्या करती, क्यों इस बेचारी को धरती ।"
रही रोकती यों सुकुमारी, तदपि झपट तारा ने मारी ॥२२॥

उस लड़की के कर में पड़ कर, गिरा एक पर उसका झड़ कर ।
देती हुई उसे तब बोध, बोली सुकुमारी कर क्रोध ॥२३॥

"तारा तू है बड़ी अजान, है थोड़ा भी तुझे न ज्ञान ।
था क्या इसने तेरा लिया, पकड़ इसे तूने जो लिया ॥२४॥

"राम ! राम !! अब यह बेचारी, गई व्यर्थही तुझसे मारी ।
यह किस तरह जियेगी ऐसे ? पर के बिना उड़ेगी कैसे? ॥२५॥

"प्राण श्रेष्ठ तेरा है जैसा, इसका भी है निश्चय वैसा ।
सच तो बता मुझे हे तारा ! क्या तुझको निज प्राण न प्यारा ?॥२६॥

"यदि तेरा पद तोड़ा जावे, जिससे तू न कहीं चल पावे ।
तो क्या कुछ न कहे तू मन में, दुःख न हो क्या तेरे तन में ?॥२७॥

"नहीं, नहीं, तू व्याकुल होवे, पड़ी पड़ी पीड़ा से रोवे ।
तो ऐसाही इसको जान, मान जगत को आप समान ॥२८॥

"तुझसे भारी चूक पड़ी है, होती मुझको व्यथा बड़ी है ।
क्षमा मांग तू अब ईश्वरसे, विनती कर उस करुणाकर से ॥२९॥

"सुन जो मैं कहती हूँ तुझसे, माँ ने कभी कहा था मुझसे—
करे चित्तसे जो अनुताप, तो मिट जाते हैं सब पाप" ॥३०॥

करके ऐसा वचन-विकास, सुकुमारी अति हुई उदास ।
जाकर शान्ति-निकट तत्काल, बोली तब कह कर सब हाल ॥३१॥

"तारा की करनी कर याद, होता है माँ ! मुझे विषाद ।
है वह दयाहीन निर्बोध, होता उस पर मुझको क्रोध" ॥३२॥

सुन कर सुकुमारी की बात, पुलक उठा जननी का गात ।
किन्तु छिपा कर मन का भाव, बोली वह करके अति चाव ॥३३॥

"निश्चय तारा की गति वाम, बुरा किया है उसने काम ।
पर है जब वह ऐसी क्रूर, क्यों न रहे तू उससे दूर ॥३४॥

"कभी बुरों का करे न साथ, उन्हें दूर से जोड़े हाथ ।
कई बार मैंने यह कहा, याद नहीं क्या तुझको रहा ?" ॥३५॥

बोली फिर मां से सुकुमारी, थी उसकी वाणी अति प्यारी ।
"याद मुझे है तेरा कहना," कभी बुरों के सङ्ग न रहना"॥३६॥

"पर तू ने ही तो हे मात ! मुझे बताई थी यह बात—
जो कोई आवे निज गेह, करे मान उसका सस्नेह" ॥३७॥

उसी समय मन मोद बढ़ाये, सहसा वहाँ सुदर्शन आये ।
मां-बेटी की बातें सारी, सुनी उन्होंने आकर सारी ॥३८॥

तब सुकुमारी को सानन्द, लेकर गोदी में स्वच्छन्द ।
उसके भोले मुख को चूम, बोले वत्सलता से झूम ॥३९॥

"धन्य धन्य तू बेटी मेरी, जीत हुई है निश्चय तेरी ।
तूने ऐसा वाद किया है, अपनी माँ को हरा दिया है !" ॥४०॥

मैथिलीशरण गुप्त ।

शकुन्तला-रहस्य ।

वि के आशय को कवि ही समझ सकता है । कविता सुन कर या पढ़ कर वाह, वाह, बहुत लोग करने लगते हैं ; पर कविता के गूढ़ार्थ को जानने वाले उन वाह वाह करने वालों में से थोड़े ही होते हैं । कोई केवल कवि की प्रसिद्धि ही पर मुग्ध हो जाते हैं । कोई कवि के एकाध अच्छे भाव को समझ

कर ही धन्य धन्य कहने लगते हैं। पर बात ते यह है कि कवि का यथार्थ आशय किसी विरले ही सहृदय की समझ में आता है। उदाहरण के लिए शकुन्तला ही को लीजिए। उसका नाम कौन नहीं जानता। हज़ारों आदमियों ने उसे पढ़ा है—किसी ने असल, किसी ने अनुवाद। परन्तु इनमें शायद ही किसी के ध्यान में यह आया हो कि दुर्वासा के शाप और हंसपदिका के गीत से कालिदास का क्या आशय था। बँगला के प्रसिद्ध कवि बाबू रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस आशय को जैसा समझा है शायद ही आजतक और किसी ने वैसा समझा हो। इस बात का पता रवि बाबू के शकुन्तला-रहस्य नामक लेख से लगता है। पटना-कालेज के अध्यापक, बाबू यदुनाथ सरकार, एम० ए० ने इस लेख का अनुवाद अँगरेज़ी में करके पूर्वोक्त कालेज के मगेज़िन में प्रकाशित किया है। इसी लेख का भावार्थ आज मैं आप लोगों को हिन्दी में सुनाता हूँ।

योरप के कवि गेटी ने शकुन्तला की समालोचना एक छोटे से पद्य में की है। उसने इस नाटक के एक एक अंश की अलग अलग समालोचना नहीं की। उसका यह पद्य दीपशिखा के समान बहुत ही छोटा है। पर उसका प्रकाश समूचे नाटक पर पड़ता है। उसकी सहायता से सब लोग शकुन्तला के गुप्त रहस्यों को भी समझ सकते हैं। गेटी का कहना है कि शकुन्तला वह चीज़ है जो यौवनावस्था में उत्पन्न हुई अनुराग रूपी कली को प्रौढ़ावस्था में उत्पन्न हुए भाव रूपी फल से मिला देती है। शकुन्तला वह चीज़ है जो पृथ्वी का स्वर्ग के साथ मेल कराती है।

इस प्रशंसामयी समालोचना को हम लोग गेटी की कवित्व-शक्ति का उच्छ्वास मात्र समझ सकते हैं; अथवा यह कह सकते हैं कि उसके उस समालोचना-पूर्ण पद्य से समालोचक का सिर्फ़ यह आशय था कि शकुन्तला एक बहुत ही उत्तम कविता का नमूना है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। उसके पद्य में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं। शकुन्तला की वह सच्ची समालोचना है। जो कुछ उसमें कहा गया है वह शकुन्तला के विषय में बहुत ही ठीक कहा गया है। गेटी का मत है कि इस नाटक में विकास-सिद्धान्त का एक अपूर्व उदाहरण पाया जाता है। इसमें वह सिद्धान्त निहित है, जिसके द्वारा फूल में फल का, पृथ्वी में स्वर्ग का, और जड़ में चेतन का विकास पाया जाता है।

इस नाटक में दो संयोगात्मक घटनायें हैं। नाटक के आदि में दुष्यन्त और शकुन्तला, पारस्परिक सौन्दर्य्य से मोहित होकर, आपस में मिलते हैं। यह मिलाप विषय-वासना-जन्य है। यह इस नाटक की पहली संयोगात्मक घटना है। दूसरी घटना नाटक के अन्त में है। वह उस समय की है जब विषय-वासना से रहित होकर सच्चे ईश्वरी प्रेम की प्रेरणा से मरीचि के आश्रम में दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों मिलते हैं। इस समूचे नाटक का उद्देश्य पहली संयोगात्मक घटना को दूसरी में परिणत कर देना है। अथवा यों कहिए कि प्रेम को सांसारिक सौन्दर्य्य के गढ़े से निकाल कर धार्म्मिक सौन्दर्य्य के अविनश्वर स्वर्ग में स्थापित करना ही कालिदास का मुख्य उद्देश है।

इस उद्देश की पूर्त्ति, अर्थात् पृथ्वी और स्वर्ग का संयोग, कालिदास ने बहुत ही अच्छी तरह से किया है। कालिदास की पृथ्वी ऐसी सुगमता से स्वर्ग में जा मिलती है कि पाठकों को दोनों की सीमा का मेल मालूम ही नहीं पड़ता। पहले अङ्क में कवि ने विषय-वासना-विवश शकुन्तला के अधःपतन को छिपाने की चेष्टा नहीं की। युवावस्था के कारण नई नई बातें जो होती हैं उन सब का कवि ने चित्र सा खींच दिया है। यह शकुन्तला भोलेपन का प्रमाण है। दुष्यन्त को देखने से उसके हृदय में प्रेम-सम्बन्धी जो जो भाव आविर्भूत हुए उनसे सामना करने के लिए वह तैयार न थी। वह यह न जानती थी कि ऐसे अवसर पर अपने चित्त की वृत्तियों को मैं कैसे रोकूँ, और अपने हृद्गत भावों को मैं कैसे छिपाऊँ। वह प्रेम के प्रपञ्च से बिलकुल ही अपरिचित थी। ऐसे मौक़े के लिए जो शस्त्रास्त्र

दरकार होते हैं वे उसके पास न थे। इससे उसने न तो अपने हृदय के भावों पर ही अविश्वास किया और न अपने प्रेमी दुष्यन्त के व्यवहारही पर। जैसे उसके आश्रम की मृगियाँ भय से एकदम अपरिचित थीं वैसे ही यह आश्रमवासिनी कन्या भी इस तरह की आपत्तियों से बिलकुल अनजान थी।

दुष्यन्त ने शकुन्तला को सहज ही में जीत लिया है। परन्तु उसके इस तरह सुगमता से अधःपतित होने पर भी कविने उसके पातिव्रत और सतीत्व के दिखाने में कसर नहीं की। शकुन्तला के भोलेपन का यह दूसरा प्रमाण है।

जंगली कुसुम-कलिकाओं पर रजःकण पड़ते हैं। उन्हें दूर करने के लिए उन कलिकाओं को रक्षक की आवश्यकता नहीं होती। उन कणों के रहने पर भी, मेघों में टुकड़ों से ढँके हुए चन्द्रमा के समान, वे अपनी सुन्दर और स्वच्छ प्रभा को सब ओर फैलाती हैं। शकुन्तला पर भी कलङ्करूपी रजःकण गिरे; परन्तु उनका उसे कुछ भी ज्ञान था। जंगली हिरनों और पहाड़ी झरनों की तरह वह, कलङ्करूपी कीचड़ के होने पर भी, अपने अन्तर्गत सतीत्व की शुद्ध और विमल छटा दिखलाती रही।

प्रकृति का मार्ग प्रशस्त और असंदिग्ध है। कालिदास ने अपनी आश्रम-पालिता तरुणी नायिका को उस रास्ते जाने से नहीं रोका। परन्तु उसे उसने एक आदर्श पत्नी में परिणत किया है:—ऐसी पत्नी जो सलज्जता, सुशीलता, सहनशीलता और धार्म्मिक बन्धन से युक्त हो। शुरू में हम लोग उस नायिका को छोटी छोटी लताओं और फूलों की तरह अपने आपको न जानने वाली और प्राकृतिक भावों के वशीभूत पाते हैं। परन्तु, अन्त में, हम उसे संयमशीलता, धीरता और धार्म्मिक प्रवृत्ति से पूर्ण पाते हैं। कवि ने अद्भुत कवि-कौशल से अपनी नायिका को शान्ति और कर्म्म, प्रकृति और नियम, समुद्र और नदी के सङ्गम पर स्थापित किया है। उसका पिता तपस्वी था; परन्तु उसकी माता एक अप्सरा थी। उसका जन्म पिता के तपस्या-भङ्ग का फल था; परन्तु उसका पालन-पोषण एक ऐसे आश्रम में हुआ था जहाँ प्रकृति और तपस्या, सौन्दर्य्य और संयम, एक साथ मिलकर अपूर्व्व शोभा धारण करते हैं। वहाँ सामाजिक बन्धन तो कोई नहीं; पर धार्म्मिक बन्धन अवश्य रहता है। शकुन्तला का गान्धर्व विवाह इन्हीं भावों का सूचक है। उसमें प्राकृतिक स्वाधीनता और विवाहरूपी सामाजिक बन्धन दोनों पाये जाते हैं। सारे साहित्य-संसार में यह नाटक एक अमूल्य और अनुपमेय रत्न है; क्योंकि इसमें स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के मेल का बड़ा ही अच्छा चित्र देखने को मिलता है। इस नाटक में दिखलाये गये सारे सुख और दुःख, और, सारे संयोग और वियोग, इन्हीं दोनों शक्तियों के परिणाम हैं।

शकुन्तला का भोलापन स्वाभाविक है और शेक्सपियर की मिरेंडा का अस्वाभाविक। दोनों का भिन्न भिन्न दशा में पाला जाना ही इस विभिन्नता का कारण है। शकुन्तला का भोलापन मिरेंडा की तरह अज्ञानता से ढका न था। हम लोग पहले ही अङ्क में देख चुके हैं कि शकुन्तला की दोनों सखियों ने उसे यह बतला दिया था कि वह यौवन-विकास की प्रथम अवस्था में थी। वह लज्जा की शिक्षा भी पा चुकी थी। परन्तु ये सब केवल बाहरी आभूषण हैं। उसका भोलापन और शुद्धाचार एकदम हृद्गत है। कवि ने उसे सांसारिक व्यवहार से बिलकुल अनजान बताया है। परन्तु वह सांसारिक व्यवहार से कुछ कुछ परिचित ज़रूर थी। क्योंकि, सांसारिक समाज से उसका आश्रम एकदम बाहर न था। वहाँ भी सामाजिक नियमों का पालन होता था। पर शकुन्तला को उन नियमों का पूरा पूरा ज्ञान न था। उसमें विश्वास-परायणता की मात्रा बहुत अधिक थी। वही उसके अधःपतन का कारण हुई और उसी ने उद्धार का रास्ता भी उसको बताया। विश्वासघात के समय उसी विश्वास-परायणता से उसमें क्षमा, दया, धैर्य्य आदि समयोचित गुणों का विकास हुआ। मिरंडा के भोलेपन की ऐसी कठिन

परीक्षा कभी नहीं हुई। वह इस तरह की कसौटी पर कभी नहीं कसी गई।

ऐसे अवसर पर हम लोगों के चित्त में राग-द्वेष की ज्वाला उत्पन्न होती है। इस नाटक में कालिदास ने उस राग-द्वेषरूपी अग्नि की सन्तापकारिणी ज्वाला को एक दुःखिनी के पश्चात्ताप के आँसुओं से ठंडा किया है। परन्तु, कवि ने इसका पूरा वर्णन नहीं किया—केवल उल्लेख मात्र करके उस पर परदा डाल दिया है। दुष्यन्त राजा था। उसके कई विवाह हो चुके थे। अतएव उसके द्वारा शकुन्तला का अस्वीकार किया जाना स्वाभाविक कहा जा सकता है। पर, इस नाटक में यह घटना दुर्वासा ऋषि के शाप का फल बतलाई गई है। ऐसा न करने से यह अस्वीकार-विषयक दृश्य इतना दया-विहीन, असत्य और हृदयविदारक होता कि इस नाटक की शान्ति और माधुर्य्य का क्षण भर में नाश हो जाता। किन्तु कवि ने एक छोटा सा छिद्र रख दिया है। उसके द्वारा हम लोगों को राजा के पापकर्म्म का कुछ कुछ पता लगता है। यह छिद्र पाचवें अङ्क में है। राजसभा में शकुन्तला के पहुँचने पर—नहीं; कुछ नहीं पहले ही—कवि ने राजा के भोग-विलासभवन का परदा एक क्षण के लिए उठा दिया है। रानी हंसपदिका अपने संगीत-भवन में गा रही है—

अभिनवमदलोलुपो भवांस्तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्॥*

विरहाग्नि से पीड़ित रनिवास की एक स्त्री का यह गीत है। इस अवसर पर हम लोगों के लिए यह गीत बहुत ही दुखःदायी है। शकुन्तला अभी अपने आश्रम से बिदा हुई है। उसके पिता महर्षि कण्व ने उसे आशीर्वाद देकर बिदा किया है। वह अतीव शुद्ध और मधुर भाव से एक नये प्रेममय-भवन को जा रही है। शकुन्तला और दुष्यन्त की प्रेम-पूर्ण पारस्परिक बातों का स्मरण होने से इस समय इस नये प्रेम-भवन का एक विलक्षण चित्र हम लोगों की आँखों के सामने उपस्थित है। अकस्मात् इस पर यह कलङ्क की कालिमा न मालूम कहाँ से टपक पड़ी।

विदूषक ने इस गीत का मतलब पूँछा। राजा ने हँसते हँसते उत्तर दिया कि हम लोग छोटी छोटी कन्याओं को थोड़ी देर के लिए प्रेम के जाल में फँसा कर छोड़ देते हैं। अतएव रानी हंसपदिका का मेरे विषय में यह व्यङ्ग्य सर्व्वथा उचित ही है। पञ्चम अङ्क के आदि ही में राजा के प्रेम की अनस्थिरता की सूचना देना निष्प्रयोजन नहीं। कवि ने विलक्षण कौशल से यह दिखाया है कि दुर्व्वासा के शाप का जो फल था उसका बीज मनुष्य के हृदय में स्वभाव से भी अङ्कुरित होता है।

चौथे अङ्क से पाँचवें अङ्क में जाते ही हम लोगों के सामने एक नये संसार का दृश्य उपस्थित हो जाता है। आश्रम के आदर्श संसार से चल कर हम लोग दया आदि मनोहर भावों से रहित, सांसारिक प्रपञ्च में फंसानेवाली टेढ़ी मेढ़ी रीतियों से भरी हुई राजसभा में पहुँचते हैं। वहाँ आश्रम-वासियों का आशाजनक सुन्दर स्वप्न झूठा हुआ चाहता है। शकुन्तला के साथ दो युवा संन्यासी आये हैं। अकसात् वे अनुमान करते हैं कि एक नई दुनिया में आ गये। राजसभा को वे लोग धधकती हुई आग से भरा हुआ घर सा समझते हैं। इन छोटे छोटे सङ्केतों द्वारा कवि पहले ही से शकुन्तला के अस्वीकार किये जाने की सूचना देता है, जिसमें उसका आघात असह्य न हो।

इसके बाद शकुन्तला अस्वीकार की जाती है। यह समाचार उसे वज्राघात के समान मालूम होता है। विश्वासपात्र मनुष्य के हाथ से ताड़ित हरिणी की तरह वह घोर आश्चर्य्य, भय और दुःख में पड़ कर

* मधुप तुम मधु के चाखनहार।
आम की रस भरी मृदुल मंजरी तासों प्रीति अपार॥
रहसि रहसि नित रस लैबे को धावत हैं करि नेम।
क्यों कल आई कमल बसेरे कित भूले प्यारी को प्रेम॥
राजा लक्ष्मणसिंह

टक टकी लगाये पृथ्वी की तरफ़ नीचे देखने लगती है। एकाएक वह अपने वास्तविक और आलङ्कारिक आश्रम से, जिसमें वह इतने दिनों से रहती आई, अलग कर दी जाती है। प्रेमी मित्रों, पशु-पक्षियों, वृक्षों और लताओं से उसका सम्बन्ध एकदम टूट जाता है। इसके साथ ही उसके पहले जीवन का सौन्दर्य, शान्ति, माधुर्य्य और शुद्धता सब बातें अन्तर्हित हो जाती हैं। वह अवलम्बहीन अकेली रह जाती है। क्षण भर में पहले चारों अङ्कों का माधुर्य्य नष्ट हो जाता है।

अब शकुन्तला के दुःख का ठिकाना नहीं। कोई भी उसे सहायता देने वाला नहीं रहा। हाय! कहाँ तो उसने अपने सरल, दयायुक्त, निष्कपट आचरण से वन के पशुपक्षियों को भी अपना मित्र बना लिया था, कहाँ अब ख़ुदही अकेली और अवलम्ब-हीन हो गई! शकुन्तला को फिर कण्व के आश्रम में न ले जाकर कालिदास ने अपनी असाधारण कवित्व-शक्ति का परिचय दिया है। दुष्यन्त से अस्वीकृत होकर अपने पूर्व-परिचित शान्ति और सुख के आश्रम में दिन बिताना शकुन्तला के लिए असम्भव था। अब वह पहले की तरह भोलीभाली कन्यारूपिणी शकुन्तला न थी। संसार से उसका सम्बन्ध बहुत कुछ बदल गया था। यदि वह फिर कण्व के आश्रम में जाती तो वहाँ शान्ति को बढ़ाने के बदले अशान्ति फैलाती। इस समय उस दुःखिनी बाला के लिए भीषण-दुःखोचित निस्तब्धता की आवश्यकता थी। अतएव अपने कुटुम्ब, मित्रवर्ग तथा प्यारे स्वामी के विरह से पीड़ित शकुन्तला का चित्र कवि ने नहीं दिखाया। कवि का इस विषय में मौनधारण करना हम लोगों के आश्चर्य्य को और भी बढ़ाता है। यदि राजा से तिरस्कृत होकर शकुन्तला कण्व ऋषि के आश्रम में जाती तो वह आश्रम ही कुछ न कुछ बोलता। यदि कालिदास उसका उल्लेख न भी करते तो भी उस आश्रम की लताओं और वृक्षों का सहानुभूति-सूचक दृश्य और शकुन्तला की दोनों सखियों के रोदन का चित्र अवश्य ही हम लोगों के ध्यान में आ जाता। परन्तु मरीचि के अपरिचित आश्रम में हमें ऐसी बातों का दृश्य नहीं दिखाई देता। वहाँ पर हम लोग संसार और कुल परिवार से बिछुड़ी हुई शकुन्तला को संन्यासिनी की तरह केवल ध्यान, तपस्या और प्रायश्चित्त में निरत देखते हैं।

दुष्यन्त भी अन्त को असह्य विरह-दुःख से पीड़ित होता है। उसका पश्चात्ताप ही तपस्या और प्रायश्चित्त स्वरूप है। यदि राजा को इस प्रायश्चित्त के बिना शकुन्तला मिल जाती तो कुछ गौरव की बात न होती। नायक और नायिका का प्रेम-सम्बन्ध केवल यौवनोन्माद से उत्पन्न हुआ था। सच्चे प्रेम की डोरी से मज़बूत किये बिना वह सम्बन्ध चिरस्थायी न हो सकता और तपस्या तथा सच्ची भक्ति के बिना सच्चे प्रेम का उत्पन्न होना असम्भव था। जो वस्तु जितनी सुगमता से मिलती है वह उतना ही जल्द खो भी जाती है। अतएव कवि ने नायक-नायिका के सम्बन्ध को अटल करने के लिए, विषय-भोग की कामना से उत्पन्न हुए प्रेम को तपस्या और प्रायश्चित्त की आग में तपा कर शुद्ध किया है। यदि वह जातेही दुष्यन्त से स्वीकृत हो जाती तो रनिवास के किसी कोने में पड़ी हुई विस्मृति और वियोग के दुःखपूर्ण दिन बिताती और हंसपदिका ऐसी रानियों की संख्या को बढ़ाती। और कुछ न होता।

अतएव दुष्यन्त के द्वारा शकुन्तला का अस्वीकृत होना उसके लिए हितकर हुआ। जब राजा के निर्दय व्यवहार का असर उसके चित्त पर पड़ा तब वह फिर भी शकुन्तला के लिए व्यग्र हुआ। घोर सन्ताप और विरहाग्नि की ज्वाला ने उसके वज्र-हृदय को गलाकर शकुन्तला के हृदय में मिला दिया। राजा को ऐसा तजरिबा पहले कभी नहीं हुआ था। इसके पहले उसने सच्चे प्रेम का कभी अनुभव नहीं किया था। राजाओं के लिए यह दुर्भाग्य की बात है कि उनकी इच्छायें अनायास पूर्ण हो जाती हैं। इससे वे भक्ति-भाव के अमूल्य रहस्य को नहीं समझ सकते। सौभाग्यवश दुष्यन्त को विरह-सागर में डूबना

पड़ा। इससे वह सच्चे प्रेम का पात्र हुआ और कामुकों में गिने जाने से बचा।

इस तरह कालिदास ने पापी राजा के पाप कर्म्म को विरहाग्नि में जला दिया है। इस बात को कवि ने अपने पाठकों से भी छिपा नहीं रक्खा। नाटक के अन्त में जब यवनिका गिरती है तब हम लोगों को यह तत्काल भासित होने लगता है कि सारी अनुचित बातें न जानें कहाँ चली गईं। हम लोगों के हृदय में, उस समय, पूर्ण सन्तोष और शान्ति आ जाती है। कालिदास ने उस विषवृक्ष को, जो प्राकृतिक शक्ति से अकस्मात् उत्पन्न हो गया था, समूल नष्ट कर दिया है। उन्होंने दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रणय-सम्बन्ध को विरह और पश्चात्ताप की आग में अच्छी तरह शुद्ध करके उसे धार्म्मिक संयोग में परिणत कर दिया है। इसी से गेटी ने कहा है कि वसन्त-काल में उत्पन्न हुई कली को शकुन्तला शिशिर ऋतु में उत्पन्न हुए फल के साथ मिलाती है। यहीं पर पृथ्वी और स्वर्ग का संयोग हुआ है। सचमुच इस नाटक में एक ओर स्वर्ग से पतन और दूसरी ओर स्वर्गलाभ की बात है।

प्रथम अङ्क में दुष्यन्त और शकुन्तला के बीच कामुक और कामिनी के नाते जो प्रीति हुई है उसकी असारता, और अन्तिम अङ्क में भरत के माता-पिता के रूप में जो प्रीति हुई है उसकी सारता कवि ने अच्छी तरह दिखलाई है। पहला अङ्क चमक-दमक से भरा हुआ है। कहीं एक संन्यासी की कन्या खड़ी है; कहीं उसकी दो सखियाँ इधर उधर दौड़ रही हैं; कहीं वन की लतायें नवीन पल्लव और कलियों से युक्त अपूर्व शोभा धारण कर रही हैं; कहीं वृक्ष की ओट से राजा इन सब दृश्यों को देख रहा है। परन्तु अन्तिम अङ्क में मरीचि के आश्रम का दृश्य कुछ और ही है। यहाँ पर शकुन्तला भरत की माता और धर्म्म की प्रत्यक्ष-मूर्त्ति की तरह निवास करती है। यहाँ कोई सखी सहेली वृक्षसेचनादि नहीं करती और न कोई हरिण के छोटे छोटे बच्चों ही को खिलाती है। यहाँ केवल एक छोटा लड़का अपने भोले भाले अनोखे ढँग से आश्रम को सुशोभित कर रहा है। वह उस आश्रम के वृक्ष, लता, फल, फूल आदि सबके सौन्दर्य्य और माधुर्य्य को अपने में ही एकत्र सा कर लेता है। वहाँ की स्त्रियाँ भी उसी चञ्चल बालक के लाड़-प्यार में लगी रहती हैं। जब शकुन्तला रङ्गशाला में आती है तब शुद्धहृदया, प्रायश्चित्तपरायणा, पीतवदना और मलिनवसना देख पड़ती है। बहुत दिनों के प्रायश्चित्त ने दुष्यन्त के पहले मिलाप के कलङ्क को एकदम धो दिया है। अब वह वात्सल्य-भाव से पूर्ण है। अब वह माता और गृहिणी में परिणत हो गई है। ऐसी दशा में कौन उसको अस्वीकार कर सकता था?

शकुन्तला और कुमारसम्भव दोनों में कवि ने साफ़ साफ़ यह दिखा दिया है कि धर्मावलम्बी होने से सौन्दर्य्य चिरस्थायी होता है; संयम-शील और हितवर्द्धक प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है; निग्रह न होने से वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। महाकवि कालिदास ने केवल विषय-विलास को ही प्रेम का उद्देश नहीं माना। उसने साफ़ कह दिया है कि प्रेम का यथार्थ उद्देश परोपकार है। उसके नाटक से यह शिक्षा मिलती है कि दाम्पत्य-प्रेम जब तक अपने ही में सङ्कुचित रहता है; जब तक वह परोपकारी नहीं होता; जब तक समाज, पुत्र, कन्या आदि पर उसका असर नहीं पड़ता तब तक उसे निष्फल और क्षण-भङ्गुर समझना चाहिए।

भारतवासियों के दो अनोखे सिद्धान्त हैं—एक हितकारी गृहस्थाश्रम का बन्धन, दूसरा आत्मा की स्वतन्त्रता। संसार की कई एक जातियों, धर्मों और देशों से भारतवर्ष का सम्बन्ध है। वह किसी को अलग नहीं कर सकता। परन्तु तपस्या के उच्च आसन पर वह अकेले ही शोभित है। कालिदास ने इन दोनों सिद्धान्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध अच्छी तरह दिखाया है। उसने मरीचि के आश्रम के छोटे छोटे लड़कों का सिंह के बच्चों के साथ खेलना लिखा है। संन्यास और गृहस्थाश्रम का मेल, कालिदास से अच्छा और शायद ही किसी ने दिखाया हो।

संन्यासियों की कुटी के आधार पर कालिदास ने गृहस्थ का घर बनाया है। उसने दाम्पत्य-प्रेम को विषय के पञ्जे में जाने से बचाया है और उसे संन्यासोचित ऊँचा आसन दिया है। हमारे धर्मशास्त्रों में भी स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कठिन नियमों से जकड़ा हुआ है। कालिदास ने उस बन्धन के सम्बन्ध को सौन्दर्य्य के तत्त्व से भी सही सिद्ध किया है। कालिदास ने नम्रता, धर्म और माधुर्य्य मिले हुए सौन्दर्य्य को ही पूज्य माना है। केवल बाहरी सौन्दर्य्य को नहीं। उसका सौन्दर्य्य घनिष्ठता में एकाङ्गी किन्तु व्यापकता में सारे संसार को अपनी गोद में लिये हुए है। जैसे द्रुतप्रवाहा नदी समुद्र में मिल कर अखण्ड शान्ति-लाभ करती है, वैसे ही स्त्री-पुरुषों का प्रेम सौन्दर्य्य की गोद में पहुँच कर असीम शान्ति-सुख पाता है। ऐसा निग्रह-युक्त प्रेम निग्रह-हीन प्रेम से उत्तम ही नहीं होता, किन्तु आश्चर्य्य-कारक भी होता है।

इन्द्रजितसिंह।

"कालिदास" की समालोचना।

समालोचना से बड़े लाभ हैं। जिस साहित्य में समालोचना नहीं वह विटप-विहीन महीरुह के समान है। उसे देख कर नेत्रानन्द नहीं होता। उसके पाठ और परिशीलन से हृदय शीतल नहीं होता। वह नीरस मालूम होता है। सत्कवि अपने काव्यों के द्वारा समाज का हित-साधन करता है। वह अपने काव्यों में आदर्श पुरुषों और आदर्श स्त्रियों का चरित वर्णन करके उसके द्वारा ऐसी ऐसी शिक्षायें देता है जो और किसी तरह नहीं दी जा सकतीं। काव्येतर ग्रन्थों की शिक्षायें हृत्पटल पर उतनी अङ्कित नहीं होतीं जितनी कवियों की शिक्षायें होती हैं। नीति से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में सच बोलने की महिमा जगह जगह पर गाई गई है। पर उसका असर उतना नहीं होता जितना कि कवि-वर्णित हरिश्चन्द्र के चरित से होता है। राजा का सर्व-प्रधान कर्तव्य प्रजारञ्जन है। पुराणादि में हज़ारों जगह इसका उल्लेख है। पर ऐसे विधि-निषेधात्मक उल्लेखों की लोग तादृश परवा नहीं करते। केवल प्रजा को सन्तुष्ट रखने के लिए, निष्कलङ्क जान कर भी, जब सीता का रामचन्द्र के द्वारा परित्याग किया जाना हम रघुवंश में पढ़ते हैं तब वही बात हमारे हृदय में पत्थर की लकीर हो जाती है। कवि यह नहीं कहता कि यह काम करना अच्छा है और यह काम करना बुरा। वह इन बातों के चित्र दिखला कर उनके द्वारा समाज-हितकर शिक्षा देता है। पति के अनुचित आचरण को देख कर भी आदर्श सती स्त्रियाँ उसकी प्रतिकूलता नहीं करतीं। वे पति के सुख को अपना सुख समझती हैं। आन्तरिक वेदना सहने पर भी वे पति से कठोर और कोपप्रदर्शक व्यवहार नहीं करतीं। इस लोकोपकारी शिक्षा को कवि महारानी धारिणी, औशीनरी और शकुन्तला के चरित-सम्बन्धी शब्दचित्र दिखला कर देता है; और ऐसी शिक्षा का असर अन्य रीति से दी गई शिक्षा की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक होता है। प्रत्यक्ष शिक्षा में रस नहीं। इस तरह की शिक्षा में अपूर्व रसास्वादन के साथ साथ चिरस्थायिनी शिक्षा भी प्राप्त होती है। जो समालोचक ऐसे रहस्यों का उद्घाटन करके कवि के आन्तरिक अभिप्राय को व्यक्त करता है वही सच्चा समालोचक है।

जिसके कार्य्य या ग्रन्थ की समालोचना करनी है उसके विषय में समालोचक के हृदय में अत्यन्त सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है। लेखक, कवि या ग्रन्थकार के हृदय में घुस कर समालोचक को उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह उक्ति कही थी—यह जब तक समालोचक को न मालूम होगा तब तक वह उस उक्ति की ठीक समालोचना कभी न कर

सकेगा। किसी वस्तु या विषय के सब अंशों पर अच्छी तरह विचार करने का नाम समालोचना है। वह तब तक सम्भव नहीं जब तक कवि और समालोचक के हृदयों में कुछ देर के लिए एकता न स्थापित हो जायगी। कवि की कविता किस समय की है; उस समय देश की क्या दशा थी; समाज की क्या दशा थी; तत्कालीन लोगों के आचार-विचार और व्यवहार कैसे थे–इन बातों को अच्छी तरह जाने बिना समालोचना करते समय समालोचित लेख के कर्त्ता पर अन्याय होने का बड़ा डर रहता है। जो सरसहृदय नहीं, जिसने काव्य-शास्त्र में अच्छी गति नहीं प्राप्त की, जिसने अलङ्कारशास्त्र का परिशीलन नहीं किया, जिसने अन्यान्य प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों की कविता को विचार-पूर्व्वक नहीं पढ़ा वह यदि कालिदास के काव्यों की आलोचना करने बैठे तो उसकी समालोचना कभी आदरणीय न होगी। किसी ने किसी पत्र या पत्रिका में प्रकाशित होने के लिए कोई लेख भेजा। सम्पादक ने उसे अप्रकाशनीय समझ कर न छापा। बस, फिर क्या है, लगी उसकी समालोचना होने। किसी पत्र ने किसी अन्यपत्र के साथ बदला नहीं किया। लगी होने उस पर वाग्बाणों की वर्षा। फिर उस समालोचना में उसके घर-द्वार, गाड़ी-घोड़े, नौकर-चाकर, वस्त्राच्छादन तक की ख़बर ली जाने लगी। यह समालोचना नहीं, किन्तु समालोचक के पवित्र आसन को कलङ्कित और साहित्य-सरोवर को पङ्किल करना है।

कवि या ग्रन्थकार जिस मतलब से ग्रन्थ-रचना करता है उससे सर्वसाधारण को परिचित कराने वाले समालोचक की बड़ी ही ज़रूरत रहती है। ऐसे समालोचकों की समालोचना से साहित्य की विशेष उन्नति होती है और कवियों के गूढ़ आशय मामूली आदमियों की भी समझ में आ जाते हैं। कालिदास की शकुन्तला, प्रियंवदा और अनसूया के स्वभाव में क्या भेद है? उनके स्वभावचित्रण में कवि ने कौन सी ख़ूबियाँ रक्खी हैं? उनसे क्या क्या शिक्षा मिलती है? ये बातें सब लोगों के ध्यान में नहीं आ सकतीं। अतएव वे उनसे लाभ उठाने से वञ्चित रह जाते हैं। इसे थोड़ी हानि न समझिए। इससे कवि के उद्देश का अधिकांश ही व्यर्थ जाता है। योग्य समालोचक समाज को इस हानि से बचाने की चेष्टा करता है। इसीसे साहित्य में उसका काम इतने आदर की दृष्टि से देखा जाता है—इसीसे साहित्य की उन्नति के लिए उसकी इतनी आवश्यकता है।

अन्य भाषाओं के साहित्य-सेवियों ने अपने ही देश के कवियों के ग्रन्थों की नहीं, किन्तु विदेशी कवियों तक के काव्यों की समालोचनायें लिख कर अपने साहित्य का कल्याण-साधन किया है। परन्तु भारत के कविकुलचक्रचूड़ामणि कालिदास के समग्र ग्रन्थों की विस्तृत समालोचना का अपनी देशभाषा में अब तक अभाव था। यों तो कालिदास के कई ग्रन्थों की अच्छी अच्छी समालोचनायें बँगला, मराठी और तैलङ्गी भाषाओं में निकल चुकी हैं। कविकुल-गुरु के काव्यों और नाटकों की समष्टि-रूप से भी दो एक समालोचनायें हुई हैं। पर वे विस्तृत नहीं। उनमें प्रत्येक बात पर विचार नहीं किया गया। थोड़े ही में मुख्य मुख्य बातें कह दी गई हैं। बड़े आनन्द का विषय है, इस अभाव को एक वङ्गवासी विद्वान् ने दूर कर दिया। श्रीयुत राजेन्द्रनाथ देव शर्म्मा, विद्याभूषण, कलकत्ते के संस्कृत-कालेज में अध्यापक हैं। आप कलकत्ता-विश्वविद्यालय के परीक्षक और व्याख्याता (Lecturer) भी हैं। कई उत्तमोत्तम ग्रन्थ भी आपने बनाये हैं। "कालिदास और भवभूति" नाम की भी एक उपयोगी पुस्तक की आपने रचना की है। आपका एक नया ग्रन्थ हाल में प्रकाशित हुआ है। उसका नाम है—"कालिदास"। वह माननीय विचारपति डाक्टर आशुतोष मुखोपाध्याय सरस्वती, सी० एस० आई०, एम० ए०, डी० एल०, डी० एस सी० को समर्पित किया गया है। कलकत्ते की इम्पीरियल लाइब्रेरी के अध्यक्ष, अनेकभाषावित् परम विद्वान् श्रीयुत हरिनाथ दे, एम० ए० की लिखी हुई पुस्तका-

रम्भ में एक विचारपूर्ण भूमिका अँगरेज़ी में प्रकाशित की गई है। पुस्तक बँगला में है और कई मनोहर चित्रों से अलङ्कृत है। छः सौ से अधिक पृष्ठों में यह समाप्त हुई है। इसमें कालिदास के रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, अभिज्ञान शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र की विस्तारपूर्वक समालोचना है। समालोचना बड़ी ही योग्यता और मार्म्मिकता से की गई है। समालोचक महोदय ने ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है जिनका साधारण जनों के ध्यान में आना बिलकुल ही असम्भव था। कालिदास क्यों कविकुलगुरु कहे जाते हैं, उनकी कविता में कौन सी ऐसी बातें हैं जिनके कारण उनका इतना नाम है, उनकी कविता से कैसी कैसी शिक्षायें मिलती हैं, उनके नाटकपात्रों में क्या विशेषता है—यह सब इस समालोचना को पढ़ने से तत्काल मालूम हो जाता है और कालिदास की सहस्र मुख से प्रशंसा करने को जी चाहता है। इस समालोचना से यह भी ज्ञात हो जाता है कि समालोचक के लिए कितनी विद्वत्ता की अपेक्षा होती है और उससे साहित्य तथा सर्वसाधारण को कितना लाभ पहुँच सकता है। हमारी प्रार्थना है कि जो लोग बँगला पढ़ सकते हैं वे इस पुस्तक को अवश्य पढ़ें। जो नहीं पढ़ सकते वे, यदि हो सके तो, उसे सीखने का प्रयत्न करें। अकेली इस एक पुस्तक के पढ़ने के लिए ही यदि वे बँगला सीखें तो भी उन्हें अपना परिश्रम सफल समझना चाहिए। क्योंकि, थोड़े ही परिश्रम से वे कालिदास की कविता का मर्म समझ सकेंगे और यह जान सकेंगे कि कवीश्वरों के चक्रवर्ती कालिदास की कविता की क्यों इतनी प्रशंसा है। उसमें क्या गुण है, उसमें कितना रस है और उससे कितनी और किस तरह की शिक्षायें मिल सकती हैं। यह थोड़ा लाभ नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए किये गये परिश्रम की अपेक्षा वह बहुत अधिक है।

कालिदास के ग्रन्थों में रघुवंश सबसे श्रेष्ठ है। उसकी सर्वोत्तमता का कारण यह है कि उसमें महाकवि ने सृष्टिनैपुण्य का सबसे अच्छा चित्र खींचा है। और, सृष्टि-चातुर्य्य का सूक्ष्म और सच्चा ज्ञान होना ही कवि का सबसे बड़ा गुण है। इस गुण के विषय में विद्याभूषण महोदय ने बहुत कुछ लिखा है। उसका मतलब नीचे दिया जाता है।

कवि का प्रधान गुण सृष्टिनैपुण्य है। सुन्दर सुन्दर चरित्रों की सृष्टि और उस चरित्रावली का देश, काल और अवस्था के अनुसार काव्य में समावेश करना ही कवि का सर्वश्रेष्ठ कौशल है। यह कौशल जिसमें नहीं उसमें अन्य गुण चाहे जितने हों उसकी रचना उत्कृष्ट नहीं हो सकती। सृष्टिवर्णन स्वभावानुरूप होने से मनोरम होता है। पर स्वभावप्रतिकूल होने से वही विरक्तिजनक हो जाता है। इसी से आख्योपन्यास की अधिकांश घटनायें सहृदय-सम्मत नहीं। स्वभाव के अनुसार जो व्यापार होते हैं, कवि की सृष्टि में तदनुयायी व्यापारों का होना ही उचित है। यदि कवि अपने सृष्टि-कौशल में सांसारिक व्यापार-समूह को स्वाभाविक व्यापार की अपेक्षा अधिकतर मनोहर और वैचित्र्य-विभूषित बना सके तो उसका काव्य और भी सुन्दर हो। मनुष्य के प्रधान गुणों में आत्म-त्याग भी एक गुण है। वह एक प्रकार की श्रेष्ठ सम्पत्ति है। संसार में इस आत्मत्याग के अनेक उदाहरण देखे जाते हैं। यदि कवि अपने काव्य में इस आत्मत्याग की उत्तम मूर्ति बना सके तो उसका काव्य निःसन्देह बहुत ही हृदयहारी होगा। किन्तु आत्मत्याग के जैसे दृष्टान्त संसार में दृष्टिगोचर होते हैं उनकी अपेक्षा यदि कवि ऐसे दृष्टान्तों को अधिकतर मनोज्ञ बना सके तो उस की सृष्टि स्वाभाविक सृष्टि की अपेक्षा समधिक चमत्कारिणी और आह्लाददायिनी होगी। इस चमत्कारिणी कवि-सृष्टि में यदि कुछ भी स्वभाव-विरुद्ध, अर्थात् अस्वाभाविक, न होगा तभी वह सृष्टि सर्व्वांश में निरवद्य होगी। स्वभाव में जो बात सोलह आने पाई जाती है उसे कवि अठारह आने कर सकता है। परन्तु स्वभाव में जिस वस्तु का अस्तित्व एक आना भी नहीं उसकी रचना करने से यही

सूचित होगा कि कवि में नैपुण्य का सर्वथा अभाव है। स्वभावानुरूप चरित्र-सृष्टि करने से भी कवि की तादृश प्रशंसा नहीं। क्योंकि, ऐसी सृष्टि से कवि-सृष्टि का उत्कर्ष नहीं सूचित होता। उससे समाज का उपकार नहीं हो सकता। जो व्यवहार हम लोग प्रति दिन संसार में अपनी आँखों से देखते हैं उन्हीं का प्रतिबिम्ब यदि कवि-सृष्टि में देखने को मिला—उन्हीं का यदि पुनर्दर्शन प्राप्त हुआ—तो उसमें विशेषता ही क्या हुई? जिस काव्य से संसार का उपकार-साधन न हुआ वह उत्तम काव्य नहीं कहा जा सकता। समुद्र के किनारे बैठ कर अस्तगमनोन्मुख सूर्य्य की शोभा को देखना बहुत ही आनन्ददायक दृश्य है। पर्वत के शिखर से अधोगामिनी नदी या अधोदेशवर्तिनी हरितवसना पृथ्वी का दर्शन सचमुच बड़ाही आह्लादकारक व्यापार है। अपनी प्रतिभा के बल पर कवि इन दोनों प्रकार के दृश्यों की तद्वत् मूर्तियाँ निर्म्मित कर सकता है। परन्तु उनके अवलोकन से क्षणस्थायी आनन्द के सिवा दर्शकों और पाठकों का और कोई हितसाधन नहीं हो सकता। उससे कोई शिक्षा नहीं मिल सकती। जिस सृष्टि से आमोद-प्रमोद के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं वह काव्य उत्कृष्ट नहीं। संसार में ऐसे संख्यातीत पदार्थ हैं जिनसे क्षण भर के लिए चित्त का विनोदन हो सकता है—हृदय को आह्लाद प्राप्त हो सकता है। फिर काव्य की क्या आवश्यकता? अतएव स्वीकार करना पड़ेगा कि पाठकों के आमोद-विधान के सिवा काव्य का और भी कुछ उद्देश है। परन्तु वह उद्देश काव्य-शरीर के अन्तर्गत इतना छिपा हुआ होता है कि पाठकों को उसकी उपलब्धि सहसा नहीं होती। देवशक्ति जिस प्रकार अज्ञात-भावपूर्वक अपना काम करती है उसी तरह कवि का वह गूढ़ उद्देश भी पाठकों के हृदय पर असर करता है; पर उनको उसके अस्तित्व की कुछ भी ख़बर नहीं होती। इस प्रकार का गूढ़ उद्देश पाठकों के अन्तःकरण में चिरस्थायी संस्कार उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। कवि का वह प्रच्छन्न उद्देश है—पाठकों के हृदय का उत्कर्ष-साधन और शुद्धि-विधान, तथा जगत् को शिक्षा प्रदान। कवि जन पहले तो सौन्दर्य्य की पराकाष्ठा दिखलाते हैं। फिर, उसी प्रत्यक्ष-सौन्दर्य्य-सृष्टि के द्वारा परोक्षभाव से पाठकों के हृदय को भी सौन्दर्य्य-पूर्ण कर देते हैं। सुन्दर फूल को देख कर नेत्रों को अवश्य तृप्ति होती है; पर यदि ऐसे फूल में सौरभ भी हो तो उसके साथही मन भी तृप्त हो जाता है। नेत्रों की तृप्ति क्षणस्थायिनी होती है; परन्तु मन की तृप्ति चिरस्थायिनी। इसी से कवि-जन लोक-शिक्षोपयोगी आदर्शों को सौन्दर्य्य रूप हृदयरञ्जन आवेष्टन से आवृत करके संसार में शिक्षा का प्रचार करते हैं। धीरता और सत्यप्रियता सर्वश्रेष्ट गुण हैं। अतएव सबको धीर और सत्यप्रिय होना चाहिए। भीष्म और युधिष्ठिर की सृष्टि करके महाभारत में कवि ने बड़ी ही ख़ूबी से इन गुणों की शिक्षा दी है। सैकड़ों वाग्मी हज़ारों वर्ष तक वक्तृता करके भी जो काम इतनी अच्छी तरह नहीं कर सकते, जो काम राज-शासन द्वारा भी सुन्दरतापूर्वक नहीं हो सकता, वही कवि अपने सृष्टि-कौशल द्वारा सहजही में कर सकता है। आत्म-त्याग अच्छी चीज़ है, स्वार्थपरता बुरी। इस तत्त्व को धर्म्मोपदेष्टा सौ वर्ष तक प्रयत्न करके शायद लोगों के हृदय पर उतनी सुन्दरता से खचित न कर सकेंगे ज़ितनी सुन्दरता से कि कवि ने राम के द्वारा सीता का निर्वासन कराकर खचित किया है। इसी से यह कहना पड़ता है कि कवि संसार के सर्व-प्रधान शिक्षक और सर्व-प्रधान उपकारक हैं।

काव्य का सृष्टि-सौन्दर्य्य किसी निर्दिष्ट विषय से ही सम्बन्ध नहीं रखता। केवल रूप, गुण या किसी अवस्था-विशेष के वर्णन में ही सौन्दर्य्य परिस्फुट नहीं होता। देश, काल, पात्र, रूप, गुण, अवस्था, कार्य आदि की समष्टि के द्वारा यदि किसी सुन्दर वस्तु की सृष्टि की जाय तो उस सृष्ट वस्तु के सौन्दर्य्य को ही यथार्थ सौन्दर्य्य कह सकते हैं। वही कवि-सृष्टि का परमोत्कर्ष है। अन्यथा, यदि और बातों की उपेक्षा करके नायिका के चिकुर-वर्णन से ही

सर्ग का अधिकांश भर दिया जाय तो उसमें सौन्दर्य्य आ कैसे सकेगा? उससे तो उलटा विरक्ति उत्पन्न होगी।

सृष्टि-नैपुण्यही कवि का प्रथम और प्रधान गुण है। उस सृष्टि-नैपुण्य के किसी अंश में त्रुटि आजाने से काव्य की जैसे अङ्गहानि होती है, वैसे ही, लोक-शिक्षारूपी जिस उच्च उद्देश-साधन के इरादे से कवि काव्य-प्रणयन करता है उसकी सिद्धि में भी व्याघात आता है। जो कवि केवल दस पाँच श्लोकों की रचना करके किसी पदार्थ का केवल बाहरी सौन्दर्य्य दिखाता है उसका आसन अधिकांश निरापद रहता है। जो लोग बाहरी सौन्दर्य्य के बीच में वर्णनीय पदार्थ को स्थापित करके, इसी बाहरी सौन्दर्य्य के प्रकाश द्वारा उसे प्रकाशित करते हैं उनका काम भी उतना दुष्कर नहीं। किन्तु जो कवि बाहरी सौन्दर्य्य को दूर रख कर, वर्णनीय वस्तु के केवल भीतरी भाग पर दृष्टि रखता है—वेशभूषा के विषय में उदासीन रह कर भूषित व्यक्ति के हृदय की ही तरफ़ दृष्टि-क्षेप करता है, अर्थात् जो एक सम्पूर्ण विराट मूर्ति की सृष्टि करके तद्द्वारा समाज-शिक्षा देना चाहता है—उसका आसन बड़ा ही समस्या-पूर्ण समझा जाना है। उसे बात बात पर, पद पद पर, अक्षर अक्षर पर, समाज की अवस्था की भावना करनी पड़ती है—लोकहितैषणा से प्रणोदित होना पड़ता है। जो बात समाज के लिए अमङ्गलकर है, जिसकी आलोचना से समाज का प्रकृत हित-साधन नहीं होता, उसका वह परित्याग करता है। इसी से हमारे आर्य्य-साहित्य में लेडी मैकबेथ और ओथेलो का चित्र नहीं पाया जाता। जिस वस्तु का सर्वांश उत्तम है—जो सर्वथा सत् है—उसी की सृष्टि होनी चाहिए।

महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ काव्य, अथवा संस्कृत-भाषा के सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य, रघुवंश, के प्रत्येक अक्षर में यह सत्य विद्यमान है। लोक-शिक्षोपयोगी बातों से रघुवंश आद्यन्त परिपूर्ण है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरु के वाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी धेनु की परिचर्य्या, भिक्षार्थी अतिथि की अभिलाषपूर्ति के लिए धरणीपति राजा की व्याकुलता, लोकरञ्जन और राज-सिंहासन निष्कलङ्क रखने के लिए नृपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा पत्नी का निर्वासनरूपी आत्मत्याग आदि अनेक लोकहितकर और समाजशिक्षोपयोगी विषयों से रघुवंश अलङ्कृत है।

विद्याभूषण महाशय की इस समालोचना, इस विवेचना, इस मर्म्मोद्घाटन से पाठकों को मालूम हो जायगा कि क्यों रघुवंश सर्वोत्तम काव्य माना जाता है और कालिदास को क्यों कविकुलगुरु की पदवी मिली है। ऐसे समालोचक का आसन कितना ऊँचा है और साहित्य की उन्नति के लिए उसकी कितनी आवश्यकता है, यह बात भी इससे अच्छी तरह विदित हो जायगी। जो कौमुदी के कीड़े और महाभाष्य के मतङ्गज कालिदास का एक भी शब्द-स्खलन नहीं सहन कर सकते, अतएव उसे सही सिद्ध करने के लिए पाणिनि, पतञ्जलि और कात्यायन की भी उक्तियों पर हरताल लगाने की चेष्टा करते हैं उन्हें विद्याभूषणजी का आसन कभी प्राप्त नहीं हो सकता। कालिदास की कीर्ति की रक्षा उनके दो चार शब्द-स्खलनों को शुद्ध सिद्ध करने की चेष्टा से नहीं हो सकती। उसकी रक्षा ऐसी समालोचनाओं से हो सकती है जैसी कि विद्याभूषणजी ने प्रकाशित की है।

अभिज्ञान शाकुन्तल के विषय में श्रीयुत राजेन्द्रनाथजी ने बहुत कुछ लिखा है। उसकी समालोचना से उन्होंने अपनी पुस्तक के सौ पृष्ठ से भी अधिक ख़र्च किये हैं। उनकी सम्मति का सारांश यह है:—

अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास की विश्वतोमुखी प्रतिभा, ब्रह्माण्ड-व्यापिनी कल्पना और सर्वातिशायिनी रचना की सर्वोत्तम कसौटी है। विक्रमोर्वशीय और मालविकाग्निमित्र में कवि ने जिन दिव्य दृश्यों और दिव्य मूर्तियों का अङ्कण किया है वे सब तो शाकुन्तल में हैं ही; परन्तु उसमें ऐसी और भी

अनेक मूर्तियाँ और अनेक चीज़ें हैं जिनका मनही मन केवल अनुभव किया जा सकता है, दूसरे को उनका अनुभव नहीं कराया जा सकता। वे केवल आत्मसंवेद्य हैं, भाषा की सहायता से वे दूसरे पर नहीं प्रकट की जा सकतीं। इसी से अभिज्ञान शाकुन्तल कवि-सृष्टि का चरम उत्कर्ष है। सहृदय जनों ने यथार्थ ही कहा है—"कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञान-शकुन्तलम्"। अभिज्ञान शाकुन्तल कालिदास का सर्वस्व है; उनकी अपार्थिव कल्पनारूपिणी उद्यान-वाटिका की अमृतमयी पारिजात-लता है। धर्म और प्रेम, इन दोनों के सम्मेलन से जगत् में जिस मधुर आनन्द की उत्पत्ति होती है, अभिज्ञान शाकुन्तल रूपी स्वच्छ दर्पण में उसी का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। शकुन्तला महाकवि की चरम सृष्टि है—वाणी के वर-पुत्र का अक्षय आलेख्य है!

शकुन्तला के प्रत्येक पात्र, प्रत्येक घटना और प्रत्येक अंश की विशेषता और तद्विषयक महाकवि के अलौकिक चातुर्य्य से अभिज्ञता प्राप्त करना हो तो विद्याभूषणजी की लिखी हुई समालोचना साद्यन्त पढ़ना चाहिए।

विद्याभूषण महाशय को कालिदास का अन्धभक्त न समझिए। उन्होंने कालिदास की रचनाओं में दोषोद्भावनायें भी की हैं। कुमार-सम्भव के विषय में आपकी राय है:—

"कुमारसम्भव रघुवंश का पूर्ववर्ती है। पहली रचना का बिलकुलही निर्दोष होना सम्भव नहीं। इसी से कुमारसम्भव में जो जो स्थल किञ्चित् असंलग्न हैं तत्सदृश स्थल-समूह का कालिदास ने रघुवंश में संशोधन कर दिया है। हर-पार्वती के विवाह का अज-इन्दुमती के विवाह से और रति-विलाप का अजविलाप से मिलान करने पर यह सिद्धान्त सबको स्वीकार करना पड़ेगा"।

मतलब यह कि शिवपार्वती के विवाह और रति-विलाप में कालिदास को ख़ुदही अनौचित्य मालूम हुआ। इससे उन्होंने अज-इन्दुमती के विवाह और अज-विलाप को और तरह से लिखकर पूर्व-दोष को रघुवंश में नहीं आने दिया।

मेघदूत के अन्यान्य अंशों की प्रशंसा करने के बाद विद्याभूषणजी लिखते हैं:—

"मेघदूत में कोई ऐसा आदर्श-चरित नहीं जिससे कोई लोक-हितकर या समाज-हितकर शिक्षा मिल सके। राम, सीता और दुष्यन्त-शकुन्तला के आदर्श-चरित्र से समाज का बहुत कुछ उपकार-साधन हो सकता है। परन्तु मेघदूत के यक्ष और यक्ष-पत्नी के चरित्र से उस तरह का कोई उच्च उद्देश सम्पन्न नहीं हो सकता"।

ऋतुसंहार में सृष्टि-नैपुण्य नहीं। अतएव उसे विद्याभूषणजी प्रधान काव्य नहीं मानते। सृष्टि-विषयक चातुर्य्यही को आप काव्य का जीवन जानते हैं। अतएव और सब बातों के होने पर भी जिस काव्य में यह गुण नहीं उसे प्रायः निर्जीवही समझना चाहिए।

राजेन्द्रनाथ महोदय अपनी पुस्तक में एक जगह लिखते हैं:—

"रघुवंश के सातवें सर्ग के अन्त में, इन्दुमती को न पाने के कारण निराश हुए अपरापर राजाओं के साथ महाकवि कालिदास ने इन्दुमती-वल्लभ अज का युद्ध-वर्णन किया है। उसे पढ़ने से कवि के हृदय की कोमलता का बहुत कुछ पता लगता है। युद्ध-वर्णन में अपनी विश्वविमोहिनी कल्पना की स्वाभाविक लीला दिखाने में कालिदास समर्थ नहीं हुए। इस विषय में कविगुरु वाल्मीकि ही सिद्धहस्त थे। उन्होंने ऐसे प्रसङ्गों में जैसा अद्भुत रचना-कौशल दिखाया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

अर्थात् इनकी सम्मति में कालिदास को युद्ध का अच्छा वर्णन करना न आता था। मालविकाग्निमित्र के विषय में भी इन्होंने एक जगह प्रतिकूल राय दी है। लिखा है कि इसमें कालिदास अपनी स्वाभाविक और उन्मादिनी वर्णना करने में समर्थ नहीं हुए—अथवा उन्हें इस तरह का वर्णन करने के लिए अवसरही नहीं मिला।

विक्रमोर्व्वशी के विषय में आप लिखते हैं:—

"विक्रमोर्व्वशीय आद्योपान्त शकुन्तला की तरह सर्वाङ्ग-सुन्दर नहीं। उसमें आदर्श रमणीचरित्र-प्रदर्शन तो कालिदास

कर सके हैं; पर आदर्श पुरुष की सृष्टि नहीं कर सके। शायद उन्हें वैसा करना अभीष्ट ही न था"।

अर्थात् राजा पुरुरवा का जो चित्र कालिदास ने विक्रमोर्व्वशीय में खींचा है वह निष्कलङ्क नहीं।

मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्व्वशीय के विषय में, अन्त में, समालोचक महाशय एक और जगह इस प्रकार लिखते हैं:—

"विक्रमोर्व्वशी और मालविकाग्निमित्र में समाज के लिए हितकर आदर्श चरित्र नहीं। महाकवि ने वैसा चरित्र चित्रण करने का प्रयास ही नहीं किया। इन काव्यों में कवि ने प्रणय और प्रणयोन्माद-वर्णना को ही प्रतिपाद्य समझा है। + + + + + धर्म्म-भाव-शून्य प्रणय के द्वारा प्रणयच्छद्मरूपी पाश-बन्धन के द्वारा प्रणयी का भी अमङ्गल-साधन होता है, समाज का भी अमङ्गल-साधन होता है और जगत् का भी अमङ्गल-साधन होता है। ऐसे प्रणय में पड़ने से जितना अमङ्गल होता है धर्म्मभावमय प्रणय के द्वारा उतना ही, किम्बहुना उससे भी अधिक, मङ्गल होता है। कवि ने इस तत्त्व का इन दोनों काव्यों में उद्‌घाटन नहीं किया"।

बस, अब और अधिक लिखने के लिए स्थान नहीं। जिन्हें कालिदास के काव्यों का तत्त्व विशेष-रूप से जानना हो उन्हें श्रीयुत राजेन्द्रनाथ विद्या-भूषण की समग्र पुस्तक पढ़नी चाहिए।

माला* ।

यह रमणी उन रूपवती ललनाओं में से थी जो कभी कभी प्रारब्ध के दोष से निर्धन माता-पिता के घर जन्म लेती हैं। इस कारण न तो अमीरों का सा इसका रहन-सहन हुआ, न उनकी तरह नाच-रङ्ग में जाने का अवसर ही इसे मिला। कोई अच्छा प्रेमपात्र मित्र भी इसे न मिला और न ऐसा मित्र पाने की इच्छा ही इसे हुई। जब माता-पिता ने शिक्षा-विभाग के एक मामूली मुलाज़िम से विवाह करने का इससे अनुरोध किया तब बेचारी ने चुप चाप उनकी आज्ञा मान ली।

धन की कमी के कारण यह किसी तरह अपने दिन काटने लगी, परन्तु इसके चित्त को शान्ति न थी। वह यह अनुमान करती थी कि नीच समझ कर धनवानों ने हमको जाति से निकाल दिया है। स्त्रियों को अपने रूप का बड़ा अभिमान होता है। यदि ईश्वर ने उनको सौन्दर्य्य दिया तो वे अपने को उच्च घराने की नारियों के समान समझती हैं।

इसी कारण इस रमणी को बड़ा कष्ट था। वह सोचती थी कि मैं सब तरह के सुख भोगने के योग्य हूँ। फिर क्यों ईश्वर ने मुझे एक दरिद्र घर में डाला? अपने घर की टूटी फूटी कुरसियां, पुरानी दीवारों और मैली छतों को देख देख कर उसका मन दुखी होता था। वह यह सोचा करती थी कि मुझ सी कोई दूसरी रूपवती नारी कभी ऐसी बुरी वस्तुओं से निर्वाह न करती। एक छोटी लड़की घर का काम काज करने आती थी। उसका आना जाना इसे और भी कष्ट देता था। दिन भर बेचारी अपने मन में अमीरों के सजे हुए कमरों का स्वप्न देखती और सोचती कि वे लोग कैसे क़ीमती क़ालीन बिछे हुए सुन्दर कमरों में रहते हैं और मैं यहाँ इस कारागार में दिन काटती हूँ।

सन्ध्या को जब उसका पति काम करके लौटता तब दोनों स्त्री-पुरुष खाना खाने बैठते। उस समय पति महाशय तो सामने रक्खी हुई भोजन की सामग्री की प्रशंसा करते और उसे बड़ी प्रसन्नता से खाते। परन्तु स्त्री अपने मन के घोड़े दूर दूर दौड़ाती और धनियों के दस्तरख़ानों का स्वप्न देखती।

इस रमणी के पास कोई अच्छा वस्त्र या आभूषण न था। आभूषणों का इसे बहुत शौक़ था। वह मन ही मन चाहती थी कि अच्छे अच्छे आभूषण पहन कर घूमें जिसमें लोग उसे देख कर उसकी

---

* फ़्रांस के एक विख्यात कहानी-लेखक की नेकलेस (Necklace) नामक कहानी का भावानुवाद।

अनुवादक

सुन्दरता की प्रशंसा करें। पर ऐसा होना असम्भव था।

इसके बालपन की एक धर्म्म-बहन थी। वह अमीर थी। बहुत दिनों से इसने उसके यहाँ जाना छोड़ दिया था; क्योंकि उसको देख कर इसके मन में ईर्ष्या होती थी। यह दिन भर घर में बैठी रोया करती थी। हर समय शोक! हर समय दुःख!

एक दिन सन्ध्या-समय इसका पति बहुत .खुश .खुश घर आया। उसके हाथ में एक बड़ा सा लिफ़ाफ़ा था। पत्नी के सामने लिफ़ाफ़े को फेंक कर वह बोलाः—

"यह लो, तुम्हारे लिए कुछ लाया हूँ।"

स्त्री ने तत्काल लिफ़ाफ़ा उठा लिया। उसे खोल कर देखा तो उसमें एक छपा हुआ कार्ड था। उस पर शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष की तरफ़ से निमन्त्रण-पत्र छपा हुआ था। उसमें अध्यक्ष ने इस पति-पत्नी को, १८ जनवरी की शाम को, अपने घर आने के लिए निवेदन किया था।

पति ने समझा था कि मेरी अर्द्धाङ्गिनी निमंत्रण-पत्र पाकर बहुत प्रसन्न होगी, किन्तु फल उसका उलटा हुआ। उसने कुढ़ कर उस कार्ड को मेज़ पर पटक दिया और पति का तिरस्कार करके बोली:—

"किस लिए तुमने यह कार्ड मुझे दिया है?"

"प्रियतमे, मैंने समझा था कि तुम इसे देख कर .खुश होगी। तुम कहीं भी नहीं जाती हो; अतएव अच्छा अवसर हाथ आया है। बड़ी मुश्किल से मैंने यह कार्ड पाया है। भला मामूली मुलाज़िमों को कहीं ऐसे निमंत्रणपत्र मिल सकते हैं? वहाँ पर बड़े बड़े लोगों से तुम्हारी भेंट होगी।"

स्त्री ने क्रोधभरी दृष्टि से पति की ओर देखा और बेसबरी से कहा:—

"क्या पहन कर मैं वहाँ जाऊँगी, तुम्हीं कहो?"

उस बेचारे को इसकी ख़बरही न थी। वह थोड़ी देर तक चुप रहा, फिर बोला:—

"जो कपड़े पहन कर तुम नाटक देखने गई थीं वही पहन कर जाना। मुझे तो वह जोड़ा बहुत भला मालूम होता है—"

पति ने देखा कि स्त्री रो रही है। दो बड़े बड़े जल-बिन्दु उसके नेत्रों के कोनों से धीरे धीरे नीचे आ रहे थे। उसने दुःखित हो कर पूछा:—

"बात क्या है? कहती क्यों नहीं?"

अपने मन को स्थिर करके और आंसू पोंछ कर स्त्री ने शान्त भाव से उत्तर दिया:—

"कुछ नहीं। बात यह है कि मेरे पास पहनने लायक़ अच्छे कपड़े नहीं। इस कारण अध्यक्ष के घर जाना मैं उचित नहीं समझती। अपना कार्ड किसी दूसरे को दे दो, जिसकी स्त्री के पास सुन्दर वस्त्र-आभूषण हों।"

कातर-स्वर से पति ने कहा:—

"प्रिये, बतलाओ, अच्छे कपड़ों के लिए कितने रुपये दरकार होंगे—ऐसे कपड़े जो इस तरह के मौक़ों पर काम आवें और बहुत दाम के भी न हों?"

स्त्री बड़े सोच-विचार में पड़ी। वह मन ही मन हिसाब जोड़ने लगी। साथ ही साथ वह यह भी सोचने लगी कि मुझे इतना दाम न कहना चाहिए जो उससे दिया न जा सके। आख़िरकार वह डरते डरते बोली:—

"मैं ठीक नहीं कह सकती कि कितना लगेगा; परन्तु अन्दाज़न २५० रुपये से काम चल जायगा।"

पति बेचारा चुप हो रहा। उसने उतनी रक़म गरमी के दिनों की सैर के लिए रख छोड़ी थी। उसका विचार था कि अगली गरमी की छुट्टियों में अपने मित्रों के साथ शिकार खेलने कहीं बाहर जाऊँगा। पर उसने जी कड़ा करके कहा—

"बहुत अच्छा। मैं तुमको ढाई सौ रुपये दूँगा, पर कपड़े बहुत अच्छे बनवाना।"

अध्यक्ष के घर जाने के दिन निकट आये। स्त्री के कपड़े भी तैयार हो चुके थे, तथापि वह उदास और चिन्तायुक्त ही रहती थी। एक दिन शाम को उसके पति ने पूछा:—

"अब उदासी का क्या कारण है ? सच कहो, तुम पिछले तीन दिन से इतनी परेशान क्यों हो ?"

स्त्री ने जवाब दियाः—

"मेरे पास कोई गहना नहीं; क्या पहन कर वहाँ जाऊँगी। यही चिन्ता मुझे खाये डालती है। बेहतर होगा कि मैं न जाऊँ।"

पति ने कहा,—

"फूलों के गहने क्यों नहीं पहनतीं ? आज कल तो ऐसे ही गहने पहनने का अधिक रवाज है"।

परन्तु पत्नी की तसल्ली इससे न हुई। वह बोलीः—

"अमीर औरतों में बे गहने के जाना बड़े सन्ताप का कारण है। इससे बढ़ कर और कोई दुःख नहीं।"

इस पर उसका पति चिल्लाकर बोलाः—

"तुम कैसी स्त्री हो ! अपनी सखी राधिका के पास क्यों नहीं जातीं ? वह तुमको बहुत अच्छे अच्छे आभूषण मँगनी दे देगी। वह तुम्हारा इतना तो एतबार ज़रूरही करेगी।"

यह सुनतेही पत्नी .खुशी के मारे उछल पड़ी। उसने प्रसन्न होकर कहाः—

"बात तो तुमने लाख रुपये की कही। मैं तो राधिका को भूल ही गई थी।"

दूसरे दिन वह रमणी अपनी सखी के पास गई और अपनी रामकहानी सुनाकर उससे गहनें माँगे। राधिका तुरन्त राज़ी हो गई। उसने अपने कमरे में जा कर सन्दूक़ खोला और गहनों का डिब्बा ला कर इसके सामने रख दिया। फिर वह बोलीः—

"लो, जो पसन्द आवे ले लो।"

अब इस रमणी के लिए गहना पसन्द करना कठिन काम हो गया। कभी वह मोतियों की माला पहनती; कभी रत्नजटित कण्ठा गले में डालती; कभी और कोई आभूषण पहन कर आईने के सामने खड़ी होती। बहुत देर तक वह यही गोरख-धंधा करती रही। पर निश्चय न कर सकी कि क्या ले जाय, क्या छोड़ जाय। अपनी सखी से वह बार बार पूछतीः—

"तुम्हारे पास कुछ और भी है ?"

"हाँ, हाँ, और भी है। न जानें तुझे कौन चीज़ पसन्द आवेगी।"

अन्त में काले साटन के एक छोटे से डिब्बे में उसने हीरों की एक माला देखी। .खुशी से उसका दिल धड़कने लगा। डरते डरते उसने उसे उठाया; अपने गले में डाला; और मूर्ति की तरह आईने के सामने खड़ी होकर वह अपनी रूप-राशि देखने लगी।

चिन्ता से काँपते काँपते उसने अपनी सखी से पूछाः—

"क्या मुझ को केवल यह—केवल यही—मँगनी दे सकती हो ?"

"हाँ, क्यों नहीं।"

यह उत्तर सुनते ही वह रमणी उछल पड़ी और अपनी सखी के गले में बाँह डाल कर प्रेम से उसका मुँह चूमने लगी। थोड़ी देर बाद वह उस माला को लेकर अपने घर लौट आई।

निमंत्रण का दिन आ गया। उस मुलाज़िम की धर्मपत्नी .खूब बन ठन कर अध्यक्ष के यहाँ गई। वहाँ सभी ने उसके रूप की प्रशंसा की। सभी ने प्रेमभरी दृष्टि से उसकी ओर देखा। बहुतों ने उसका नाम पूछा। बहुतों ने उसका परिचय पाकर अपने को भाग्यवान् समझा। अध्यक्ष महाशय ने भी उससे .खूब बात चीत की।

अब उस रमणी की .खुशी का ठिकाना न रहा। अपने मद में वह उन्मत्त सी हो गई। अपने सामने वह किसी को कुछ न समझने लगी। उसे मानों संसार का राज्य मिल गया।

सबेरे चार बजे सब लोग अपने अपने घर चले। इसका पति नित्य के पहनने के गरम कपड़े अपने साथ लेता आया था। अपनी प्यारी पत्नी को शीत से बचाने के लिए उसने वे कपड़े देने चाहे। पर वह ऐसे मामूली कपड़े कब पहन सकती। पति

का इरादा समझते ही वह दूसरी स्त्रियों की आँख बचा कर बाहर भागी।

पति ने उसको रास्ते में रोक कर कहा :—

"यह क्या ग़ज़ब करती हो। तुम्हें सरदी लग जायगी। ज़रा ठहरो, मैं गाड़ी ले आऊँ। पर वह कब सुनती थी। खट खट सीढ़ियों से नीचे उतर गई। वे गली में पहुँचे तो कोई गाड़ी न मिली। अब वे गाड़ी की तलाश में चले। जिस गाड़ी वाले को सामने से गुज़रते वे देखते उसी को पुकारते। किन्तु उनकी सब चेष्टायें व्यर्थ हुई।

सरदी से काँपते हुए दोनों को दूर तक जाना पड़ा। आख़िरकार उनको एक ख़राब सी गाड़ी मिली। उसी में चढ़ कर वे घर पहुँचे।

बस हो गया। स्त्री का मन ठिकाने आया। उसका चाव जाता रहा। इधर पति इस सोच में था कि दस बजे दफ़्तर पहुँचना होगा।

अब अपने कपड़े उतारने के लिए वह स्त्री आईने के सामने खड़ी हुई। एक बार फिर वह अपने सौन्दर्य्य की शोभा देखने लगी। देखते ही वह चिल्ला उठी, अरे!

उसका पति अपने आधे कपड़े उतार चुका था। हैरान होकर उसने पूछाः—

"अब क्या हुआ?"

थर थर काँपती हुई स्त्री ने पति की ओर देखाः—

"मैं—मैं—मैंने राधिका की माला खो दी!"

पति भय के मारे काँप उठाः—

"हैं! क्या? कैसे? क्या सच मुच खो गई?"

उन दोनों ने सब कहीं रत्ती रत्ती ढूँढ़ डाला, परन्तु माला न मिली। पति ने पूछा:—

"क्या तुमको अच्छी तरह याद है कि अध्यक्ष का घर छोड़ते समय माला तुम्हारे गले में थी?"

"हाँ मैंने उसे हाथ से छू कर देखा था।"

"यदि वह गली में गिरती तो हम लोग उसके गिरने का शब्द सुनते। वह ज़रूर गाड़ी में रह गई।"

"हाँ, यही बात है। क्या तुमको गाड़ी का नम्बर मालूम है?"

"नहीं। और तुमने तो नम्बर की तरफ़ आँख उठा कर भी न देखा होगा।"

"नहीं।"

दोनों एक दूसरे के मुँह को देर तक ताकते रहे। आख़िरकार पति ने फिर कपड़े पहने और स्त्री को सम्बोधन करके कहाः—

"मैं फिर उसी रास्ते जाता हूँ। देखूँ जो कहीं मिल जाय।"

पति तो गया। स्त्री वैसी ही कठपुतली सी कुरसी पर बैठी रही। उठने की भी शक्ति उसमें न थी। न उसने आग जलाई, न लेट कर आराम ही किया। सात बजे उसका पति वापस आया। माला का कुछ भी पता न चला।

इसके बाद पति ने पुलिस में ख़बर दी; ढिंढोरा पिटवाया; अख़बारों में इश्तिहार दिये; इनाम का लालच भी दिया; गाड़ी का भी पता लगाया; पर, कुछ भी फल न हुआ। चिन्ता के मारे रमणी दिन भर भूखी प्यासी बैठी रही।

शाम को पति घर आया। उसका चेहरा सूखा हुआ था। पत्नी से उसने कहा :—

"अपनी सखी को लिख दो कि माला का कुन्दा टूट गया है। उसे ठीक करवा कर मैं जल्दी ही माला लौटा दूँगी। इस बीच में शायद हम लोगों को उसका कुछ पता लग जाय।"

स्त्री ने वैसा ही किया।

एक सप्ताह बीत गया। इनकी सारी आशायें व्यर्थ गई। पति ने अन्त को स्त्री से कहा:—

"हमको वैसी ही माला ख़रीद कर देनी चाहिए।"

दूसरे दिन माला का डिब्बा लेकर वे उस जौहरी के पास गये जिसका नाम डिब्बे पर लिखा था। जौहरी ने अपनी बही देख कर कहा :—

"मैंने केवल यह डिब्बा बेचा था। माला के विषय में मैं कुछ नहीं जानता।"

तब वे अन्यान्य जौहरियों के पास गये। दुकान दुकान घूम घूम कर वे दरियाफ़्त करते फिरे।

अन्त में एक दुकान पर उनको ठीक वैसी ही माला मिली। उसकी क़ीमत चालीस हज़ार रुपये थी। पर जौहरी छत्तीस ही हज़ार लेकर देने पर राज़ी हुआ।

इन्होंने जौहरी से प्रार्थना की कि तीन दिन तक वह उस माला को न बेंचे। उन्होंने उसके साथ यह भी तय किया कि यदि फ़रवरी के अन्त तक पहली माला मिल जायगी तो उसको यह माला चौंतीस हज़ार पर वापस कर देंगे।

उस रमणी के पति के पास अट्ठारह हज़ार रुपये अपने निज के थे, जिन्हें उसका पिता उसके लिए छोड़ कर मरा था। बाक़ी रुपये उसने ऋण लेकर पूरे किये। किसी दोस्त से एक हज़ार, किसी से पाँच सौ, किसी से सौ, किसी से पचास। इस तरह बड़ी कठिनाई से उसने वह रक़म इकट्ठी की। छत्तीस हज़ार रुपये देकर जौहरी की दुकान से उसने वह नई माला ख़रीदी।

रमणी वह माला लेकर राधिका को वापस देने गई। राधिका झुँझला कर बोली:—

"तुम जल्दी क्यों न लाई। मुझे ज़रूरत पड़ती तो?"

रमणी को डर था कि कहीं बदली हुई माला पहचान न ली जाय। लेकिन राधिका ने उस डिब्बे का ढकना भी न खोला। चुपचाप उसे रख लिया।

अब कर्ज़ अदा करने के दिन आये। उन दोनों ने धीरता से आपत्ति का सामना किया। घर का नौकर मौक़ूफ़ कर दिया और दूसरा सस्ता मकान रहने के लिए ठीक किया।

स्त्री ने घर के सब काम अपने हाथ करने सीखे। अपने हाथ से वह बर्तन धोती; घर बुहारती; कपड़े साफ़ करती; मैले तौलिए मल मल कर धोती; प्रातःकाल पानी भर लाती; साधारण कपड़े पहन कर आटा, दाल, नमक, मिर्च, मसाला और तरकारी आदि ख़रीदने जाती; मण्डी में धेले धेले के पीछे कुँजड़ों आदि से लड़ती झगड़ती।

पति भी दिन रात काम करता। एक एक पैसे के बचाने की वह फ़िक्र में रहता। इस तरह प्रति मास कुछ कुछ ऋण चुकाया जाता।

यह दशा दस वर्ष तक रही। दस वर्ष में उन्होंने सूद सहित सब ऋण चुका दिया।

वह रूपवती रमणी अब वृद्धा सी बोध होने लगी। हाथ पैर पुष्ट, शरीर मज़बूत, ग़रीबों की औरतों का सा रहन-सहन। उसके पहले के दिन गये; युवावस्था की बातें स्वप्न हो गईं।

कभी कभी जब उसका पति दफ़्तर में होता तब वह खिड़की के पास बैठ जाती और उस सायङ्कालीन घटना की याद करती जब वह अतीव सुन्दरी थी; जब लोगों ने उसके रूप की तारीफ़ की थी; जब उसकी मूर्खता के कारण उसका सर्वस्व स्वाहा हो गया था।

यदि वह माला न खो जाती तो कौन जानता है, क्या होता। संसार में मनुष्य का जीवन बड़ा ही विचित्र है। छोटी छोटी बातों पर भी हम लोगों के जीवन का बिगाड़ या सुधार अवलम्बित रहता है।

एक रविवार को सैर करने के लिए वह रमणी शहर के बाहर बाग़ में गई। एक बेंच पर बैठी वह वायुसेवन कर रही थी। इतने में उसने एक स्त्री को एक बच्चे के साथ जाते देखा। देखते ही उसने उसे पहचान लिया। वह उसकी सखी राधिका थी।

इसके मन में तरह तरह के ख़यालात पैदा होने लगे। "क्या मैं इसके साथ बात चीत करूँ? हाँ, बेशक। अब तो सब बखेड़ा तय ही हो गया है। इसलिए इससे सब बातें याथातथ्य कह डालनी चाहिएँ।"

उठ कर वह उसके पास गई:—

"राधिका, अच्छी हो?"

राधिका ने आश्चर्य में आकर कहा:—

"मुझे याद नहीं, मैंने कभी आपको देखा हो।"

"मेरा नाम श्यामा है।"

राधिका अवाक् हो गई—

"श्यामा!—क्या सचमुच!—तुमको हो क्या गया है?"

"हाँ, तुमसे पिछली बार भेंट होने के बाद से मुझ पर बड़ी बड़ी विपत्तियाँ आईं—पर उनका कारण तुम्हीं हो।"

"मैं?—सो कैसे?"

"तुमको याद होगा कि मैंने अध्यक्ष के यहाँ जाने के लिए तुमसे माला मँगनी ली थी।"

"हाँ, फिर क्या हुआ?"

"वह माला खो गई।"

"खो गई? कैसे? यह कैसे हो सकता है? तुमतो उसे वापस दे आई थीं?"

"मैं ठीक उसी तरह की दूसरी माला वापस कर आई थी। तबसे दस वर्ष तक हम लोग उसकी क़ीमत चुकाते रहे हैं। तुम समझ सकती हो कि हमारे जैसे निर्धनों के लिए यह आसान बात न थी। आख़िरकार हमने सब रुपया अदा कर दिया।"

राधिका बोली:—

"तुम कहती हो कि मेरी माला के बदले तुम हीरों की एक दूसरी माला वैसी ही मोल लाई थीं?

"हाँ, पर तुमतो इस बात को न जान सकीं। क्या वह ठीक वैसी ही थी?" यह कह कर वह कुछ मुसकराई।

राधिका का हृदय करुणा से भर आया। उसके दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर उसने कहा:—

"आह, प्यारी श्यामा! बड़ी भूल हुई। मेरी माला के हीरे तो नक़ली थे। अधिक से अधिक उनकी क़ीमत पाँच सौ रुपये रही होगी!"

सत्यदेव, अमेरिका।

च्यवन-पत्नी सुकन्या।

(१)

वैवस्वत मनु के बेटे का था शर्याति भूमिपति नाम;
इसकी एक लाडली बेटी रम्य सुकन्या थी गुणधाम।
शीलवती थी, समझदार थी, पढ़ी लिखी थी, स्यानी थी;
बालपने की भली भांति से गई नहीं नादानी थी॥

(२)

संग पिता के रहती थी यह उसे मुदित अति करती थी;
अपनी भोली भाली बातें सुना हृदय को हरती थी।
एक बार शर्याति भूप ने जंगल के भीतर जाकर;
किया पास विश्राम च्यवन के आश्रम के अति सुख पाकर॥

(३)

आश्रम की शीतल छाया में करने नृप आराम लगे;
परिजन नौकर-चाकर सारे अपने अपने काम लगे।
जुही, चमेली, मृदुल मालती और मल्लिका की बेली
संग सखी के इधर सुकन्या लगी देखने अलबेली॥

(४)

दृश्य देखती हुई मनोरम चली सुकन्या सुकुमारी;
चुनती कुसुम, बनाती गुच्छे, करती बात मनोहारी।
इस अनुपम सौन्दर्य्य-मूर्ति को, इस स्वर्गीय दृश्य को देख,
आश्रम के तरुलता नृत्य कर आदर करने लगे विशेष॥

(५)

इसी तरह यह भोली भाली बड़ी दूर तक चली गई;
वहां एक अद्भुत कौतुकमय देखी इसने बात नई।
लगा हुआ है ढेर भस्म का मिट्टी जिस पर पड़ी हुई;
थे इसके भीतर गड्ढे से, दीमक भी थी लगी हुई।

(६)

इन गड्ढों में चमक रहे थे अति उज्वल सुन्दर तारे—
बड़े मनोहर, अतिशय सुन्दर, अनियारे, प्यारे, प्यारे।
जान वस्तु ज्योतिर्मय उनको, खोदा कण्टक के द्वारा,
किन्तु दुःख पाया फिर उसने निकली देख रक्त-धारा॥

(७)

चली गई पछताती मन में जहाँ पिता का डेरा था,
देखा तो सेनादल सारा महारोग ने घेरा था।
"इस पवित्र आश्रम का किसने कहो सत्य अपराध किया"?
पूछा एक एक से नृप ने किसने है यह दुःख दिया?

(८)

सबने कहा—"अन्न के दाता ! किया नहीं हमने कुछ पाप";
इतने में सुकुमारी कन्या बोल उठी यों अपने आप—
"प्यारे पिता हुआ है मुझसे इस आश्रम में अनुचित काम ;
भ्रम से ज्योतिर्मय पदार्थ के किया जन्तु-वेधन हा राम !"

(९)

राजा, रानी, नौकर, चाकर, हो अधीर सब गये वहां—
कन्या को लेकर, बहती थी उष्ण रक्त की धार जहाँ।
कूड़ा दूर हटा जो देखा बैठे थे संयमधारी,
सिद्धासन पर वृद्ध च्यवन ऋषि अति कृशतनु, तेजोधारी ॥

(१०)

मुनिवर की दोनों आंखों से बूँद बूँद गिरता था रक्त
इससे यह कह नृप विह्वल हो, मुनि-चरणों पर गिरा अशक्तः—
"क्षमा! क्षमा!! करुणाकर! भगवन्! क्षमा! क्षमा!! योगीश महान
क्षमा! क्षमा!! मुनिराज! महोदय! क्षमा! क्षमा!! विज्ञाननिधान!

(११)

मेरी इस अबोध पुत्री ने किया नाथ का बड़ा अकाज ;
होती विकट वेदना इससे मेरे हृदय-स्थल में आज।
बोले मुनि-"भय करो न राजन् ! नहीं किसी का इसमें दोष ;
होनहार हो ही जाता है !" यों कह कर कुछ किया न रोष ॥

(१२)

बोले और—"और तो नृपवर ! मुझको कुछ भी दुःख नहीं ;
जला रही यह चिन्ता मुझ को छूट न जावे धर्म्म कहीं।
पञ्जरशेष देह पहले ही अब आंखें भी नहीं रहीं ;
धर्म-कर्म क्यों कर साधूँगा जब जीवन भी निभे नहीं ॥

(१३)

इससे हे महिपाल ! धर्म-हित मेरी वाणी पर दे ध्यान ;
अन्धे की लकड़ी होने को दो मुझको निज-कन्या-दान"।
सुन मुनि के मुख से यह वाणी सन्नाटा सब पर छाया ;
'हाँ' 'ना' का कुछ भी उत्तर तब नहीं किसीसे बन आया ॥

(१४)

पाकर किन्तु सुकन्या बाला दिव्य दृष्टि, बोली कर जोड़ ;
"प्यारे पिता ! स्नेहमयि माता ! द्विविधा से लो निज मुख मोड़।
मैंनेही अपराध किया है, मैंही इनकी बन चाकर,
सेवा ,खूब करूँगी, अपना धर्म निभाऊँगी शुचितर ॥

(१५)

इसी लिए है जन्म स्त्री का—सहधर्मिणी पुरुष की हो—
धर्म-कर्म में बड़े प्रेम से—सुखी सभी का ज्यों जी हो।
होगी कोई हाय सुता क्या जग भीतर ऐसी अज्ञान—
आत्मसमर्पण नहीं करे जो पाकर अति उत्तम विद्वान ?

(१६)

धर्म यही है आर्य्य-सुता का, आर्य्य-पुत्र का धर्म यही ;
सत्य प्रेम में भूले आपा, करे ज्ञान से शुद्ध मही।"
निश्चय देख सुता का नृप भी विधिपूर्वक दे कन्या-दान
लौटा हो निश्चिन्त, लगे त्यों मुनि करने धर्मानुष्ठान ॥

(१७)

सेवा करने लगी सुकन्या मनसे मुनिवर की दिनरात ;
पहले उठती, पीछे सोती, रह प्रसन्न मलती मुनि-गात।
प्रति दिन सुन्दर सुन्दर वन से ले आती चुन कर फल फूल ;
काम सदा करती ऐसे ही जो होते ऋषि के अनुकूल ॥

(१८)

एक बार वन की वीथी में आयुर्वेदशास्त्र के धाम,
मिले इसे स्ववैंद्य किया तब इसने सादर उन्हें प्रणाम।
इसे देख कर वे बोले यों "सुन्दरि ! यह सौन्दर्य्य कहां !
त्रिभुवन-दुर्लभ ! और वृद्धतर, जराजीर्ण वे च्यवन कहां !"

(१९)

उनकी ऐसी वाणी सुन कर इसको दुःख हुआ भारी ;
मुख से कुछ भी वचन न बोली झट घर पहुँची सुकुमारी।
करते हुए प्रशंसा मन में आश्रम में वे भी आये ;
मुनि की आज्ञा से वे दोनों गये भली विधि ठहराये ॥

(२०)

दिया उन्हें मुनि की पत्नी ने शुचि आसन मुनिवर के पास ;
पाकर दर्शन वे भी मुनि के हो प्रसन्न फिर हुए उदास।
"इस औषध को मल सब तनु पर करो सिद्ध धारा में स्नान
कायाकल्प सिद्ध होगा तब"—बोले ऋषि से वे मतिमान ॥

(२१)

औषध सारे तन में मल कर उनका कहना सच्चा मान,
होकर मग्न शुद्ध धारा में करने लगे मुनीश स्नान।
ह्वा कर जो वे निकले बाहर जरा-जीर्णता दूर हुई ;
पाये दिव्य चक्षु; त्यों पाई अनुपम, सुन्दर, देह नई ॥

(२२)

ऐसा कौतुक देख सुकन्या मनमें अतिशय घबराई ,
किसी तरह उनको पहचाना; पूछपाछ, कर चतुराई ।
"देव-वैद्य, हे किया आपने मुझ पर आज बड़ा उपकार ;
धन्यवाद है ! धन्यवाद है !" बोले मुनि तब बारंबार ॥

(२३)

"मान निषिद्ध; वैद्य होने से, देते नहीं यज्ञ का भाग—
लोग आपको, सो मैं दूँगा ; तुम पर मेरा महानुराग" ।
कर प्रणाम मन में प्रमुदित हो तब स्ववैंद्य गये स्वस्थान ;
संग सुकन्या के सुख से मुनि रहने लगे रूप-गुणखान ॥

(२४)

एक दिवस शर्याति भूमिपति संग लिये अपना परिवार ;
जामाता के आश्रम भीतर करने आये यज्ञ उदार ।
अपनी प्यारी बेटी देखी बैठी एक तरुण के पास ;
मधुर मधुर मुसकाती करती भांति भांति के हास-विलास ॥

(२५)

इसने भी जो देखा उनको, जल्दी से उठकर धाई—
"मा ! मा !" "तात ! तात !" कहती वह लगने गले तुरत आई।
हाथ झटक इसका वे बोले—"दुराचारिणी ! हट पापिन ;
तूने ऋषि का बता किया क्या ? है यह कौन ? बता डाकिन ॥

(२६)

दोनों कुल को पापपुंज में तूने हाय डुबो डाला !
लगा लिया अपने माथे पर कुलटा का टीका काला !"
"पिता ! पिता ! वे समझे बूझे भ्रम में पड़ क्या कहते हो ;
अपनी बेटी का हृदय-स्थल क्यों अनुचित कह दहते हो !

(२७)

पाणि-ग्रहण हुआ था जिनसे वेही तो हैं ये भर्तार ;
वेही तो हैं तपो-धनी ये, वेही तो हैं प्राणाधार ।
सुरवैद्यों का कहना करके कायाकल्प साध सविचार ;
न्हा कर सिद्ध धार में नीके हुए रूपगुणशोभाऽऽधार" ॥

(२८)

हो प्रसन्न नृप ने बेटी को खींच गले से लगा लिया ;
डाल प्रेम के आंसू उसके दग्ध हृदय को शान्त किया ।
गये पास सब मुनि के, पूछी कुशल परस्पर, तजा विषाद ;
देख मुहूर्त यज्ञ का अच्छा, जगह जगह भेजे संवाद ॥

(२९)

जहाँ तहाँ से वैदिक आये; यज्ञ रीति से करवाया ;
सुरवैद्यों को भी तब ऋषि ने ख़ूब सोम-रस पिलवाया ।
इससे होकर क्रुद्ध इन्द्र ने करना चाहा वज्रप्रहार
ऋषि पर,—पर वह स्वयं हो गया शक्ति-हीन, निर्बल, लाचार ॥

(३०)

ऋषि के तप के सम्मुख उसका चला ज़रा भी ज़ोर नहीं ;
तपोधनी के सम्मुख बल क्या चल सकता है कभी कहीं ?
महा प्रभाव जान मुनिवर का उनके पद पर रख मस्तक ,
होकर नम्र इन्द्र ने स्तुति की जब तक वहाँ रहा तब तक ॥

(३१)

"धन्य ! च्यवन ऋषि ! धन्य सुकन्या ! धन्य भूप शर्याति महान !
धन्य आर्य्य सुरवैद्य ! धन्य तप ! धन्य यज्ञ !" करते गुणगान ।
सुर, नर, सब मुनि के आश्रम से पाकर सब विधि परमानन्द ,
उत्तम चरित सुकन्या का सुन होकर बिदा चले स्वछन्द ॥

(३२)

इधर सुकन्या और च्यवन मुनि बैठे पाकर हर्ष अपार ;
कूज उठे मधुर-स्वर कोकिल, बौरे सब सुन्दर सहकार ।
भांति भांति के कुसुम उठे खिल ; करने लगे मधुप गुंजार ;
प्रकृति सुन्दरी हुई प्रफुल्लित ; पुरुष लगा अपने व्यापार ॥

(३३)

दृश्य देख कर बोल उठा यों गिरिधर धन्य धन्य जगदीश !
निर्मल प्रेम-धर्म इस भूपर रखिए सदा सांवरे ईश !
प्रेम क्या नहीं कर सकता है, है उसका माहात्म्य महान ;
हो सकता है उसके कारण धराधाम वैकुण्ठ-समान ॥

गिरिधर शर्म्मा ।

उल्का-पात ।

बहुधा अँधेरी रात को, निर्म्मल आकाश में, महताबी की तरह छूटते हुए तारे दिखाई पड़ते हैं । उनका प्रकाश कभी पीला और कभी हरापन लिये हुए सफ़ेद रंग का होता है । इन तारों में से अधिकतर तो प्रज्वलित होते ही शान्त हो जाते हैं; परन्तु किसी किसी के पीछे फुलझड़ी सी छूटती

जान पड़ती है, जो कुछ देर तक बनी रहती है। इन आकाशीय पिण्डों को उल्का कहते हैं।

इन तारों के विषय में सर्वसाधारण लोगों के नाना प्रकार के विचार हैं। परन्तु हम इस लेख में उन्हीं बातों को लिखेंगे जिनको पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने अपने अनुभव से सिद्ध किया है। योरप के ज्योतिषियों का विचार है कि उल्का वास्तव में छोटे छोटे तारे हैं, जो आकाश में प्राकृतिक नियमों के अनुसार चक्कर लगाया करते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे जो घूमते घामते अचानक वायु-मण्डल में प्रवेश कर बाहर निकल जाते हैं और प्रज्वलित होते ही हमें देख पड़ते हैं। द्वितीय वे जो बहुत से, एक साथ मिल कर, एक विशेष नियम के अनुसार नियत परिधि पर घूमते हैं।

अनुभव से सिद्ध है कि जब दो पदार्थ आपस में रगड़ खाते हैं तब उष्णता उत्पन्न होती है। सब लोग जानते हैं कि तोप का गोला केवल वायु से रगड़ खा कर ऐसा गरमा जाता है कि रात को अग्नि का एक लाल अंगारा सा जान पड़ता है। उल्काओं की चाल, जिसकी तेज़ी पृथ्वी के निकट पहुँचते ही बढ़ जाती है, तोप के गोले से पन्द्रह सौ गुना अधिक अनुमान की गई है। अतएव जिस समय ये छोटे छोटे तारे, जो आकाश-मण्डल में वे रोक टोक घूमा करते हैं, अचानक वायु-मण्डल में प्रवेश करते हैं, उस समय हवा से रगड़ खाते ही उनमें उष्णता उत्पन्न हो जाती है, और वे तोप के गोले के समान प्रज्वलित हो उठते हैं।

इन तारों के लोप हो जाने के कई कारण हैं। प्रथम तो यह है कि ये वायु में प्रवेश करते ही बाहर निकल जाते हैं और तुरन्त शान्त हो जाते हैं; फिर हम इनको नहीं देख सकते। द्वितीय यह कि जो तारे बहुत ही छोटे हैं उनका, वायु-मण्डल से बाहर निकलते ही, नाश हो जाता है; वे घुल कर भाफ बन जाते हैं। उनका प्रकाश सिर्फ़ थोड़ी देर तक रहता है। तीसरा कारण यह है कि जिन तारों का गमनमार्ग सीधा पृथ्वी की ओर होता है वे उसकी आकर्षण शक्ति से खिंच कर एक दम पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। परन्तु गिरने के पहले जितना ही वे पृथ्वी के निकट होते जाते हैं उतना ही वे, गिरते हुए पत्थर की भाँति, अधिक वेगगामी होते जाते हैं। इसके साथ ही हवा की रुकावट भी बढ़ती जाती है। फल यह होता है कि वे उसका सामना करने में असमर्थ हो कर, पृथ्वी तक पहुँचने के पहले ही, फट कर टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं।

९ जून १८६६ ई० में हंगरी देश के निवासियों को एक उल्का सीधी पृथ्वी की ओर आती हुई देख पड़ी। यह तारा ज्यों ज्यों निकट आता गया अधिक प्रज्वलित होता गया। यहाँ तक कि लगभग ८० फ़ीट की ऊँचाई तक आते आते इसमें इतनी उष्णता बढ़ गई कि यह टुकड़े टुकड़े होकर पृथ्वी पर छः मील के घेरे में गिरा। इसके छोटे छोटे टुकड़े तो सहस्रों पाये गये; परन्तु एक टुकड़ा बहुत बड़ा भी मिला, जो तौल में दस मन से अधिक था। इस उल्का-पात के बाद सारा आकाश लगभग आधे घंटे तक घटाटोप अन्धकार से आच्छादित रहा। चारों ओर धुएँ के भर जाने से कुछ दृष्टिगोचर न होता था और इसकी असह्य दुर्गन्धि से श्वास रुकता था। इससे अधिक भयङ्कर उल्का-पात न्यूजर्सी नामक प्रान्त में हुआ था। १५ नवम्बर १८५९ ई० को, ठीक बारह बजे दिन के समय, तमाम आकाश लाल हो गया और एक बड़ी भारी उल्का बड़े वेग से पृथ्वी की ओर आती हुई देख पड़ी। पृथ्वी के निकट पहुँच कर वह इतने ज़ोर से फटी और ऐसी भयङ्कर गर्जना उत्पन्न हुई कि सैकड़ों जानवर भयभीत होकर मर गये। कितनी ही स्त्रियाँ और बालक बेहोश होकर गिर पड़े। प्रलय का सा दृश्य आँखों के सामने आ गया। इसी प्रकार नारमेंडी प्रदेश वाले, ६ अप्रैल १८५२ ई० को, लगभग दो बजे दिन के, एक महा भयङ्कर शब्द सुन कर चौंक पड़े। इसके बाद अस्सी मील की लम्बाई और चौबीस मील की चौड़ाई में, जलते हुए पत्थर के टुकड़ों की वर्षा हुई। सारांश यह कि ऐसे ऐसे

सहस्रों उदाहरण मैाजूद हैं। जिसकी इच्छा हो अजायबघरों में जाकर आकाश से गिरे हुए पत्थर के टुकड़ों के। स्वयं देख ले।

उल्का के टुकड़ों के परमाणुओं की रसायनशास्त्र के अनुसार परीक्षा करने से यह बात प्रकट होती है कि इनमें कोई ऐसा तत्त्व (Element) नहीं है जिसको हम लोग न जानते हों। हाँ, यह बात अवश्य है कि इनकी रासायनिक योगविधि विचित्र है। फासफोरस, मेनिकनीस, मेग्नीशीयम तथा सोडियम इत्यादि के अतिरिक्त, जो अति शीघ्र थोड़ी सी उष्णता से प्रज्वलित हो उठते हैं, लोहा, ताँबा तथा क्रोमेम इत्यादि तत्त्व भी इनमें पाये जाते हैं। किसी किसी टुकड़े में लोहा, फासफोरस और बंगल मिश्रित एक ऐसा योग पाया गता है कि रसायन-शास्त्र-पारङ्गत उसकी यौगिक विधि जानने में असमर्थ हैं। इन टुकड़ों को गरम करने से जो हाईड्राजन, कारबन आदि गैस (Gas) निकलते हैं वे सब पृथ्वी पर पाये जाते हैं।

उल्काओं का समूह जो श्रेणीबद्ध होकर भ्रमण करता है सो भी सैार जगत् में मैाजूद है। इन तारों का एक ऐसा दल है जो पृथ्वी के भ्रमणमार्ग को काट कर निकल जाता है। ये तारे तेतीसवें वर्ष भ्रमण करते हुए पृथ्वी के निकट आ जाते हैं और जब पृथ्वी लुढ़कती हुई वहाँ पहुँच जाती है तब इन दोनों का सामना हो जाता है। फिर क्या है, जितने तारे वायु-मण्डल में होकर निकलते हैं सब प्रज्वलित हो उठते हैं और आकाश-मण्डल में आतश-बाज़ी सी छूटने लगती है। जिसने कभी इस घटना को देखा है उसे स्मरण होगा कि जिधर देखो यही जान पड़ता है कि आकाश के सब तारे टूट टूट कर गिर रहे हैं। परन्तु वास्तव में तारे टूटते नहीं। जब उल्कादल वायु से बाहर निकल जाता है और हमारी दृष्टि से लोप हो जाता है तब आकाश के सब तारे उसी प्रकार जगमगाते दिखाई पड़ते हैं।

अब यहाँ पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या कारण है कि यह दृश्य प्रति तेतीसवें वर्ष नियम से नहीं देख पड़ता? इस घटना के न दिखाई पड़ने के कई कारण हैं। प्रथम तो यह है कि यदि तारों का समूह उस स्थान से कुछ देर पहले या बाद को निकल जाय, जहाँ पर कि वह पृथ्वी से मिलता है, तो पृथ्वी का सामना नहीं होता। दूसरे यदि मान लिया जाय कि सामना हो भी जाय, परन्तु वे वायु-मण्डल से ऊपर ही ऊपर निकल जायँ तो वे प्रज्वलित ही नहीं हो सकते। फिर देखना कैसे सम्भव है? परन्तु इतना अवश्य होता है कि यदि एक अवसर निकल जाय और यह विचित्र दृश्य न दिखाई दे तो समझ लेना चाहिए कि आगामी ३३ वर्ष के भीतर इसका दिखाई पड़ना असम्भव है। और यदि दूसरी बार भी दृष्टिगोचर न हो तो इस घटना के देखने का अवसर फिर ३३ वर्ष के बाद आता है।

इतिहास से पता लगता है कि पूर्वोक्त उल्का-समूह इस सैार जगत् में प्रवेश करने के दिन से लेकर आज तक ५२ चक्कर लगा चुका है। एक इतिहास-कार अरब के इतिहास में लिखता है कि १३ अक्तूबर ९०२ ई० की जिस रात को शाह इब्राहीम बिन अहमद मरा था उस रात को तारे इतनी अधिकता से टूट टूट कर गिर रहे थे कि माना तारों की वर्षा हो रही थी। इसके पहले २२ दैारे और हो चुके थे। यह तेईसवाँ दैारा था जो अरबनिवासियों ने देखा था। छब्बीसवें दैारे के विषय में अरब के इतिहास-लेखक कहते हैं कि १४ अक्तूबर १००२ ई० को असंख्यात तारे एक साथ श्रेणीबद्ध होकर पश्चिम से पूर्व की ओर उड़ते चले गये। मिश्र के इतिहास में लिखा है कि १९ अक्तूबर १२०२ ई० को तारों का एक बड़ा भारी दल असाधारण वेग से जाता हुआ आकाश-मण्डल में दिखाई पड़ा। यह ३२ वाँ दैारा था। इसी प्रकार अन्य दैारों का वर्णन भी तारीख़वार इतिहास और ज्योतिष के ग्रन्थों में पाया जाता है जिसको स्थानाभाव से हम यहाँ पर नहीं लिखते।

सरस्वती

सन्ध्या ।

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

इस लेख के सम्बन्ध में दो बातें और जानने योग्य हैं। एक तो यह कि जब यह आश्चर्य्यजनक घटना, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, इस पृथ्वी के निवासियों को दिखाई पड़ती है तब सब तारे सदा सिंह राशि की ओर से आते हुए और एक ही दिशा को जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। दूसरी बात यह है कि जिस समय इन उल्काओं का पहला दौरा पृथ्वीवासियों को दिखाई दिया था वह अक्तूबर की १२ तारीख़ थी। परन्तु इसके बाद प्रत्येक दौरे की तारीख़ बढ़ती गई। यहाँ तक कि सत्रह सौ वर्षों में पूरे एक मास का अन्तर पड़ गया। अन्तिम दौरा जो हम लोगों को १८६६ ई० में देख पड़ा था वह नवम्बर की १४ वीं तारीख़ को हुआ था। ध्यान देकर सोचने से तारीख़ के घटने बढ़ने का कारण यह समझ में आता है कि इन उल्काओं के पृथ्वी से मिलने का विन्दु, जिसका वर्णन ऊपर हो चुका है, प्रत्येक दौरे में आगे बढ़ता जाता है। कारण यह है कि यह उल्कादल सौर जगत् में अभी थोड़े ही समय से आया हुआ है। अतएव इसका भ्रमण-मार्ग अभी निश्चित नहीं है। सम्भव है कि कुछ दिनों बाद इस का मार्ग निश्चित हो जाय और प्रत्येक दौरा, जो लगभग ३३ वर्षों के बाद हुआ करता है, सदा एक ही तारीख़ को हुआ करे।

उदयनारायण वाजपेयी।

सन्ध्या।

जब क्षितिज के गर्भ में छिप भास्कर-प्रतिभा गई,
तब प्रतीची-व्योम में आकर अरुणिमा छा गई।
देख कर उसकी प्रभा को यों उठी जी में तरङ्ग—
छोड़ जाते हैं बड़े जन अन्त यश अपना अभङ्ग ॥१॥

भानु तो चलता हुआ लेकिन प्रभाली रह गई,
रम गया जोगी कहीं है ख़ाक़ ख़ाली रह गई।
रात से दिन को मिलाने आ गई सन्ध्या सदेह,
हां! सखी-सम्बोध से हैं वर-वधू मिलते सनेह ॥२॥

यह अरुणता भासती मानों निशा की सहचरी,
देख कर रवि का पराभव हँस रही सुख से भरी।
कह रही जग से निरातप रात का है यह प्रताप,
कुजन पहले आपको सूचित किया करते अपाप ॥३॥

रात ने पाया विजय जयकेतु यह फहरा रहा,
या उसी के राग का है सिन्धु यह लहरा रहा।
छिप गया सूरज, तदपि है कुछ प्रभा छाई अभी,
न्यायी नृपति के बाद भी जाता न उसका यश सभी ॥४॥

पूर्व से पहले प्रकाशित थी हुई पश्चिम दिशा,
हाय! अब उस ओर से दौड़ी चली आती निशा।
मूँद लीं आंखें कमल ने देख कर तम का विकास,
मौन ही रहते सुजन हैं दुर्जनों को देख पास ॥५॥

है प्रतीची ने अरुण-पट प्रेम से धारण किया,
हो गया अन्दाज़ .क़ुदरत ने बदल परदा दिया।
घट चला आलोक अब बढ़ने लगा है अन्धकार,
हा! प्रतीची को निगल जावे न प्राची एक बार ॥६॥

उल्लुओं-चमगीदड़ों की देख लो अब बन पड़ी,
निशि-समागम से .ख़ुशी है जार-चोरों को बड़ी।
एक दो करके चमकने अब लगे तारे तमाम,
होता कुपूतों से नहीं है वंश कोई नेकनाम ॥७॥

देखते थे सब अभी तो फिर कहां वह छिप गई,
अन्त में सबकी तरह निर्जीव सन्ध्या भी हुई।
मीर चुपके हो रहो अब रात का है अन्ध-राज,
फिर उदय होगा प्रभाकर फिर सजेगा साज बाज ॥८॥

सैयद अमीरअली।

भारतीय दर्शन-शास्त्र।

वेद के उपनिषद्-भाग के प्रकाशित होने का समय ही दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति का आदि काल है। वैदिक युग में सब लोग वैदिक रीति के अनुसार सारा व्यवहार करते थे। उस समय प्रचलित रीति रवाज का कोई विरोध नहीं करता था। कालान्तर में कुछ प्रतिभाशाली विद्वान् उत्पन्न हुए। वे प्राचीन रीतियों की युक्तिविरुद्ध बातें स्वीकार

करने में आना कानी करने लगे। उन लोगों में ईश्वर, जीव, लोक, परलोक, जन्म, मरण आदि विविध विषयों पर तर्क-वितर्क होने लगा। काल-क्रम से वही दर्शन-शास्त्र के बीज रूप में परिणत हुआ। दर्शन-शास्त्र छः हैं:—सांख्य, न्याय, वैशेशिक, मीमांसा, पातञ्जल और वेदान्त। इन दर्शनों के आविर्भाव के विषय में निर्णय करना सहज नहीं है। बहुतों का मत है कि सांख्यदर्शन ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ है। उसके उत्पादक महर्षि कपिल हैं। वेद में भी इस बात का उल्लेख है। शङ्कराचार्य्य ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में श्वेताश्वतरोपनिषद् से सांख्यदर्शन के प्रवर्तक कपिल के सम्बन्ध में यह श्रुति लिखी है—"श्रुतिश्च भवति, ऋषिं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्त्ति जायमानं पश्येत्"। आनन्द-गिरि ने इसका यह भाष्य किया है कि सृष्टि के आदि में त्रिकालज्ञ कपिल ने इस ईश्वरनिदर्शक ज्ञान का प्रकाश किया। भागवत में कपिल सबसे पहले ज्ञानी माने गये हैं। सांख्य के बाद न्याय-दर्शन की उत्पत्ति मानी जाती है। न्यायदर्शन के कर्त्ता गौतम ऋषि हैं। उसके बाद वैशेषिकदर्शन उत्पन्न हुआ। उसके कर्त्ता महर्षि कणाद हैं। फिर महर्षि जैमिनि ने मीमांसा, पतञ्जलि ने योगदर्शन और कृष्ण द्वैपायन ने वेदान्त का निर्माण किया।

सांख्यदर्शन।

सांख्यदर्शनकार कपिल के समय का निश्चय करना कठिन है। वेद, रामायण, महाभारत, भागवत आदि प्राचीन ग्रन्थों में इस नाम का उल्लेख है। महर्षि कपिल सांख्य के सर्वप्रथम प्रवर्तक हैं। उनसे आसुरि ने ज्ञानलाभ किया। पञ्चशिख ने आसुरि से शिक्षा पाकर उसका प्रचार किया। परम्परा से ईश्वरकृष्ण ने यह ज्ञान पाया। उन्होंने आर्याछन्दों में उसे पुस्तकाकार लिखा। उसके बाद वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी बना कर सांख्यदर्शन का मार्ग ख़ूब प्रशस्त कर दिया। इस समय सांख्यदर्शन पर जितने ग्रन्थ हैं उनमें सांख्यतत्त्वकौमुदी सबसे प्राचीन है।

सांख्यसूत्र के नाम से आज कल जो ग्रन्थ विद्यमान है और जिस पर विज्ञान-भिक्षु ने सांख्य-प्रवचनभाष्य और अनिरुद्ध ने टीका लिखी है वह बहुतों के मत में कपिलकृत सांख्यसूत्र नहीं है। वह वाचस्पति की सांख्यतत्त्वकौमुदी से सङ्कलित हुआ है। सांख्यदर्शन का मत महाभारत की रचना से बहुत पहले माना जाता था। महाभारत, भगवद्गीता, भागवत आदि ग्रन्थों में जिन सांख्यतत्त्वों का उल्लेख है वे परस्पर में एकता नहीं रखते। शङ्कराचार्य्य ने ब्रह्मसूत्रभाष्य में लिखा है कि जैसे महावीरों के दल में प्रधान योद्धा को हरा देने से बाक़ी योद्धा आपही हार मान लेते हैं वैसे ही सांख्यमत का खण्डन करने से बाक़ी मत आपही खण्डित हो सकते हैं। इससे सांख्यदर्शन का महत्त्व और उसकी प्राची-नता सिद्ध होती है।

न्यायसूत्रकर्त्ता गौतम की जन्मभूमि

यह जानना दुस्तर है कि न्यायदर्शन की उत्पत्ति कब हुई। न्यायसूत्रकर्त्ता गौतम कौन थे? किस देश या नगर में उनका जन्म हुआ? उनके पिता कौन थे? वे संसारी थे या त्यागी? ये बातें ठीक ठीक नहीं जानी गईं। वायुपुराण में लिखा है कि महर्षि गौतम ने श्वेत-वाराहकल्प में ब्रह्मा का मानस पुत्र होकर जन्म लिया था। वाल्मीकि-रामायण में एक गौतम का उल्लेख है जो अहल्या के पति थे। उन्हीं के शाप से इन्द्र सहस्रलोचन हुए थे। महामहोपाध्याय महेश-चन्द्र न्यायरत्न ने अपने एक लेख में लिखा है कि सारन ज़िले के रिवेलगंज क़सबे के पास गटना गाँव में गौतम टमसन नामक पाठशाला थी। किसी किसी के मत से वही स्थान न्यायदर्शन-कर्त्ता गौतम की जन्मभूमि है। कोई कहते हैं, मगध से मिथिला जाने वाले मार्ग में, बकसर के पास, गङ्गा के तट पर गौतम का आश्रम था। बहुतों का मत है कि दरभङ्गा से सीतामढ़ी को जो रेल की लाइन गई है उसके पास कहीं गौतम का आश्रम था। वहाँ पत्थर का एक टुकड़ा पड़ा है। लोग कहते हैं कि

वहीं अहल्या की पाषाण-देह है। वहीं गौतम का आश्रम भी था। यह स्थान दरभङ्गा से तीन कोस पर ईशान-कोण में है।

प्राचीन समय से आज तक मिथिला में न्याय-शास्त्र की विशेष चर्चा चली आती है। इससे ज्ञात होता है कि गौतम की जन्मभूमि मिथिला में ही रही होगी। दिग्विजयी शङ्कराचार्य ने मिथिला के प्रसिद्ध नैयायिक और मीमांसक मण्डन मिश्र को पराजित किया था। गौतमसूत्र के भाष्यकर्ता पक्षिल स्वामी (वात्स्यायन), तत्त्वचिन्तामणि के कर्ता गङ्गेश उपाध्याय, न्यायपदार्थमाला के लेखक पक्षधर मिश्र, किरणावलीप्रकाश के निर्माता वर्द्धमान उपाध्याय, न्यायवार्तिकतात्पर्य टीका के प्रणेता वाचस्पति मिश्र आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थकारों ने मिथिला ही में जन्म-ग्रहण किया था।

नवद्वीप में न्याय-शास्त्र की चर्चा।

पन्द्रहवीं शताब्दि के शेष भाग में पण्डित रघुनाथ शिरोमणि ने मिथिला में न्यायदर्शन का अध्ययन करके वङ्गदेश में उसका प्रचार किया। उसके बाद नवद्वीपनिवासी जगदीश तर्कालङ्कार, रघुनाथ तर्कवागीश, विश्वनाथ न्यायपञ्चानन, गदाधर भट्टाचार्य आदि विद्वानों ने इस शास्त्र की बहुत उन्नति की। यह जानना कठिन है कि नवद्वीप में प्रथम नैयायिक कौन थे। महेशचन्द्र न्यायरत्न जी ने अपने किसी प्रबन्ध में लिखा है कि कुसुमाञ्जलि के टीकाकार रामभद्र सिद्धान्तवागीश नवद्वीप के आदि नैयायिक थे। उनके बाद वासुदेव सार्वभौम, रघुनाथ शिरोमणि, भवानन्द सिद्धान्तवागीश आदि नैयायिकों का जन्म हुआ।

गौतम ने जो सूत्र बनाये थे उनके आदि भाष्यकार पक्षिल स्वामी हैं। उनके बाद उद्योतकर, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य आदि ने क्रम से न्यायसूत्रों पर वार्तिक, वार्तिकतात्पर्य्य टीका, वार्तिकतात्पर्य्यटीका-परिशुद्धि इत्यादि की रचना की। इसके सिवा जयन्त, विश्वनाथ आदि विद्वानों की भी न्यायसूत्र-वृत्ति वर्तमान है और रामकृष्णकृत तर्कचन्द्रिका—उदयनाचार्य्यकृत द्रव्यप्रकाश, किरणावली, आत्म-तत्त्वविवेक और कुसुमाञ्जलि—रघुदेव-भट्टाचार्य्य-कृत द्रव्यसारसंग्रह, महादेव-पण्डित-कृत न्यायकौस्तुभ, वल्लभ-पण्डित-कृत न्यायलीलावती, अनन्तभट्ट-कृत पदार्थचन्द्रिका, धर्मोत्तराचार्य्य-कृत * न्यायविन्दु-टीका इत्यादि बहुत से ग्रन्थों से न्यायशास्त्र की पुष्टि हुई है।

न्यायभाष्यकार पक्षिल स्वामी और दिङ्नाग का वृत्तान्त।

पक्षिल स्वामी किस समय हुए—यह निश्चित नहीं। जैन पण्डित हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि ग्रन्थ में पक्षिल स्वामी और चाणक्य को एकही व्यक्ति माना है। पक्षिल स्वामी और चाणक्य यदि एकही व्यक्ति हों तो ईसा के पहले, चौथी सदी में चन्द्रगुप्त के यहाँ उनका होना निश्चित हो सकता है। वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिक-तात्पर्य्य-टीका में लिखा है—"भगवान् पक्षिल स्वामी ने न्यायसूत्र पर जो भाष्य लिखा था दिङ्नागाचार्य्य आदि बौद्ध पण्डितों के कुतर्क से वह दब सा गया। उसके उद्धार के लिए उद्योतकर ने न्यायवार्तिक लिखा था और उसकी मैंने टीका लिखी है।" कालिदास ने मेघदूत में दिङ्नाग को अपने काव्य का निन्दक माना है। उससे मालूम होता है कि दिङ्नाग कालिदास के समय में वर्तमान थे। राय शरश्चन्द्रदास बहादुर, सी० आई० ई०, ने तिब्बती ग्रन्थों के अनुसन्धान से निश्चित किया है कि दिङ्-नागाचार्य्य ने, दक्षिण में, काञ्ची नगर के पास सिंहवक्र गाँव में जन्म लिया था। वे ब्राह्मण थे और बाल्यकाल में उन्होंने न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था। पीछे, बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर, वे नागदत्त

---

* धर्मोत्तराचार्य्य बौद्धमतावलम्बी थे। उन्होंने बौद्ध मत के अनुसार न्यायबिन्दु की टीका बनाई है।

के सम्प्रदाय के अनुयायी हुए। वे वसुबन्धु * के शिष्य थे। उत्कलदेशीय दार्शनिक पण्डितों को परास्त करके उन्होंने तर्कपुङ्गव की पदवी प्राप्त की थी। दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय ग्रन्थ तिब्बत के एक पुस्तकालय में वर्तमान है।

न्यायदर्शन का संक्षिप्त उद्देश यह है:—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन इन्हीं ९ पदार्थों को महर्षि गौतम नित्य मानते हैं और इन्हीं से सम्पूर्ण विश्व की रचना भी वे मानते हैं। उनका कथन है कि पृथ्वी, जल, तेज आदि के परस्पर संयोग से जड़ जगत् की उत्पत्ति हुई है। जड़ जगत् के साथ जीवात्मा के संयोग से बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, भावना, धर्म, और अधर्म इन नौ प्रकार के गुणों की सृष्टि हुई है। पृथ्वी पर जन्म लेकर हम लोग इन गुणों से बँध से जाते हैं। इस बन्धन में पड़ते ही हमको सुख-दुःख का अनुभव होने लगता है। संसार में दुःख की अधिकता है। इससे जो थोड़े से सुख का अनुभव होता है वह भी दुःख में ही परिणत हो जाता है। जन्म लेने से सदा दुःख ही भोगना पड़ता है। जड़ जगत् के साथ जीवात्मा का संयोग न होने देना और तद्द्वारा दुःख का नाश करना ही न्यायदर्शन का प्रधान उद्देश है। न्यायदर्शनानुसारी तत्त्वज्ञान के अनुशीलन से किस तरह दुःख का नाश होकर आत्मा को मोक्षलाभ होता है, यही इस शास्त्र में वर्णित है।

सांख्यदर्शन के आधार पर न्यायदर्शन की उत्पत्ति।

सम्भव है कि महर्षि गौतम ने कपिल का मत अवलम्बन करके अपना दर्शन बनाया हो। कपिल ने कहा है, प्रकृति (जड़जगत्) और पुरुष (जीवात्मा) के परस्पर सम्बन्ध से यथाक्रम महत्, अहङ्कार, एकादश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्र और पञ्चमहाभूत की सृष्टि हुई है। गौतम ने इन पचीस तत्त्वों से महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्र और वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों को छोड़ कर, शेष जीवात्मा, पञ्चभूत और चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् और मन इन छः इन्द्रियों का अस्तित्व स्वीकार किया है और इन्हीं से जगत् की रचना मानी है। कपिल ने परमात्मा, काल और दिक्—इन तीन पदार्थों को छोड़ दिया है। गौतम ने इनको नहीं छोड़ा।

बौद्धदर्शन का समय।

बौद्ध धर्म के संस्थापक शाक्य मुनि थे। उन्होंने कपिल का मत लेकर अपने मत का प्रचार किया है। बौद्धदर्शन, प्रधान रूप से, चार श्रेणियों में विभक्त है—माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। इनमें माध्यमिक दर्शन अधिक प्राचीन है। ईसा के पहले, चौथी या पाँचवीं सदी में, बने हुए प्रज्ञापारमिता नामक ग्रन्थ में माध्यमिक दर्शन का जैसा वर्णन है उससे मालूम होता है कि यह मत बहुत काल पहले से प्रचलित था। ईसा के पहले, दूसरी सदी में, विदर्भदेशीय आर्य नागार्जुन नामक सुप्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक ने इन दार्शनिक मतों का संग्रह करके माध्यमिक सूत्र की रचना की। चन्द्रकीर्ति ने उस पर वृत्ति बनाई। राय शरच्चन्द्रदास बहादुर ने तिब्बतीय ग्रन्थों से निश्चय किया है कि नागार्जुन ने ईसा के पहले, दूसरी सदी में, विदर्भ देशीय ब्राह्मण-वंश में जन्म लिया और बौद्ध धर्म में दीक्षित होकर प्रज्ञापारमिता-टीका आदि बहुत से ग्रन्थ लिखे। बोधिचर्यावतार के निर्माता शान्तिप्रभ ने लिखा है—"दर्शनशास्त्र के सभी सूत्र-ग्रन्थ अवलोकनीय हैं। विशेष करके आर्य्यनागार्जुन-कृत सूत्र-समुच्चय तो ज़रूर ही देखना चाहिए। चीन देश के प्रसिद्ध परिव्राजक हुयनसांग ने अपने भारतवर्षीय भ्रमणवृत्तान्त में लिखा है—"जिन चार सूर्यों के उदय से संसार प्रकाशित होता है उनमें एक आर्य्यनागार्जुन भी हैं।" राज-

* वसुबन्धु ५४० ईसवी में विद्यमान थे।

तरङ्गिणी में नागार्जुन नामक किसी बौद्ध पण्डित का उल्लेख मिलता है। उन्होंने बहुत से आराम और विहार इत्यादि बनवाये थे। माध्यमिक-सूत्र-कर्ता नागार्जुन और वे एकही थे या दो, यह ज्ञात नहीं। माध्यमिक सूत्र के वृत्तिकार चन्द्रकीर्ति ईसा की सातवीं या आठवीं सदी में थे।

रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार इन पाँच स्कन्धों को छोड़ कर बौद्ध लोग और कोई पदार्थ नहीं मानते। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, त्वक् और मन ये छः इन्द्रियाँ—इन सब को मिला कर एकादश पदार्थों की रूपस्कन्ध संज्ञा मानी गई है। विषयों के साथ इन्द्रियों का जो सम्बन्ध है उससे वेदनास्कन्ध (बुद्धि) की उत्पत्ति होती है। उसके बाद 'अहं' किंवा 'मैं'—संज्ञक जो ज्ञान पैदा होता है वह विज्ञानस्कन्ध कहलाता है। ज्ञान के साथ नाम और रूप का जो बोध होता है वह संज्ञास्कन्ध है। इस अहंज्ञान और नाम-रूप इत्यादि ज्ञानसमूह से संस्कार-स्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इन पाँच प्रकारों से वर्तमान जो ज्ञान-समूह है वही आत्मा है। बौद्ध लोग कार्य्य-कारण में भेद नहीं मानते।

माध्यमिक योगाचार आदि सम्प्रदाय वाले बौद्धों के मत।

माध्यमिक-सम्प्रदाय के बौद्ध किसी भी पदार्थ की यथार्थ सत्ता नहीं मानते। तात्त्विक दृष्टि से वे लोग जड़ और चेतन को भी कोई पदार्थ नहीं मानते। उनके मत में विश्व शून्यता का विवर्त और विश्व का परिणाम शून्यता है। दृश्यमान जगत् माया मात्र है। हमारी अविद्या का नाश होते ही जगत् शून्यता में परिणत हो जायगा। योगावलम्बन-पूर्वक इस असीम, अनादि, अतिगम्भीर और अगोचरशून्यता की भावना करना उचित है। इस तरह भावना करते करते योगी शून्यता में लीन हो जायगा और उसकी मुक्ति हो जायगी। उसको सांसारिक दुःखों से दुःखित होना न पड़ेगा। योगाचारी बौद्ध ज्ञान के सिवा दूसरे विषय का अस्तित्व नहीं मानते। वे कहते हैं कि ज्ञानसमूह क्षणिक है। ज्ञानसमूह जो अविच्छिन्न प्रवाह पैदा करता है वही आत्मा है। सौत्रान्तिक लोग ज्ञान को मानते हैं और कहते हैं कि यद्यपि हम बाहरी पदार्थों को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ हैं तथापि ज्ञान से उनका अस्तित्व स्वीकार कर सकते हैं। वैभाषिक लोग बाहरी पदार्थ और ज्ञान दोनों को मानते हैं। इससे साफ़ मालूम होता है कि सांख्यदर्शन की छाया लेकर ही बौद्धदर्शन की रचना हुई है।

वैशेषिक और बौद्धदर्शन, न्यायदर्शन के बाद बने हैं।

ध्यान देकर आलोचना करने से ज्ञात होता है कि बौद्ध और वैशेषिकदर्शन न्यायदर्शन के पीछे बने हैं। महर्षि गौतम परमाणुवाद के संस्थापक हैं। जड़पदार्थ परमाणुओं से बने हैं, यह गौतम का ही आविष्कार है। कणाद ने परमाणुवाद को पूर्ण रूप से माना है; किन्तु उनके मत में विशेषता यह है कि परमाणुसमूह के परस्पर भेद की सिद्धि के लिए उन्होंने परमाणुगत एक एक विशेष पदार्थ को भी माना है। इसीलिए उनके दर्शन का नाम 'वैशेषिक' पड़ा। कणाद ने महर्षि गौतम के स्वीकृत प्रत्यक्ष, उपमान, अनुमान और शाब्द—इन चार प्रमाणों में उपमान और शाब्द को छोड़ कर प्रत्यक्ष और अनुमान को ही प्रमाण माना है।

मालूम होता है कि बौद्धों का क्षणविज्ञानवाद गौतम के परमाणुवाद का अनुकरण मात्र है। गौतम ने कहा है—जड़ पदार्थ बहुत थोड़ी जगह घेरते हैं। योगाचारी बौद्ध कहते हैं—ज्ञानसमूह बहुत थोड़ी देर तक रहते हैं।

मीमांसादर्शन, जैमिनि, शबरस्वामी और कुमारिल भट्ट।

बहुतों का मत है कि मीमांसादर्शनकार महर्षि जैमिनि ने शाक्य मुनि के पीछे जन्म लिया है। कहा

जाता है कि जैमिनि बौद्धधर्मावलम्बी बन कर किसी बौद्ध के पास पढ़ने गये थे। परन्तु गुरु के मुख से निरीश्वरवाद सुन कर उनकी आँखों में जल भर आया। इससे बौद्धों ने उनको कपटी समझ कर निकाल दिया। पीछे, बौद्धों के वेदविरोध का प्रमाण पाकर, उन्होंने अपने बुद्धिबल से मीमांसा-दर्शन की रचना की। किन्तु उनके हृदय में पूर्व-गुरु का निरीश्वरवाद दृढ़ हो गया था। इसलिए उन्होंने मीमांसा में ईश्वर का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया। उनके बाद शबर स्वामी ने मीमांसाभाष्य और कुमारिल भट्ट ने * मीमांसावार्तिक में अनेक दार्शनिक तत्त्वों का समावेश किया। भट्टपाद, गुरुपाद, प्रभाकर आदि दार्शनिक पण्डितों ने इस दर्शन के जटिल तत्त्वों का स्पष्टीकरण किया। कहते हैं कि शबरस्वामी का असल नाम आदित्यदास था। बौद्धों के भय से शबरों, अर्थात् भीलों, के साथ रहने से उनका नाम शबरस्वामी पड़ा। किसी किसी का मत है कि ये उज्जयिनी के महाराज विक्रमादित्य के पिता थे। इस मत के सत्यासत्य का पता लगाना कठिन है।

पतञ्जलि और योगदर्शन।

महाभाष्यकार और योगदर्शनकार पतञ्जलि एक ही थे या भिन्न भिन्न, इस विषय में अनेक मत हैं। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि भाष्यकार पतञ्जलि ईसा के पहले, दूसरी सदी के आरम्भ में, विद्यमान थे। योगदर्शन-कर्त्ता पतञ्जलि ने सब विषयों में सांख्यदर्शनकार कपिल का अनुसरण किया है। विशेषता यह है कि कपिल ने ईश्वर की सत्ता नहीं मानी; किन्तु पतञ्जलि ने परमात्मा की सत्ता स्वीकार करके योग द्वारा जीवात्मा का परमात्मा में लीन होना प्रतिपादन किया है।

* कुमारिल भट्ट का समय अज्ञात है। किन्तु अपने मीमांसावार्तिक में 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' यह कालिदास के शाकुन्तल का श्लोक उन्होंने लिखा है। इससे सिद्ध है कि वे कालिदास के बाद हुए हैं।

वेदान्तदर्शन, बौधायन भाष्य और द्वैत तथा अद्वैतवाद इत्यादि।

यह निर्णय करना कठिन है कि ब्रह्मसूत्र, अर्थात् वेदान्तदर्शन, का वास्तविक कर्त्ता कौन है। मूल सूत्रों में बादरि, बादरायण और जैमिनि का नाम और मत देखा जाता है। बहुत लोग कहते हैं कि यह दर्शन महर्षि कृष्णद्वैपायन का बनाया हुआ है। परन्तु इससे बादरायण और कृष्णद्वैपायन भिन्न भिन्न व्यक्ति सिद्ध होते हैं। मूल सूत्र में योगदर्शन, क्षणिकवाद, शून्यवाद इत्यादि दार्शनिक मतों का उल्लेख होने से मालूम होता है कि यह दर्शन और सब दर्शनों के बाद बना है। शङ्कराचार्य, रामानुज, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य आदि दार्शनिकों ने अपने अपने अभिप्राय के अनुसार इसी सूत्र-ग्रन्थ के आधार पर अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद और द्वैतवाद आदि मतों का आविर्भाव किया है। ब्रह्मसूत्रों पर बौधायन भाष्य सबसे प्राचीन है। अपने वेदान्तभाष्य में रामानुज ने बौधायन का मत उद्धृत किया है।

माध्यमिक-दर्शन और शङ्करस्वामी का अद्वैतवाद।

माध्यमिक-सम्प्रदाय के बौद्धों तथा शङ्कर के मत में विशेष समता देखी जाती है। माध्यमिकों ने जैसे पारमार्थिक और सांवृतिक ये दो प्रकार की अवस्थायें मानी हैं वैसे ही शङ्कराचार्य ने भी पारमार्थिक और व्यावहारिक अवस्थायें मानी हैं। माध्यमिकों का मत है कि मुक्तावस्था में जीवात्मा और जगत् शून्यभाव में परिणत हो जाते हैं। शङ्कराचार्य का मत है कि जीवात्मा और जगत् ब्रह्मभाव में लीन हो जाते हैं। शङ्कराचार्य जिसे निर्गुण और निष्क्रिय ब्रह्म कहते हैं उसी को बौद्ध शून्य कहते हैं। दोनों के मत के अनुसार मुक्तावस्था में अविद्या का नाश होना माना जाता है। वेदान्तियों के मत से "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान उत्पन्न होने से मुक्तिलाभ होता

है। बौद्धों के मत से "मैं शून्य हूँ" इस ज्ञान से निर्वाणलाभ होता है । सर्वदर्शनसंग्रह के कर्त्ता माधवाचार्य ने पद्मपुराण * से जो वाक्य उद्धृत किया है उसमें लिखा है कि मायावाद छिपा हुआ बौद्ध मत है। पण्डित राजेन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए० का मत है कि यह वचन शङ्कराचार्य के बाद मायावाद पर कटाक्षमात्र करने के लिए लिखा गया है। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि मावावाद को प्राचीन वेदान्त में स्थान नहीं मिला।

महात्मा चैतन्य और वैष्णवदर्शन ।

बहुत लोगों का मत है कि रामानुज-स्वामी वैष्णवदर्शन के प्रचारक हैं। नवद्वीप में चैतन्यस्वामी ने १४८४ ईसवी में जन्म लेकर भगवद्गीता, भागवत और मध्वाचार्य के ब्रह्मसूत्र-भाष्य आदि के आधार पर जो नवीन मत फैलाया उससे वैष्णवदर्शन की बहुत उन्नति हुई । चैतन्य प्रभु द्वैतवादी थे। उन्होंने भक्तिमार्ग का बङ्गाल में बहुत प्रचार किया। वैष्णव लोग सच्चिदानन्द ब्रह्म के परमानन्द-भाव के उपासक हैं। वे लोग, वेदान्तियों की भाँति, जीव और ब्रह्म की एकता नहीं मानते। वे ईश्वर और जीव का उपास्य-उपासक सम्बन्ध मानते हैं। ईश्वर के साथ जीव शान्त, दास, सख्य, वात्सल्य और मधुर भाव में स्थिति कर सकता है। इन सब भावों के अलग अलग अर्थ हैं। भक्त का ईश्वर में तन्मय-भाव होना ही मुक्ति है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, बौद्ध, योग और वेदान्त दर्शनों के अनुसार संसार दुःखमय है। उससे छूटना ही परमपुरुषार्थ है। परन्तु चैतन्यप्रभु के मत में जन्म-जन्मान्तर पाकर ईश्वरसेवा करना ही परम पुरुषार्थ है। जन्म का उच्छेद—प्रेममय संसार का चिरवियोग—वैष्णवों को अभिमत नहीं। प्राचीन दार्शनिकों ने ईश्वर को निर्गुण वर्णन किया है; किन्तु वैष्णवों के मत से ईश्वर सगुण है।

पाश्चात्यदर्शन ।

आज कल के पाश्चात्य दार्शनिकों में कोई कोई जीवात्मा को स्वतन्त्र और नित्य नहीं स्वीकार करते। वे कहते हैं कि रूप से चाक्षुष स्नायु पर आघात होने से स्नायु-गत एक प्रकार के स्वच्छ और तरल पदार्थ का जो कम्पन होता है उसमें एक प्रवाह उत्पन्न हो जाता है। वह जब मस्तिष्क-गत स्नायु पर आघात करता है तब दर्शन प्रत्यक्ष होता है। रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द द्वारा क्रम से जिह्वा, नासिका, त्वक् और कर्ण के स्नायु पर आघात पहुँचने से इन सब इन्द्रियों का उसको बोध होता है। निर्विकल्प ज्ञान से सविकल्प ज्ञान की उत्पत्ति होती है। इस मत में मानव देह एक स्नायविक यन्त्र मात्र है। बाह्य जगत् की शक्ति से इस अत्याश्चर्यपूर्ण यन्त्र का परिचालन होता है। गति, स्थिति, अनुभूति इत्यादि इस यन्त्र के काम हैं। स्नायविक उत्तेजना किस प्रकार ज्ञान में परिणत हुई—इसका यथार्थ विचार किसी से नहीं हो सका। योरप के कोई कोई दार्शनिक, ज्ञानसमूह को मान कर भी, आत्मा को ज्ञान का आश्रय नहीं मानते।

भारत में जन्मान्तरवाद ।

हिन्दुओं और बौद्धों के सिवा किसी और धर्मावलम्बी ने जन्मान्तर को नहीं माना। हिन्दू और बौद्ध धर्म ही सबसे पहले भारतवर्ष में उत्पन्न हुए। इसलिए जन्मान्तरवाद भारतवर्ष ही का है। ईसा की छठी सदी में पिथागोरस आदि दार्शनिकों ने ग्रीस देश में इस मत का प्रचार किया था। परन्तु वे इसके उद्भावक न थे। पुरातत्त्वविशारदों का अनुमान है कि पिथागोरस भारतवर्ष से ही इस मत को ले गया था। प्राचीन काल में मिश्र देश में भी जन्मान्तरवाद माना जाता था। उन लोगों ने हिन्दुओं या ग्रीक लोगों से इस मतकी शिक्षा पाई थी। भारतवर्ष में किस समय किस ऋषि ने इस मत का आविर्भाव किया, इसका निश्चय करना कठिन है।

---

* "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥
पद्मपुराण।

बहुत से यूरोपीय तथा भारतवासी विद्वानों का मत है कि जन्मान्तरवाद निरीश्वरवादी लोगों का प्रचलित किया हुआ है। यदि पहले जन्मों का कर्म-फल ही आगे के जन्मों में सुख-दुःख का कारण माना जाय तो सबसे पहले के जन्म और कर्मफल का निर्णय करना कठिन हो जाता है। इसी लिए दार्शनिक विद्वानों ने संसार को अनादि माना है। कालान्तर में जैसे फूल ही फल के रूप में स्वयं परिणत हो जाता है वैसे ही इस जन्म और दूसरे जन्म में किया गया पाप-पुण्य आत्मा में संस्कार रूप से विद्यमान रह कर कालान्तर में स्वयं आत्म-ग्लानि या आत्मप्रसाद में परिणत हो जाता है। इस आत्मग्लानि या आत्मप्रसाद के ही कारण हम लोग रोग, शोक, परिताप, बन्धन आदि भोगते हैं और दया, क्षमा, परोपकार आदि कामों में दत्त-चित्त रहते हैं।

परन्तु जन्मान्तरवाद को निरीश्वरवादी लोगों का ही प्रचलित किया हुआ मानना भ्रम है। ऋग्वेद, उपनिषदों और पुराणों में बहुत तरह की ईश्वर की कथायें वर्णित हैं। उनसे जन्मान्तरवाद भी अच्छी तरह सिद्ध होता है। हमारे सुख-दुःख का उपादान कारण धर्म और अधर्म है सही, किन्तु उसका निमित्त कारण ईश्वर है। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी है और उसका निमित्त कारण कुम्हार। हम लोग धर्म और अधर्म के अनुसार सुख-दुःख का अनुभव करते हैं; पर उस सुख-दुःख का नियन्ता कौन है? इस-लिए यह अवश्य कहना होगा कि सुख-दुःख के साथ जीव को ईश्वर ही संयुक्त करता है। प्रोफ़ेसर मोक्ष-मूलर ने लिखा है—"जन्मान्तर हो या न हो; पर जगत् में कोई सुखी, कोई दुखी, कोई धनी, कोई दरिद्र—इस प्रकार का वैषम्य क्यों देखा जाता है? भारतीय ऋषियों ने इसका कारण जन्मान्तर मान कर अपनी असीम प्रतिभा का परिचय दिया है। भूमण्डल के किसी देश में कोई विद्वान् ऐसी सूक्ष्म विचारशक्ति प्रकट करने में समर्थ नहीं हुआ"।

भारतीय मुक्तितत्त्व

मुक्ति के विषय में भारतवर्ष के ऋषियों ने जो तत्त्व आविष्कार किया है वह किसी देश में नहीं पाया जाता। मुक्तावस्था में जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप में अवस्थान करता है। कपिल कहते हैं कि जीवात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, और मुक्तस्वभाव है। सांसारिक स्थिति में देह के सहित जीवात्मा का जो अनिर्वच-नीय बन्धन होता है—उसका पूर्ण नाश होने पर वह अपने रूप को प्राप्त हो जाता है। गौतम कहते हैं कि देहबन्धन से मुक्त हुआ जीवात्मा, सुख-दुःख-रहित होकर, निर्गुणभाव को प्राप्त होता है। वेदान्ती कहते हैं कि मुक्तावस्था में जीवात्मा परमात्मा में लीन हो कर सच्चिदानन्द-भाव को प्राप्त होता है। कोई कोई मीमांसक कहते हैं कि मुक्ति में आत्मा नित्य-सुख का साक्षात्कार-लाभ करता है। महा-यान (माध्यमिक) सम्प्रदाय के बौद्ध कहते हैं कि मुक्ति में जीवात्मा शून्यता में लीन हो जाता है। वैष्णवों का मत है कि मुक्ति की अवस्था में जीवात्मा ईश्वर के समीप और तन्मय भाव को प्राप्त होता है। मुक्तावस्था में दुःख का समूल नाश हो जाता है। यही सारे मतों का अभिप्राय है। ज्ञान, योग, कर्म और भक्ति—मुक्ति के ये चार उपाय हैं।

ईश्वर

श्रुतियों में लिखा है कि स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माता एक देव है। वह विश्व का नियन्ता और भुवन का रक्षक है*। उसी को जानने से मुक्तिलाभ करने में जीव समर्थ होता है†। महर्षि गौतम और कणाद ने कहा है कि कार्य्यमात्र का कोई कर्ता ज़रूर है। इस पृथ्वी-रूप कार्य्य का जो कर्ता है वही ईश्वर

* द्यावाभूमी जनयन् देव एक आस्ते विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता। श्रुतिः

† तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽय-नाय। श्वेताश्वतरोपनिषत्।

है*। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि योग द्वारा ईश्वर प्रत्यक्ष किया जा सकता है। व्यासजी कहते हैं कि जिससे इस दृश्यमान जगत् का आविर्भाव हुआ है वही † ईश्वर है।

यही भारतीय दर्शनों का संक्षिप्त वृत्तान्त है। दार्शनिक रहस्यों का ऐसा विचार किसी देश की किसी जाति में आज तक नहीं हुआ ‡।

गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

प्रेम।

जो कल्पना, जो लालसा, जो क्षोभ, मोद विचार हैं,
मानव-हृदय के बीच उगते प्रेम के उद्गार हैं।
है प्रेम जग का आदि कर्त्ता, सृष्टि का यह सार है,
है विश्व का पोषक, समर्थक ईश का आकार है ॥ १ ॥
सब श्रेष्ठ कार्यों का जगत में प्रेम ही उद्देश है,
मख, योग, जप, तप, ध्यान का यह प्रेम ही अवशेष है।
आनन्द आध्यात्मिक समुन्नति का यही भाण्डार है,
बस धर्म कर्म पवित्र का यह प्रेम ही आधार है ॥ २ ॥
है प्रेम के आधीन नभ में जगमगाती तारिका,
हैं बोलतीं वन में 'लगन' वश कोकिला शुक सारिका।
है प्रेमसञ्चालक समीरण का विदित संसार में,
नभ में शशी, रवि भ्रमण करते शुद्ध प्रेम-प्रचार में ॥ ३ ॥
कर भेद गिरिवर-गात्र को, अविचल अलौकिक टेक से,
जाती जलधि की ओर नदियां प्रेम के उद्रेक से।
शरदिन्दु नीलाकाश में जब खिलखिलाता चाव से,
सानन्द जलनिधि है उमड़ता, प्रेम ही के भाव से ॥ ४ ॥
घन-अङ्क में बिजुली समाती प्रेम के उच्छ्वास से,
शोभा बढ़ाता गुल्म द्रुम की प्रेम के आभास से।
घन देख केकी नाचते हैं विवश होकर प्रेम से,
हिमकर चकोर निहारते हैं प्रेम ही के नेम से ॥ ५ ॥
वर कामनी के वसन के हित कीट देते प्राण हैं,
करती पुरुष के हेत रमणी रूप-यौवन-दान है।
हैं भृङ्ग के सुख के लिए खिलते तड़ागों में कमल,
हैं मीन के सुख के लिए सहते कठिन हिम ताप जल ॥६॥
मृग के लिए है वेणु रोती छेद छाती में किए,
दीपक जलाता देह अपनी शलभ के सुख के लिए।
अपने लिए न कदापि बरबस प्रेम करना चाहिए,
परहित विमल जल से सदा हिय-ताल भरना चाहिए ॥७॥
है प्रेम जग का देवता सिद्धान्त सहज पुनीत है,
मिथ्या जगत का सब प्रपञ्च न प्रेम दैविक गीत है।
नाना स्वरूपों से विचरता प्रेम है संसार में,
छवि देख लो इसकी मनोहर लोक में परिवार में ॥८॥
वह शिष्य-श्रद्धा, तात का वात्सल्य भाव पवित्र है,
त्यों स्नेह माता का सुपावन स्वजन नेह विचित्र है।
सात्विक सती का सत्य धर्म कठोर प्रेमोपासना,
त्यों भक्ति भक्तों की भली संन्यासियों की साधना ॥९॥
साहित्य की सेवा प्रशंसित देश की हितकामना,
त्यों धर्म का पालन जगत में वैरियों का सामना।
ये प्रेम के सब भिन्न रूप अनूप परम पुनीत हैं,
सब धर्म व्रत साधन क्रियायें प्रेम ही के मीत हैं ॥१०॥
जो भक्ति, संयम, ध्यान, पूजन कीर्तनादिक हैं कड़े,
वे विविध सुन्दर नाम केवल प्रेम ही के हैं पड़े।
है यज्ञ अद्भुत प्रेम प्यारे उच्च प्रेमी के लिए,
यज्ञाग्नि में निज स्वार्थ का शाकल्य देना चाहिए ॥११॥
है प्रेम यज्ञ न पूर्ण होता स्वार्थ की आहुति बिना,
निःस्वार्थ प्रेमी के गुणों को मैं नहीं सकता गिना।
है आत्म-विस्मृत महा योगी सहज प्रमी सर्वदा,
इस बाह्य जग की ओर उसकी दृष्टि है जाती कदा ॥१२॥
अपने सुखों की ओर वह भ्रूक्षेप भी करता नहीं,
उपहास, निन्दा, ताप, दुख से वह कभी डरता नहीं।
उठती नहीं है भूल कर भी कामना उसको कभी,
हैं वासनायें सहज उसकी दग्ध हो जातीं सभी ॥१३॥

---

* इयं क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वात् घटवत्—इत्याद्यनुमानेन ईश्वरसिद्धिरिति गौतम-कणादमतम्।

† जन्माद्यस्य यतः। ब्रह्मसूत्रम्।

‡ महामहोपाध्याय सतीशचन्द्रविद्याभूषण, एम० ए०, पी एच० डी० के बँगला-ग्रन्थ आत्मतत्त्वप्रकाश के आधार पर लिखित।

आराध्य प्रियतम के सिवा वह और किस को मानता;
आराध्य प्रियतम छोड़ कर जग में नहीं कुछ जानता।
आराध्य प्रियतम को सदा सब वस्तु में अवगाहता;
आराध्य प्रियतम छोड़ कर वह और किसको चाहता ? १४
तन्मय सदाही मग्न रहता प्रेम ही के ध्यान में।
निज को सदाही भूल जाता प्रेम ही के ज्ञान में।
कर त्याग संस्रव स्वार्थ का वह प्रेम में अनुरक्त है,
आदर्श प्रेमी पुण्य-भाजन प्रेम का वह भक्त है ॥१५॥
जग में कभी प्रेमी नहीं कुछ मुक्ति को है मानता;
है मुक्ति प्रेम पुनीत ही मन में सदा वह जानता।
अनुपम; मनोहर; सरल; सुखमय भाव उसके हैं सभी;
कोई नहीं है दुःख पाता विश्व में उससे कभी ॥१६॥
प्रभु के अनुग्रह के बिना कोई प्रणयि होता नहीं;
है प्रेम में उन्मत्त होकर दिवस निशि रोता नहीं।
प्रेमाश्रु मन को शुद्ध करता स्वार्थ को देता बहा,
सङ्कीर्णता; अपवित्रता; ममता नहीं रहती अहा ! ॥१७॥
पाकर प्रणयनिधि फिर नहीं नर याचना करता कभी,
उसके हृदय से निकल जातीं और इच्छायें सभी।
सेवी प्रणय के पद-जलज का अन्य पुष्प न चाहता;
है प्रेम उज्ज्वल कल्पतरु सुख अपर है चञ्चल-लता ॥१८॥
शिक्षास्थली है प्रेम की संसार निश्चय जानिए;
जो प्रेम की शिक्षा न पाता अधम उसको मानिए।
नर-जन्म उसका व्यर्थ है जो प्रेम का भूखा नहीं,
जो प्रेम का करता निरादर सुख नहीं पाता कहीं ॥१९॥
अतएव, वाचक, छोड़ कर छल प्रेम की सेवा करो,
हिय की कटोरी प्रेम के पीयूष से प्यारे भरो।
पारस्परिक द्वेषादि तज कर प्रेम के रँग में रँगो,
अवसर नहीं फिर फिर मिलेगा मोह-निद्रा से जगो ॥२०॥

व्रजनन्दनसहाय।

कारनेगी का शिल्पविद्यालय।

It is really astonishing how many of the world's foremost men have begun as manual laborers. The greatest of all, Shakespeare, was a woolcarder; Burns, a plowman; Columbus, a sailor; Hannibal, a blacksmith; Lincoln, a rail-splitter; Grant, a tanner. I know of no better foundation from which to ascend than manual labor in youth.

—Andrew Carnegie.

भारतवर्ष के शिक्षित समाज को शिल्प-विद्यालय की आवश्यकता और उसकी महिमा का अनुभव होने लगा है, यह बड़े ही सौभाग्य की बात है। देश के युवकों को आत्मावलम्बन का सबक़ सिखाने का एक मात्र यही उपाय है। हिन्दू—जाति में जो ऊँच-नीच का भेद-भाव है—हाथ से काम करने वालों पर जो घृणा है—उसको दूर करने का यही सहल तरीक़ा है। देश की सम्पदा बढ़ाने, देश की भावी सन्तति को रोज़गार में लगाने, उनको जाति के हितसाधन के योग्य बनाने का सबसे अच्छा ढंग यही है कि उनको कलाकौशल और यंत्रविद्या की शिक्षा दी जाय। भारत धन-धान्य-पूरित देश है। वहाँ किसी वस्तु की कमी नहीं,—सभी आनन्द-पूर्वक रह सकते हैं—यदि हम अपनी सन्तान को आधुनिक जीवनयुद्ध के शस्त्रों से सज्जित करें।

हमें प्राकृतिक दुनिया से मुक़ाबला करना है। सस्ती चीज़ें बनाकर उन्हें भारत में बेचने वाले योरप तथा अमरीका से हमारा सामना है। इसमें जीत उसी की होगी जो अपने प्रतिद्वंद्वियों के समान बुद्धिमान् और कार्य्यपटु होगा। सुस्त, काहिल, अशिक्षित, साम, दाम, दंड और भेद को न जानने-वाली जाति से यह काम न होगा। जिनका हमें मुक़ाबला करना है उनके गुण-दोषों की पहचान करनी चाहिए; उनकी सी कार्य्यपटुता सीखनी चाहिए; उनके सदृश दलबद्ध होना चाहिए; उनकी भाँति अपने यहाँ शिल्प-विद्यालय खोलने चाहिए और सबसे बढ़कर हाथ से काम करने वालों का आदर करना चाहिए—क्योंकि यही लोग देश की दौलत बढ़ाते हैं। इन्हीं के सिर पर स्वजाति का भार है। यही सबको टुकड़ा देते हैं। ऐसा करने

से देश में आलसियों और बड़ी तोंदवालों की क़दर कम हो जायगी और जो लोग दूसरों की कमाई पर चैन उड़ाते हैं उनका ह्रास हो जायगा।

आइए, आज हम आपको अमेरिका के प्रसिद्ध कारनेगी-शिल्पविद्यालय का वृत्तान्त सुनावें। हमने उसे अपनी आँखों देखा है। इस वृत्तान्त से अमेरिका की उन्नति के कारण अल्पांश में आपकी समझ में आजायँगे।

अमेरिका की संयुक्त रियासतों की पेन्सलवेनिया रियासत में पिट्सबर्ग नामी एक बड़ा भारी शहर है। यहीं पर जगद्विख्यात धनिक कारनेगी साहब का स्थापित किया हुआ शिल्पविद्यालय देश के संख्यातीत युवकों को कलाकौशल और यंत्र-विद्या आदि की शिक्षा देता है। कारनेगी के विशाल पुतलीघर भी यहीं पर हैं। उनमें लोहे का काम होता है। यही इस 'लोहा-नरेश' (Steel King) की राजधानी है। अपनी इस राजधानी में, जहाँ श्रीमान् कारनेगी को करोड़ों रुपये की आमदनी है, ऐसे विद्यालय का खोलना बहुत ही उचित हुआ। इस विद्यालय के लिए आपने सत्तर लाख डालर दे दिये हैं! एक डालर तीन रुपये का होता है। इस हिसाब से आपने दो करोड़ दस लाख रुपये ख़र्च करके यह शिल्पविद्यालय खोला है।
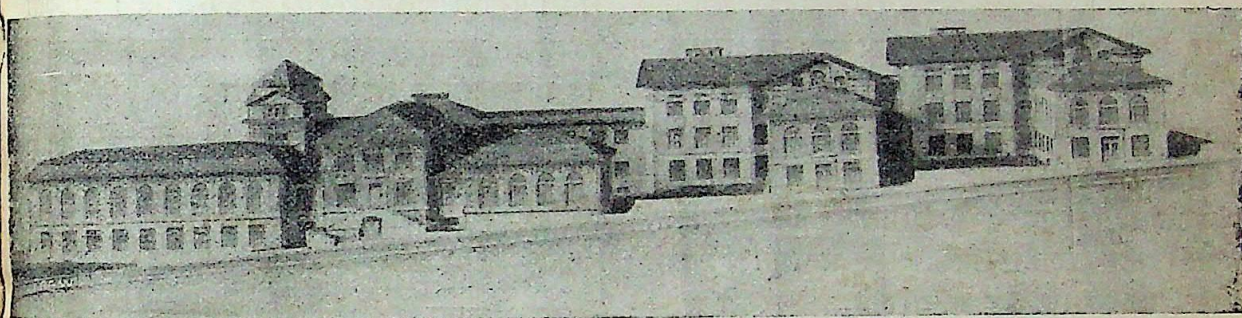
कारनेगी शिल्पविद्यालय।

क्या भारत का कोई सपूत ऐसा विद्यालय खोलकर अपनी राजधानी की शोभा बढ़ावेगा?

❁ ❁ ❁ ❁
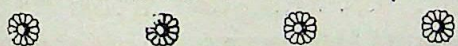
कारनेगी—शिल्पविद्यालय तीन भागों में विभक्त है—ललित-कला, अजायबघर और कलाभवन। छः एकड़ भूमि में इनकी इमारतें हैं। विद्यार्थियों की ज़रूरतों को पूरा करने का यहाँ सब सामान है।

इमारतों का हाल सुनिए:—

पहले कारनेगी-पुस्तकालय को लीजिए। पुस्तकालय क्या है शाही महल है। इस इमारत को देख कर हम दङ्ग रह गये। व्यसन हो तो ऐसा हो। इस संगमरमर के विशाल भवन में विद्या-प्रेमियों के लिए चुन चुन कर पुस्तकें रक्खी गई हैं, जिनकी संख्या तीन लाख पचास हज़ार के क़रीब है। इनमें से ३५००० पुस्तकें वैज्ञानिक और यंत्र-विद्या-सम्बन्धी हैं, जो एक से एक बढ़ कर हैं। तीन सौ के क़रीब पत्रिकायें यहाँ आती हैं जिनको पढ़ कर विद्याव्यसनी जन अलौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं। इतनेही अख़बार और साप्ताहिक पत्र भी इस पुस्तकालय की शोभा बढ़ाते हैं। पुस्तकालय का यह विभाग विद्वान् वैज्ञानिक लोगों की संरक्षा में है जिनसे हर प्रकार की सूचनायें मुफ़्त मिलती हैं।

और तमाशा देखिए। इस पुस्तकालय की एक सौ बीस शाखायें पिट्सबर्ग नगर में हैं। नगर के हाई स्कूलों के छात्र, कन्याओं के समाज, तथा मज़दूरों की सोसाइटियाँ इन शाखाओं के द्वारा इस बृहत् पुस्तकालय से पूरा पूरा लाभ उठा सकती हैं। जो किताब जिसको चाहिए वह अपने शाखा-

विभाग के पुस्तकाध्यक्ष से कह देता है। वह उसकी ख़बर बड़े पुस्तकालय में कर देता है। दूसरे दिन किताब वहाँ पहुँच जाती है। यह सब मुफ़्, मुफ़्, मुफ़् ।

देखा आपने। ऐसे तरीक़ों से विद्या-प्रचार हुआ करता है। बातों से काम नहीं निकला करते। हम लोग लाखों रुपया काशी आदि क्षेत्रों में व्यर्थ लुटा रहे हैं-निखट्टुओं की संख्या बढ़ा रहे हैं। पर काशी और गया में पुस्तकालय कितने खोले हैं? शिक्षित समाज से इतना नहीं हो सकता कि इस 'दान' का उचित प्रबन्ध करे और इससे विद्यालय, पुस्तकालय आदि खोलकर देश के बच्चों को विद्यादान दे।

अब अजायबघर की बात सुनिए। यह अजायबघर अमेरिका के चार बड़े बड़े अजाबघरों में से एक है। इसमें पन्द्रह लाख छोटी बड़ी दर्शनीय चीज़ें रक्खी हैं। यह संग्रह बहुत सा धन ख़र्च करके बड़े परिश्रम से किया गया है। इसमें खनिज, जड़ी बूटी और कीट-विद्या सम्बन्धी नमूने बड़े काम के हैं। पुरातत्त्व और नर-वंश-विद्या सम्बन्धी संग्रह भी अपने ढंग का इसमें एक ही है।

ललित-कला वाला विभाग और भी बढ़िया है। धनिक कारनेगी ने चुन चुन कर कुशल चित्रकारों के तैल चित्र यहाँ रक्खे हैं। अमेरिका तथा योरप के चित्रकारों का सर्वोत्तम कौशल यहाँ देखने में आता है। जो विद्यार्थी इस कला में प्रवीण होने के लिए विद्यालय में भरती होते हैं वे घन्टों इन चित्रों के सामने बैठ कर अभ्यास करते हैं।

इस विभाग की ओर से सार्वभौमिक (भारत को छोड़कर!) प्रदर्शिनियाँ होती हैं जिनमें सबसे अधिक कुशल चित्रकार को पुरस्कार दिया जाता है। इससे चित्रकारों का उत्साह बढ़ता है। वे दिन दूनी रात चौगुनी मेहनत करके अपने अभ्यास को बढ़ाते हैं।

साथही संग-तराशी और भवननिर्माण विषयक कमरे भी इसमें हैं, जहाँ इन कलाओं के उस्तादों की कारीगरी के नमूने रक्खे हुए हैं। विद्यार्थी लोग यहाँ भी आकर अभ्यास करते हैं। बड़ी बड़ी इमारतों के नमूने यहाँ हैं। उनको देख कर विद्यार्थी वैसाही, या उससे बढ़ कर, काम बनाने का उद्योग करते हैं।

इसके अतिरिक्त इस विभाग में सङ्गीत का भी प्रबन्ध है। एक बड़ा कमरा इसके लिए है। शनि और रविवार को यहाँ गायनाचार्य्यों की धूम रहती है। व्याख्यान आदि भी यहीं होते हैं।

कलाभवन-सम्बन्धी चार स्कूल हैं, जिनमें दिन को और रात को भी पढ़ाई होती है। जो दिन में आ सकते हैं वे दिन में पढ़ते हैं, जो रात में आ सकते हैं उनके लिए रात का प्रबन्ध है। विद्यार्थी जो कुछ सीखना चाहता है, उसके समय के अनुसार तदर्थ सब प्रबन्ध कर दिया जाता है।

पहले स्कूल में विद्युत्, रसायन, वाणिज्य, धातु, यन्त्र, खनिज पदार्थ तथा आरोग्य सम्बन्धी विद्यायें सिखाई जाती हैं।

दूसरे स्कूल में सब काम हाथ से करना सिखाया जाता है, जिसमें विद्यार्थी कल-पुरज़ों को खोल सकें; यदि कुछ टूट जाय तो उसको फ़ौरन बना सकें; कलों की भीतरी और बाहरी सब बातें समझ जायँ; पुरज़ों को जोड़ देने में कुशल हो जायँ। यहाँ पर ऐसे लोग भी भरती किये जाते हैं जो वाणिज्य-विद्यालयों में अध्यापकों का काम करना चाहते हों।

तीसरे स्कूल में मकान बनाने और उनको सजाने आदि का काम सिखाया जाता है। इस स्कूल के लिए एक बड़ी भारी इमारत तैयार हो रही है। उसके बनने पर और बहुत बातों का सुभीता हो जायगा।

चौथे स्कूल में स्त्रियों की शिक्षा का प्रबन्ध है। उनको गृहसम्बन्धी कार्य्यों की शिक्षा यहाँ दी जाती है। सीना-पिरोना, भोजन बनाना, गाना, मकान सजाना तथा-साहित्य, विज्ञान आदि सभी आवश्यक बातें यहाँ सिखाई जाती हैं। यह चौथा स्कूल विद्या-

प्रेमा कारनेगी ने अपनी माता की यादगार में खोला है। अपनी माता से किसको स्नेह नहीं होता? परन्तु बहुत थोड़े ऐसे हैं जो उस स्नेह को अमर करने के लिए कोई चिरस्थायी यादगार बनाते हों।

हमने बहुत संक्षेप में इस शिल्प-विद्यालय का वर्णन किया है। हमने अपनी आंखों से इन स्कूलों में विद्यार्थियों को जाकर देखा है। उनको सब काम अपने हाथ से करते देख चित्त बहुत प्रसन्न हुआ। जिन्हें इस विद्यालय के विषय में अधिक जानना हो वे नीचे लिखे पते पर पत्र-व्यवहार करें:—

The Registrar,
Carnegie Technical Schools,
Pilttesburg, Pa., U. S. A.

वे यहाँ से विद्यालय का विवरण-पत्र भी मँगा सकते हैं।

इस स्कूल में दाख़िल होने वाले की उम्र कम से कम सोलह वर्ष की होनी चाहिए। जो रात को आ कर पढ़ना चाहें उनकी उम्र अठारह वर्ष से कम न हो। फ़ीस साठ रुपये सालाना दिन के विद्यार्थियों से और पन्द्रह रुपये सालाना रात के छात्रों से ली जाती है। यह फ़ीस पिटसबर्ग में रहने वाले विद्यार्थियों के लिए है। दूसरे छात्रों से नब्बे रुपये सालाना दिन वाले और इक्कीस रुपये रात वाले विद्यार्थियों से ली जाती है।

भारतवर्ष के स्कूलों से एंट्रेंस पास विद्यार्थी सहज ही में यहाँ भरती हो सकते हैं। जो विद्यार्थी एक साल का ख़र्च एक हज़ार रुपया यहाँ लेकर पहुँचे वह सहज ही में बाक़ी साल काम करके पढ़ सकता है। पर विद्यार्थी चतुर, तीक्ष्णबुद्धि और मधुर-भाषी हो तो। पिटसबर्ग में वेदान्त की एक सोसाइटी भी है जो हिन्दू छात्रों की सहायता करने में हर प्रकार उद्यत रहती है। स्वामी बोधानन्दजी बड़े देशभक्त हैं और अपनी शक्ति के अनुसार विद्यार्थियों की सहायता करते हैं। यदि किसी को उनसे पत्र-व्यवहार करना हो तो नीचे लिखे पते पर कर सकता है:—

Swami Bodhanandji,
3610, 5th ave.,
Pittesburg, Pa., U. S. A.

ईश्वर करे भारतवर्ष में भी एक ऐसा ही विद्यालय खुले जिसमें ऊँच नीच सभी जाति के बालक पढ़ें। हानिकारक बन्धनों की गाँठ कटे और देश के बच्चे कला-कौशलों में कुशल होकर भारत की निर्धनता दूर करें।

सत्यदेव, अमेरिका।

अमेरिका की स्त्रियाँ।

अमेरिका में मुझे पहले पहल शिकागो के बाज़ार में काम की तलाश में फिरना पड़ा। उस समय सब से बढ़ कर अचरज मुझे इस देश की स्त्रियों की चाल ढाल को देख कर हुआ। आठ बजे सुबह से शाम तक यहाँ सड़कों और बाज़ारों की पटरियों में इतनी भीड़ रहती है कि निकलना कठिन हो जाता है। इस भीड़ में स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक होती है। जैसे इन स्त्रियों की पोशाकें रङ्ग-बिरङ्गी होती हैं उसी तरह इनकी चाल में भी अनूठापन पाया जाता है। कोई कोई लपकती हुई जाती हैं। कोई कोई दो दो करके पैर मिलाये, गर्दन उठाये, चलती हैं। कोई कोई गोंद चूसती हुई जाती हैं; उनका मुँह बात करते समय भी चूसने में लगा रहता है। जिस ट्राम गाड़ी पर चढ़िए औरतें ही अधिक दिखाई देती हैं। कभी कभी तो इनकी संख्या इतनी हो जाती है कि प्रतिष्ठा के लिहाज़ से उनको अपनी जगह देनी पड़ती है, और स्वयं खड़े खड़े जाना पड़ता है। रविवार के दिन गिर्जे में जाइए या उद्यान की सैर कीजिए, वहाँ भी उनकी संख्या पुरुषों से कम नहीं देख पड़ती। किसी दुकान में सौदा मोल लेने जाइए तो वहाँ भी सौदा बेचने

वाली और ख़रीददार स्त्रियाँ ही अधिक नज़र आयेंगी। अख़बारों में भी स्त्रियों की तारीफ़ और उनकी प्रतिष्ठा के सूचक लेख प्रायः देखने में आते हैं। जिस कोठी में मैं काम करता था उसमें सौदा बेचनेवाली और टाइप राइटिङ्ग तथा लेखक का काम करनेवाली स्त्रियाँ डेढ़ दो हज़ार से कम न थीं। मैं इनसे कम मिलता जुलता था।

अमेरिका की स्त्रियों की बात चीत, चाल ढाल, पहनने ओढ़ने का तर्ज़ और घमण्डी मिज़ाज मुझे अस्वाभाविक सा प्रतीत होने लगा। पर अमेरिका वालों के लिए शायद वह अस्वाभाविक न हो। अतएव मेरे मन में उनके जीवन का रहस्य जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। पाश्चात्य स्त्रियों का स्वभाव समझना हिन्दू के लिए पहले पहल इतना कठिन होता है जितना कि पाश्चात्य लोगों के लिए ब्रह्मा की सृष्टि का माया-जाल समझना। जैसे अमेरिकावालों के लिए हिन्दुस्तान के बाजीगरों का पिटारीवाला तमाशा आश्चर्य्यजनक है वैसे ही हिन्दुस्तानियों के लिए अमेरिका की स्त्रियों के हाव-भावादि का अवलोकन कौतूहलजनक है। हिन्दुस्तानी बच्चा भी अच्छी तरह जानता है कि बाजीगर की पिटारी में एक पोशीदा ख़ाना रहता है जिसमें बालक को छिपा कर बाजीगर कह देता है कि वह लोप हो गया। अमेरिका के पुरुष भी अपनी इन बाजीगरनियों की मोहिनी लीलाओं को भली भाँति समझते हैं। परन्तु हिन्दुस्तानी आदमी उनके यथार्थ अभिप्राय को बहुधा नहीं समझ सकते। अमेरिका की स्त्रियाँ, स्वतन्त्र होने के कारण, जब किसी पुरुष से मिलती हैं तब मुसकराती हैं। हिन्दुस्तानी इसका मतलब उलटा समझता है। इससे मेरा मतलब किसी पर अनुचित आक्षेप करने का नहीं। अमेरिका में शिक्षित भारतवासियों का आचरण अति उत्तम है। किन्तु यह मेरी देखी हुई बात है कि अनेक बार अमेरिका में हमारे देश के मेहनत मज़दूरी करने वालों ने अमेरिकन औरतों के इस हास्य-भाव को उलटा समझ कर धोखा खाया है।

मुझे शिकागो में रहते बहुत दिन हो गये थे। लोगों से थोड़ी बहुत जान पहचान भी हो गई थी। बहुतेरी स्त्रियों से भी मेल जोल हो गया था। शिकागो में एक थियोसोफ़िकल सोसायटी है। वहाँ मैं कई बार गया। बहुत से मेम्बरों ने मुझे अपने घर बुलाया। उनमें एक स्त्री के साथ मेरी जान पहचान बढ़ गई। वह मुझे बेटा कह कर पुकारा करती थी और मैं उसको माँ कहा करता था। रविवार के दिन वह मुझे बुला कर ख़ातिर तवाज़ो किया करती थी। इस पर मुझे इस रिश्ते का मतलब जानने की इच्छा हुई। खोज करने पर मुझे मालूम हुआ कि थियोसोफ़िकल सोसायटी के लोग भारतवासियों को प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं। मेडम ब्लाडेभास्की की बातों का वे विशेष आदर करते हैं। सम्भव है, प्रत्येक पढ़े लिखे भारतवासी को वे, मेडम ब्लाडेभास्की के उल्लिखित तिब्बतीय ऋषि के समान, समझते हों। परन्तु थियोसफ़ी और वेदान्त से शौक़ रखने वाले लोग बहुत नहीं हैं।

थियासफ़ी मत की अनुयायिनी स्त्रियों के साथ हेल मेल रखने से मेरा प्रबोध न हुआ। क्योंकि अन्यान्य स्त्रियों का स्वभाव मुझे विभिन्न देख पड़ता था। अतएव मैं कोई राय क़ायम न कर सका। सोचने लगा कि २०-२५ वर्ष की कुमारिकायें अपने हम-उम्र युवकों के साथ चाँदनी रात में अकेली घर से बाहर जाकर भी कैसे सदाचरणशीला रह सकती होंगी। मैं उद्यान में अपनी आँखों देखता हूँ कि ये युवक-युवतियाँ प्रेमपूर्वक एक दूसरे से बात चीत इत्यादि करती हैं। घन्टों एकान्त में बैठी रहती हैं, तब क्योंकर विश्वास हो सकता है कि महीनों क्या वर्षों तक इस तरह प्रेम को बढ़ाकर भी एक दूसरे की परीक्षा करने और विवाह के लिए सुअवसर की राह देखने में ये मन की चञ्चलता का शिकार न हो जाती होंगी। यदि ऐसा न होता हो तो ये धन्य हैं। पर भारतवासी के मन में ऐसा दृश्य देखने से दूसरा ही भाव उत्पन्न होता है। अतएव मैं चक्कर ही में पड़ा रहा।

इस समय मैं दिन को काम करता और रात को एक कालेज में रसायनशास्त्र का अध्ययन करता था। क्लास ७ बजे से १० बजे तक हुआ करती थीं। मैं बराबर ट्रामगाड़ी पर सवार होकर आया जाया करता था। एक दिन मेरा चित्त कुछ उदास था। इस कारण मैंने सोचा कि चलो आज पैदल ही चलें। मेरा डेरा वहाँ से कोई १½ मील था। आध मील चलने के बाद रास्ता काट कर मैं एक अँधेरी गली से चला। कुछ क़दम चलने पर अचानक मेरे दाहने हाथ की तरफ़ एक नवीना युवती ने रोते रोते मुझ से पूछाः—"क्या आपने इस तरफ़ से किसी को जाते देखा है ?

मैं—"नहीं, मैंने नहीं देखा। क्यों ?"

युवती—(रोते रोते) "एक आदमी मुझसे पाँच डालर छीन कर भाग गया"।

मैं—"वह किस तरफ़ गया है" ?

यु०—"इधर ही से गया है"।

मैं—"कितनी देर हुई" ?

यु०—"कोई पाँच मिनट।"

मैं—"तब तो उसे पकड़ना कठिन है। आपका घर कहाँ है ?"

यु०—"मैडीसन स्ट्रीट में"।

मैं—"तो आप इस रास्ते क्यों घर जाती थीं ?"

यु०—"मैं यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर काम करती हूँ। इसी से इस रास्ते घर जाती थी"।

यह कह कर वह रोने लगी। मैंने उससे कहा, चलो पुलिस को ख़बर कर दें। इस पर वह बोली कि यदि वह समय पर घर न पहुँचेगी तो उसकी माता उस पर नाराज़ होगी। मैं कुछ कहने ही को था कि उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और कहने लगी कि मुझे घर पहुँचा दो। पाँच सैन्ट गाड़ी का किराया देकर मैंने उससे विदा माँगनी चाही; पर किराया न लेकर अपने घर पहुँचा देने ही की उसने मुझसे प्रार्थना की। स्त्री की सहायता करना अपना धर्म समझ कर मैं उसके साथ हो लिया।

कुछ दूर जाने पर जब हम एक नुक्कड़ पर पहुँचे तब उससे मैंने पूछा कि तुम्हारा घर अब कितनी दूर है। वह बोली नज़दीक ही है। चलो इस गली से जाने से और भी नज़दीक पड़ेगा। वह गली अधिक अँधेरी थी। इसलिए मैंने कहा कि उधर से जाना अच्छा न होगा। मुझे उस रोज़ तनख़्वाह मिली थी। मेरे पास दो सप्ताह की मज़दूरी के डालर थे। इससे मैं उस रास्ते जाना न चाहता था। पर उससे यह सुन कर कि उसका घर नज़दीक ही है, मैं उसके साथ चल दिया। थोड़ी देर में उसका घर आ गया। घर के अन्दर घुसने के पहले वह मुझ से बोली—एक मिनट नीचे ठहरिए। मैंने कहा, अब मैं जाता हूँ। आपकी सहायता करना अपना धर्म समझ कर मैं आपको यहाँ तक पहुँचाने आया हूँ। यहाँ पर मैं ठहरना नहीं चाहता। उसने कहा, नहीं, मैं अपनी माता से कह कर आपको इस सहायता का धन्यवाद दिलाना चाहती हूँ। इतने ही में मकान की खिड़की से झाँक कर एक बुढ़िया ज़ोर से बोली—"पकड़ो इस चोर को; इसने मेरी लड़की को लूट लिया।" यह सुनते ही मैं बिजली की तरह भागा। एक आदमी ने दौड़ते हुए मेरा पीछा किया, पर मैं बिना पीछे देखे दस मिनट तक बराबर भागते ही चला गया और एक दौड़ती हुई ट्राम गाड़ी पर, जो मेरे घर की ओर न जाकर किसी दूसरी ओर जाती थी, उछल कर चढ़ गया।

ख़ैर, मैं गाड़ी बदल कर रात के डेढ़ बजे अपने डेरे पर पहुँचा। मैं जिस घर में रहता था वह एक गृहस्थ आदमी का था। इससे घर का दरवाज़ा मुझे बन्द मिला। खटखटाने पर वह खुला। सुबह मुझे काम पर जाना था। नियत समय पर उठ कर जो मैं भोजन करने बैठा तो घर वाले की स्त्री और बेटी ने मेरी हँसी उड़ानी शुरू की। वे बोलीं—"क्यों, पाँडे, रात को क्या अपनी प्रेयसी से मिलने गये थे। बड़े ही आनन्द से समय व्यतीत किया होगा ?" मैंने जब उनको रात का सारा वृत्तान्त सुनाया तब सब लोग चकित होकर कहने लगे—"बच गये,

नहीं तो न जाने क्या होता। ऐसे वीरत्त्व का काम करने फिर कभी न जाना। यह शिकागो शहर है। यहाँ पर ऐसे भी गुंडे रहते हैं जो धोखे से अनजान आदमी को अपने घर ले जाते हैं। फिर दो एक बदमाश उसके सिर पर रेत और कुछ मादक चीज़ों से भरी पोटली मार कर उसे बेहोश कर देते हैं और रुपया पैसा छीन लेते हैं।" काम पर जाकर मैंने अपने साथियों से रात की घटना का हाल कहा। वे सब मुझे तरह तरह के ऐसे ही क़िस्से सुनाने लगे। एक ने कहा कि एक हफ़्ता हुआ, रात के समय उसके एक मित्र को इसी तरह दो लड़कियों ने आ घेरा और बातों में उसे लगा रखा। कुछ देर में पीछेसे एक मनुष्य ने आकर भरा हुआ पिस्तौल उसकी तरफ़ कर दिया और उससे कहा कि अपने दोनों हाथ उठा कर सिर पर रक्खो। उसके ऐसा करने पर उन लड़कियों ने उसकी जेब से सब रुपये निकाल लिये।

इस अनुभव के बाद भी मैंने यहाँ की स्त्रियों के विषय में अपनी राय क़ायम करना उचित न समझा, क्योंकि मुझे सभ्य स्त्रियों के साथ मिलने जुलने का भी मौक़ा मिलता था। परन्तु बड़ी बड़ी दुकानों और कारख़ानों में काम करने वाली युवतियों का आचरण अच्छा नहीं—यह शङ्का मुझे प्रतिदिन अधिकाधिक होने लगी। इसका कारण यह था कि इनको तनख़्वाह अधिक नहीं मिलती और जब ये अपनी तनख़्वाह बढ़ाने की विज्ञप्ति करती हैं तब मैनेजर इनकी बात को हँसी में उड़ा कर यह जवाब देते हैं—(Get a fellow) अर्थात् किसी को फांसो। और अकसर इनको ऐसा ही करना भी पड़ता है। खाने, पीने और पहनने आदि का ख़र्च तो इनको नौकरी से मिल जाता है; पर थियेटर और नाच-तमाशे का ख़र्च विना "फैलो" के नहीं निकलता। "फैलो" का साधारण अर्थ साथी समझना चाहिए। अमेरिका की सभ्यता की बदौलत मनुष्य की ज़रूरतें यों ही बहुत अधिक होती हैं। तिस पर लोगों के शौक़ दिन दिन बढ़ते जाते हैं। इस कारण कभी कभी एक एक, दो दो, तीन तीन, "फैलो" को दाव में फँसा कर अन्त में यदा कदा सभी को निराश कर देती हैं। इन "फैलो" महाशयों के साथ जाने में यह ज़रूरी नहीं है कि युवतियाँ अपने आचरण को कलङ्कित कर बैठें। परन्तु इसका भी कुछ सबूत नहीं कि वे सदाचारिणी ही बनी रहती हों। इस सन्देह का एक कारण है। वह यह कि अमेरिका के स्त्री-पुरुष विवाह-बन्धन की विशेष परवा नहीं करते। हर साल लाखों स्त्रियाँ मुक़द्दमेबाज़ी करके अपने पतियों से पृथक् हो जाती हैं। पुरुष भी ऐसा ही करते हैं।

पर यहाँ की स्त्रियों की गम्भीरता देखने और उनके साथ बात चीत करने से स्वप्न में भी यह ख़याल नहीं होता कि इनके घरों में इस प्रकार की अशान्ति रहती होगी।

काम छोड़ कर, कुछ दिनों में, मैं विश्वविद्यालय में पढ़ने लगा। यहाँ के विश्वविद्यालयों में युवक-युवतियाँ साथ ही पढ़ती हैं, साथ ही क्लासों में जाती हैं। एक ही क़िस्म की पढ़ाई भी होती है। विश्वविद्यालय में मुझे और ही प्रकार का जीवन देखने में आया। दो चार युवतियों से मेरी मित्रता हो गई। कभी कभी मैं इनके घर भी जाने लगा। इनके साथ बात चीत करने और विश्वविद्यालय के छात्रादि की जीवनचर्य्या का अच्छी तरह निरीक्षण करने पर मुझे मालूम होने लगा कि अधिकांश में इस देश की महिलायें देवियाँ हैं; उनके मन पवित्र हैं और उनमें मनोविकारों को दमन करने की शक्ति भी है।

विश्वविद्यालयों में युवक-युवतियों के अधिकार एक से हैं। वे पढ़ने-लिखने में पुरुषों से कम योग्यता नहीं रखतीं। नैतिक भाव उनके आदर्श होते हैं। बहुत सी नवयुवतियों को विद्योपार्जन के लिए स्वावलम्बन करना पड़ता है। आप पूछ सकते हैं कि बरसों तकलीफ़ उठाने की उनको आवश्यकता क्या? विवाह कर लेने से वे आराम से रह सकती हैं। स्त्री को इतना पढ़ कर करना क्या है? ऐसे विचार भारतवासियों के हृदय में ही उत्पन्न हो सकते हैं। इन महिलाओं को, जो विद्या के गुणों को जानती

हैं, विवाह की चिन्ता नहीं रहती। उनका आदर्श हम लोगों के आदर्श से भिन्न है। यथासम्भव वे सब बातों में स्वतन्त्र रहना चाहती हैं। परावलम्बन से उन्हें घृणा है।

उनका ख़याल है कि विवाह कर लेने से स्त्रियों की आर्थिक स्वतंत्रता कम हो जाती है। इसीसे वे विवाह की इच्छुक सहसा नहीं होतीं। अमेरिका के लोग अपनी स्त्रियों को आदर और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखते हैं; परन्तु इतने से उन रमणियों को सन्तोष नहीं। विद्या के प्रभाव से, इस समय, यहाँ की स्त्रियों को अपने अधिकारों का ज्ञान होने लगा है। वे पुरुषों के व्यवहार को बुरा बताती हैं। वे चाहती हैं कि किसी भी कार्य्य के लिए स्त्रियों को पुरुषों का मुँह न ताकना पड़े। वे कहती हैं कि एक दफ़े पराधीन हो जाने से फिर स्वतन्त्रता प्राप्त करने की न तो शक्ति ही रहती है और न इच्छा ही होती है। इतिहासों से पता लगता है कि करोड़ों ऐसे भी ग़ुलाम हो गये हैं जो ग़ुलामी को स्वाभाविक समझते थे।

प्रुशिया देश के किसानों को जब सर्फ़डम नामक एक प्रकार की ग़ुलामी के कष्ट से छुड़ाने का क़ानून सुनाया गया तब उन्होंने उज़्र किया कि यदि मालिकों से उनका तअल्लुक़ छुड़ा दिया जायगा तो उनकी बीमारी के समय कौन उनकी ख़बरगीरी करेगा?

जब थोड़े ही समय की पराधीनता से मनुष्य ऐसी हीन दशा को पहुँच जाता है तब उस पराधीनता से, जिसका उत्पीडन हज़ारों वर्ष से जारी है, निकलना सहज बात नहीं। स्त्रियों की पराधीनता अनन्त काल से चली आती है। विचार करने से मालूम होता है कि सब से पहले स्त्रियों ने ही पराधीनता की बेड़ी पहनी। मनुष्य की आदिम अवस्था में पुरुष और स्त्री एक प्रकार से तुल्य थे। उनकी शक्ति में कोई अन्तर न था। बोरनियो, आस्ट्रेलिया और अफ़रीक़ा की असभ्य जातियाँ इस बात का प्रमाण हैं।

आदिम अवस्था में न कोई किसी का पति था और न कोई किसी की पत्नी थी। किन्तु इस सामाजिक व्यवस्था का परिणाम बुरा होने लगा। इससे प्रत्येक जाति भिन्न भिन्न शाखाओं में विभक्त हो गई और अपनी शाखा या विभाग में विवाह करना वर्जित हो गया।

धीरे धीरे मनुष्य-संख्या बढ़ने लगी। सभ्यता ने भी क़दम बढ़ाया। मनुष्य आग बनाना, खाना पकाना और मछली मारना सीख गया। क्रम क्रम से उसने जानवरों को पालना भी शुरू किया। इन व्यवसायों के लिए पृथक् पृथक् लोक-विभाग किये गये। कोई मछुवा बन बैठा। किसी ने गोपालन किया। किसी ने कुछ, किसी ने कुछ। कुछ समयानन्तर हथियारों का बनना भी आरम्भ हुआ। तब मर्द शिकार खेलने जाने लगे, पर स्त्रियाँ घर के काम में ही लगी रहीं। शस्त्रों का व्यवहार न करने और गृहस्थी के कामों में ही लगी रहने से स्त्रियों की चित्तवृत्ति कोमल हो गई। उनके शारीरिक बल का भी ह्रास होने लगा। उधर मर्दों की चित्तवृत्ति शिकार खेलने, जानवरों को मारने और शारीरिक बल वाले काम करने से कठोर हो गई। अस्त्रों द्वारा अपनी और अपने कुटम्ब की रक्षा करने में लगे रहने से वे बलिष्ठ भी होने लगे।

धीरे धीरे हल भी ईजाद हुआ। कृषि की पैदावार से खाद्य पदार्थों की वृद्धि हुई। मनुष्य कुछ का कुछ हो गया। खेती की बदौलत वाणिज्य भी होने लगा; और पुरुष, जो इस बीच में स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सबल और स्वतंत्र हो गया था, इस सारी सम्पत्ति का स्वामी बन बैठा।

ज्यों ज्यों आबादी बढ़ती गई त्यों त्यों उपजाऊ भूमि और चरागाहों पर अधिकार जमाने के लिए मनुष्यों में लड़ाई झगड़े होने लगे। इन लड़ाइयों में विजयी लोगों ने विजित लोगों की स्त्रियों पर अत्याचार किये। उन्हें अपने वश में कर लिया। कुछ को तो उन्होंने अपने घर में डाल लिया और कुछ से खेती पाती का काम कराया।

इस प्रकार पराधीन हो जाने से स्त्रियों के अनेक शुभ गुणों का लोप हो गया। चिरकाल की पराधीनता के फल से उनकी मानसिक शक्ति का विकाश न हो सका। किसी देश में ये बातें कम हुईं, किसी में अधिक।

इस तरह उन्नति का द्वार अवरुद्ध होते देख कर समाज के हितैषियों ने स्त्री-शिक्षा की परिपाटी चलाई। माताओं की सुशिक्षा के प्रभाव से उनकी सन्तानों में सद्गुणों का उदय हुआ और देशकी उत्तरोतर उन्नति होने लगी।

पाश्चात्य देशों में इस स्त्रीशिक्षा ने कुछ विलक्षण रूप धारण किया। वहाँ लोगों ने निश्चय किया कि स्त्रियों को प्रत्येक विषय की शिक्षा मिलनी चाहिए। इसी लिए स्त्रियों को सामाजिक स्वतन्त्रता दी गई। इन देशों की स्त्रियाँ सभा-समितियों में, नाच-तमाशों में, बाग़-बग़ीचों में, जहाँ चाहें, बिना रोक टोक के जा सकती हैं और जीविकोपार्जन के लिए पुरुष पर अवलम्बन न करके स्वयं मनमाना व्यवसाय कर सकती हैं। इस भाँति सामाजिक स्वतन्त्रता मिल जाने से इन देशों की स्त्रियाँ आर्थिक स्वतन्त्रता खोजने लगीं। इसमें भी इन्होंने बहुत कुछ सफलता प्राप्त करली है।

एक बार अमेरिका के युक्तसंस्थानों की गवर्नमेंट ने नवीन कलाकौशल आदि की ईजाद करनेवाली स्त्रियों की नामावली प्रकाशित की थी। उससे मालूम हुआ कि सैकड़ों स्त्रियों ने ऐसे ऐसे आविष्कार किये हैं जिन्हें देख कर बड़े बड़े कारीगरों और विद्वानों की बुद्धि चक्कर में आ जाती है।

अमेरिका की स्त्रियाँ बराबर उन्नति करती चली जा रही हैं। बहुत सी स्त्रियाँ तो यहाँ जज हैं। शिकागो में दो तीन स्त्रियाँ पुलिस में इन्सपेक्टर हैं। गत वर्ष से आइओवा के कृषि-महाविद्यालय में पढ़ने वाली स्त्रियों ने सामरिक विद्या सीखना आरम्भ किया है। उन्होंने अपनी एक रेजीमेन्ट बना ली है। इन्होंने हद कर दी। आपही कहिए, इनके और पुरुषों के काम में अब क्या अन्तर रह गया।

अमेरिका की स्त्रियाँ व्यवसाय करने में भी बड़ी प्रवीण हैं। कुछ कारख़ाने तो ऐसे हैं जिनमें प्रायः वही देख पड़ती हैं। कपड़े के कारख़ाने; निब और पिन के कारख़ाने; शक्कर बनाने के कारख़ाने; कागज़, साबुन, मोमबत्ती आदि के कारख़ाने; चमड़े की चीज़ों के कारख़ाने; सिगरेट के कारख़ाने; छुरी क़ैंची आदि के कारख़ाने; कंघी, बटन आदि के कारख़ाने—ऐसे ही और भी अनेक कारख़ाने हैं जिनमें विशेषतः स्त्रियाँ ही काम करती हैं।

पुरुष और स्त्रियों के लिए भिन्न भिन्न नीति-नियमों का होना यहाँ की स्त्रियों के जी में बहुत खटकता है। वे चाहती हैं कि यह भेदभाव दूर हो जाय—दोनों के लिए एक से नियम हों और दोनों को सब कामों में समान अधिकार रहे। उनका नैतिक सिद्धान्त यह है—

तुम दूसरों के साथ वैसाही व्यवहार करो जैसा तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें।

भोलानाथ पाँडे।

गरमी।

षड़-ऋतु क्रम से भ्रात! जगत में गरमी आई;
तप्त हुआ भू-गात अमित आकुलता छाई।
दिनकर हुआ प्रचण्ड हुई जल की कठिनाई;
भोग रहे सन्ताप सभी जड़-चेतन भाई॥१॥
उष्ण पवन सब ओर आग सी बरसाती है;
अवनी-तल में घोर रौद्र-रस दरसाती है।
रजःपूर्ण हो दिशा दीनता में परिणत हैं;
दिवस बढ़ रहा, निशा क्षीणता में परिणत हैं॥२॥
करके बंद किवाड़ सभी देखो हैं, सोते;
घर से बाहर कभी न दोपहरी भर होते।
विहग तृषाकुल सफल न खोते तज सकते हैं;
खोल चोंच, तज गान, सुखद छाया तकते हैं॥३॥
दोपहरी भर लूह विकल जीवों को करती;
रवि-कर-तापित रेणु चक्षु-नासा में भरती।

लता-कुञ्ज तरु-पुञ्ज पुष्प से रहित मलिन है;
लुप्त भ्रमर-कुल-गुञ्ज दग्ध कल्हार नलिन है ॥४॥
दावानल विकराल डाल कर वन में डेरा;
वन-खग-मृग का काल हर रहा विपिन अँधेरा।
प्यासे आकुल-प्राण जीव कानन के सारे;
धारे जल का ध्यान फिर रहे मारे मारे ॥५॥
सिंह, हरिण, अहि, भेक, बाघ, शूकर, गो, चीते
तज स्वाभाविक बैर साथही पानी पीते।
शीतल छाया कहीं देख तरु की जो पाते
प्राण-भीति तज वहीं दौड़ सबके सब जाते ॥६॥
भीग रही है देह, स्वेद-धारा बहती है;
हुआ चिता सा गेह; प्राण को लू दहती है।
रहा न जाता ज़रा बिना पंखा के भाई;
पावक-गिरि सी धरा हो रही अति दुखदाई ॥७॥
पानी से है प्राण, ध्यान है सब का जल में;
पानी बिना महान कष्ट मिलता पल पल में।
शीतल जल जो मिले, न चिन्ता फिर भोजन की;
हरी भरी हो खिले कली तप-तापित मन की ॥८॥
ख़स, चन्दन, कर्पूर, व्यजन, छाया, शीतल जल,
होता इनसे दूर ग्रीष्म के आतप का बल।
जल-विहार, गिरिवास, शीत-उपचार मृदुल पट,
निशा, निशाकर-भास विश्व का हरते संकट ॥९॥
जब थोड़े दिन बाद बीत गरमी जावेगी;
देती बहु आल्हाद सुखद वर्षा आवेगी।
नव-जीवन से लता-महीरुह लहरावेंगे;
सजल सघन घन-पुञ्ज गगन में घहरावेंगे ॥१०॥

लोचनप्रसाद पांडे।

सीता-स्वयंवर-सम्बन्धिनी शंका का समाधान।

इस विषय का एक नोट एप्रिल की सरस्वती में ठाकुर शङ्करसिंह की धर्म्मपत्नी का लिखा हुआ छपा था। उसके विषय में मुझे भी कुछ कहना है।

इस विषय में सभी लोग सहमत होंगे कि तुलसीदास की रामायण आदि-काव्य वाल्मीकि-रामायण का छायानुवाद है। यदि इसमें कोई शङ्का हो तो आदिकाव्य का हवाला देना अनुचित न होगा। आदिकाव्य में सीता-स्वयंवर की रचना का वर्णन इस प्रकार नहीं किया गया कि सब राजा रङ्गभूमि में बैठे हैं और उनके सामने ही राम ने धनुष तोड़ा हो। वहाँ यह लिखा है कि राम और लक्ष्मण, विश्वामित्र के साथ जनकपुर पहुँचे। राम ने धनुष देखने की इच्छा प्रकट की। धनुष लाया गया। राम ने ज्योंही प्रत्यञ्चा चढ़ाने का प्रयत्न किया त्योंही धनुष टूट गया। रामचन्द्र के आने के पहले ही सब राजा लोग अपने अपने बल का परिचय दे चुके थे और निराश होकर अपने अपने घर चले गये थे।

अस्तु। रामचन्द्र के विवाह को स्वतन्त्र स्वयंवर कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह उस प्रकार का स्वयंवर न था कि राजा लोग चारों ओर रङ्गशाला में बैठे हुए हैं; वन्दी जन प्रत्येक राजा का यशोगान करते हुए आगे आगे चले जा रहे हैं; पीछे से राजकन्या जयमाला लिए दासियों के साथ है; जिसे उसने पसन्द किया उसी के गले में जयमाल डाल दी। यहाँ यह बात न थी कि कन्या जिसको चाहे उसे ही वर ले। यहाँ तो "परीक्षा-विवाह" था—जो कोई धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ा दे वही कन्या पावे। अतएव इस प्रकार के स्वयंवर को यदि हम परतन्त्र स्वयंवर कहें तो अनुचित न होगा।

अतएव सीता-स्वयंवर स्वतन्त्र स्वयंवर न होने से मेरी तुच्छ बुद्धि में यह उचित नहीं ज्ञात होता कि जनक सब राजाओं को न्योता देने के लिए बाध्य थे। उनके लिए यही पर्याप्त था कि वे अपने प्रण को सर्वत्र प्रकाशित कर दें। यह सूचना ठीक विज्ञापन के सदृश थी, न कि निमन्त्रण-पत्र के रूप में। निमन्त्रण-पत्र आने पर निमन्त्रित व्यक्ति का धर्म है कि वह या तो उसको स्वीकार करे या कारणवश स्वीकार न करने के लिए क्षमा

माँगे। परन्तु विज्ञापन के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। सम्भव है, इसी प्रकार का विज्ञापन-पत्र राजा दशरथ के पास, रामचन्द्र की अनुपस्थिति में, गया हो।

यदि निमन्त्रित लोगों को ही स्वयंवर में जाने की आज्ञा होती तो पाण्डव लोग द्रौपदी के स्वयंवर में कदापि न जा सकते, क्योंकि उनके पास न्योता गया ही न था। उनको तो लोग समझते थे कि वे लाक्षा-गृह में भस्म हो गये।

फिर, दशरथ यह कहीं नहीं कहते कि जनक ने उनको अपनी कन्या के स्वयंवर की सूचना नहीं दी। रामचन्द्र के कुशल-समाचार का न मिलना एक स्वाभाविक बात थी, क्योंकि वे विश्वामित्र के साथ जङ्गलों में घूम रहे थे।

यदि जनक ऐसे परतन्त्र विवाह में निमन्त्रण भेजने के लिए बाध्य होते और राजा दशरथ ऐसे चक्रवर्ती राजा के पास निमन्त्रण-पत्र न भेजते तो अवश्य राजा दशरथ अपना अपमान समझ कर क्रोध-प्रकाश करते। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतएव सिद्ध है कि राजा जनक के लिए निमन्त्रण-पत्र भेजना कोई अनिवार्य्य बात न थी।

बदरीदत्त पाँडे

कालिदास की निरङ्कुशता।

श्रीयुत पण्डित इन्दु शर्म्मा, मुख्याध्यापक, आर्यसंस्कृत-पाठशाला, गाज़ियाबाद लिखते हैं:—

"सरस्वती में कई महीने से साधारणतया अन्य कवियों के और विशेषतया कविकुलगुरु कालिदास के महाकाव्यों की जो सहृदय-हृदय-ग्राहिणी समालोचना हो रही है वह बड़ी ही आल्हादकारिणी है। कालिदास की दो निरङ्कुशतायें दिखाने का मैं भी साहस करता हूँ। तद्यथाः—

(१)

रघुवंश, सर्ग ४, श्लोक १२ के "राजा प्रकृतिरञ्जनात्" से महाकवि की निरङ्कुशता साफ़ ज़ाहिर है। इस विषय में मल्लिनाथ लिखते हैं:—

यद्यपि राजशब्दो राजतेर्दीप्त्यर्थात्कनिन् प्रत्ययान्तो न तु रञ्जे-स्तथापि धातूनामनेकार्थत्वाद्रञ्जनाद्राजेत्युक्तं कविना।

(२)

रघुवंश, सर्ग २, श्लोक १२ देखिए:—

स कीचकैर्मारुतपूर्णरन्ध्रैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः॥

वक्तव्य यह है कि इस श्लोक में—"कीचकैः," "मारुतपूर्णरन्ध्रैः," "कूजद्भिः" ये तीन पद हैं। पर विचारपूर्वक देखिए तो केवल "कीचकैः" कह देने से इष्टसिद्धि सिद्ध है। क्योंकि 'कीचक' कहते ही उस बाँस को हैं कि जो वायु से पूर्णरन्ध्र होकर गूँज रहा हो। अतएव उत्तर के दोनों पद व्यर्थ हैं। इस विषय में प्रमाण लीजिए:—

वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः" इत्यमरः।
कीचको दैत्यभिद्वाताहतसस्वनवंशयोरिति मेदिनी॥

(३)

आदिकवि वाल्मीकिजी ने रघुवंशावलि का वर्णन इस प्रकार किया है:—

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथांशुमान्।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः॥ ३८॥
भगीरथात्ककुत्स्थश्च ककुत्स्थाच्च रघुस्तथा।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः॥ ३९॥
कल्माषपादोऽप्यभवत्तस्माज्जातस्तु शङ्खणः।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात्॥ ४०॥
शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात्॥ ४१॥
अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपतिः।
नहुषस्य ययातिस्तु नाभागस्तु ययातिजः॥ ४२॥
नाभागस्य बभूवाज अजाद्दशरथोऽभवत्।
अस्माद्दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ॥ ४३॥

बाल-काण्ड, सर्ग ७०

इसके विरुद्ध कवि कालिदास यों लिखते हैं, कि दिलीप से रघु, रघु से अज, अज से दशरथ, दशरथ से राम लक्ष्मण।

श्लोक ३९ के अनुसार रघु दिलीप के प्रपौत्र थे; परन्तु कालिदास पुत्र लिखते हैं। रघु से बारहवीं पीढ़ी में अज हुए।

अब कहिए कि ऐतिहासिक दृष्टि से किसे सत्यवाक् मानें? सिद्धान्त ते यही है कि :—

मुख्याऽमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः।

विविध विषय।

१—पारलियामेंट के सभासदों का वेतन।

अब तक जो लोग विलायती पारलियामेंट के मेम्बर होते थे उन्हें मुफ़ में काम करना पड़ता था। प्रजा के प्रतिनिधि होकर वे पारलियामेंट में बैठते थे और प्रजा ही की हितचिन्तना करते थे। पर इसका बदला उन्हें कुछ भी न मिलता था। हाल में इस नियम का परिवर्तन हुआ है। अब मेम्बरों को साल में ४०० पौंड, अर्थात् ६००० रुपये, वेतन मिला करेगा। यह ५०० रुपये महीना हुआ। इससे अधिक वेतन ते यहाँ के कितने ही डेप्युटी कलेक्टर पाते हैं! पारलियामेंट के मेम्बरों का वेतन कम है ते क्या हुआ, प्रतिष्ठा ते उनकी बहुत है।

२—डाक्टर श्रीधर नेहरू, पी एच० डी०

यदि भारतवासियों को मौक़ा दिया जाय ते वे किसी भी विषय में योरप और अमेरिका वालों से पीछे न रहें; प्रत्युत उनके आगे निकल जा सकते हैं और उनसे अधिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। एक प्रकार से भारतवासियों का बुद्धिप्राखर्य्य ही उनके उन्नतिमार्ग का बाधक हो रहा है। उनके इस मार्ग में जो कभी कभी काँटे बिछ जाया करते हैं इसका अधिकांश कारण आप हमारी बुद्धिविषयक योग्यता ही समझिए। प्रयाग के प्रसिद्ध वकील माननीय पण्डित मोतीलाल नेहरू के भतीजे अल्पवयस्क डाक्टर श्रीधर नेहरू ने भारतवासियों के बुद्धितैक्ष्ण्य का अभी हाल में एक जाज्वल्यमान प्रमाण दिया है। श्रीधर जी भूत-पूर्व सब-जज पण्डित वंशीधर नेहरू के चिरञ्जीव हैं। इन्होंने केवल १६ वर्ष की उम्र में इलाहाबाद-विश्वविद्यालय की बी० ए० और बी एस० सी० की परीक्षायें पास कीं। तदनन्तर आप, १९०५ ईसवी में, विशेष शिक्षा-प्राप्ति के लिए विलायत गये। वहाँ केम्ब्रिज-विश्वविद्यालय में आप दाख़िल हुए और दो वर्ष में गणित और एक वर्ष में विज्ञान की शिक्षा पाकर इन विषयों में वहाँ के भी बी० ए० हुए। तत्पश्चात् आप जर्म्मनी गये और वहाँ हीडलबर्ग में दो वर्ष दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करके आपने पी एच० डी० की पदवी पाई। इस समय आपकी उम्र कोई २२ वर्ष से अधिक नहीं। इतनी छोटी उम्र में शायद ही और किसी एतद्देशीय युवक में इतनी विद्याभिरुचि, इतनी योग्यता और शिक्षासम्बन्धिनी इतनी उच्च आकांक्षा देखी गई हो। सुनते हैं अब आप भारतीय सिविल सरविस की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे हैं। ईश्वर करे आपके सारे मनोभिलषित पूर्ण हों।

३—वैशाख मास का सूर्य्यग्रहण।

गत वैशाख-कृष्ण अमावस्या (२८ एप्रिल १९११) को एक खग्रास सूर्य्यग्रहण हुआ था। यह ग्रहण सूर्य्योदय के बाद कोई पाँच ही मिनिट तक ठहरा। इससे अनेक स्थानों में लोग इसे नहीं देख सके। आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व अञ्चल में सूर्य्योदय के समय यह ग्रहण पूर्ण रूप से देखा गया था। पर अमेरिका के प्रायः सम्पूर्ण संस्थानों में तथा कनेड़ा के सीमान्तराज्यों में इसका अर्धग्रस्त रूप ही दिखाई दिया था। कैलीफ़ोर्निया में यह ग्रहण अपराह्न में कोई ३ बजे आरम्भ हुआ और सूर्य्यास्त से पहले ही समाप्त हो गया। भारत वर्ष के किसी

स्थान में यह ग्रहण नहीं देखा गया। इसीसे शायद हमारे यहाँ के ज्योतिषियों ने इसके विषयमें कुछ नहीं लिखा। पर योरप और अमेरिका के ज्योतिषियों ने इस ग्रहण की सूचना बहुत पहले से दे दी थी।

४—आदिनाथ और गौतम बुद्ध के चित्र।

गत एप्रिल की सरस्वती में सप्तदशाचार्यों के चित्रों का जो समुदाय प्रकाशित हुआ है उनमें आदिनाथ और गौतम बुद्ध के चित्रों के विषय में श्वेताम्बर-जैन-धर्मोपदेशक श्रीयुत बालचन्द्र मुनि खामगाँव से लिखते हैं:—

"आदिनाथ के चित्र में जो मुँह पर पट्टी और सिर पर चादर दिखाई गई है वह ठीक नहीं। आदिनाथ जी इस वेश में न रहते थे। जैन-कुमार-सम्भव महाकाव्य तथा जैनियों के अन्यान्य ग्रन्थों में न कहीं पट्टी का उल्लेख है और न कहीं चादर का। श्रीमद्भागवत में भी उनके लिए—"शरीरमात्रपरिग्रह" लिखा है। आदिनाथ, अर्थात् ऋषभ देव जी, जैनियों के पहले तीर्थङ्कर थे। ढूँडिये जैनी मुँह पर पट्टी बाँधते हैं। परन्तु उनका पन्थ कोई ढाई सौ वर्ष से ही चला है। तथापि वे भी ऋषभ देव के मुँह पर पट्टी और सिर पर चादर रखना स्वीकार नहीं करते। अतएव गोस्वामी जी को यह चित्र इस तरह न अङ्कित करना चाहिए था।

"गौतम बुद्ध भारतवासी थे। उनका पहनाव इसी देश का था। वे बौद्ध-सन्यासियों के लिबास में रहते थे। इस समय भी कई बौद्ध-मन्दिरों की मूर्तियाँ तदनुसार ही पाई जाती हैं। श्रीयुत बालकृष्ण गोस्वामी जी ने उनका चित्र चीना लोगों का जैसा बनाकर अनुचित काम किया। यह बड़े खेद की बात है।"

५—दर्शनाचार्य पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री।

जर्मनी आज कल प्रधान विद्यापीठों में गिना जाता है। वहाँ देश की भाषा के सिवा संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं में भी ऊँचे दरजे की शिक्षा दी जाती है। उच्च कोटि की शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले कितने ही विद्यार्थी दूर दूर से प्रति वर्ष वहाँ जाते हैं। लाहौर के पण्डित प्रभुदत्त शास्त्री भी उत्तम शिक्षा प्राप्त करने के लिए गवर्नमेंट के द्वारा जर्मनी ही भेजे गये थे। उनके विषय में एक नोट सरस्वती में प्रकाशित हो चुका है। वहाँ उन्होंने कील के सुविख्यात विश्वविद्यालय में दर्शन-शास्त्र का अध्ययन किया और गत जनवरी में उसी विश्वविद्यालय से उत्तम श्रेणी में पी-एच० डी० (Ph. D.—Doctorate in Philosophy) अर्थात् दर्शनाचार्य की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। परीक्षा के पहले उनकी वादानुवाद-शक्ति की भी परीक्षा हुई थी। दार्शनिक सभा (Philosophical Faculty) के सब सभ्यों ने इस विषय में प्रभुदत्त जी की योग्यता स्वीकार की।

डाक्टर प्रभुदत्त के पहले कोई भी भारतीय छात्र जर्मनी में इस परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुआ था। पहले भी कतिपय छात्रों ने वहाँ जाकर अध्ययन किया था। परन्तु उन लोगों का मुख्य विषय संस्कृत अथवा अरबी था; दर्शनशास्त्र को उन्होंने गौण विषय (Secondary Subject) की तरह ही अध्ययन किया था।

डाक्टर प्रभुदत्त की राय है कि जो लोग जर्मनी में शिक्षा-ग्रहण करना चाहते हों उन्हें पहले जर्मन भाषा का कुछ अभ्यास कर लेना चाहिए। बिना जर्मन भाषा के ज्ञान के वहाँ की पढ़ाई ठीक तरह से समझ में नहीं आ सकती। इसके सिवा वादानुवाद की परीक्षा के प्रश्नों का आशय समझने में बड़ी दिक्कत होती है। डाक्टर प्रभुदत्त की यह भी राय है कि भारतीय विद्यार्थी कील के बदले दक्षिण जर्मनी के किसी दूसरे विश्वविद्यालय में शिक्षा-ग्रहण करें तो अच्छा हो। कील-विश्वविद्यालय के नियम बहुत कड़े हैं और वहाँ की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए अधिक योग्यता की भी आवश्यकता है। किन्तु दक्षिण-जर्मनी के विश्वविद्यालयों की परीक्षा के लिए वैसी योग्यता आवश्यक नहीं।

एथेंस (Athens) के विश्वविद्यालय में अब आप ग्रीक भाषा और सापेक्ष्य-भाषा-विज्ञान (Comparative Philology) सीखने के लिए जाना चाहते हैं। पेरिस के विश्वविद्यालय में भी आप कुछ दिन रहना चाहते हैं।

६—देवनागरी वर्णमाला का उत्पत्ति-स्थान।

श्याम-शास्त्री ने इस बात को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया है कि देवनागरी वर्णमाला का जन्म इसी देश में हुआ था। उनकी युक्तियों का आज तक किसी ने सप्रमाण खण्डन नहीं किया। "बार्हस्पत्य" जी ने भी इस विषय में कई लेख लिखे हैं। वे सब सरस्वती में प्रकाशित हो चुके हैं। कई विदेशी विद्वानों का भी वही मत है जो "बार्हस्पत्य" आदि का है। उनके मतों का भी उल्लेख सरस्वती में हो चुका है। इस मत को कि हमारी वर्णमाला विदेशी है अब योरप के प्रतिकूलमतवादी पण्डित भी धीरे धीरे छोड़ रहे हैं। पर, खेद की बात है, हमारे दो एक स्वदेशी पण्डित इस भ्रान्त मत की अब तक पोषकता करते चले जाते हैं। फ़्लीट साहब बड़े विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरातत्त्ववेत्ता हैं। नई एनसायक्लोपीडिया ब्रिटानिका में उनका लिखा हुआ, अशोक के शिला-लेखों पर, एक लेख है। उसमें लिखा है कि अशोक के बहुत पहले इस देश में लिखने का प्रचार था। बस्ती ज़िले में एक जगह पिपरहवा है। वहाँ एक शिला-लेख खुदा हुआ मिला है। वह ईसा के ३०० वर्ष पहले से भी बहुत पुराना है। उसकी लिपि से सूचित होता है कि वह लिपि बहुत पुरानी है। किसी वर्णमाला की उत्पत्ति होते ही वह देश में सर्वत्र, हज़ारों मील दूर दूर तक, व्याप्त नहीं हो जाती। ऐसा होने के लिए बहुत समय दरकार है। जिस समय न रेल थी न डाकख़ाने, उस समय ट्रावनकोर में यदि कोई नया आविष्कार हुआ होगा तो सौ पचास वर्ष में उसका प्रचार उत्तरी भारत में होना असम्भव रहा होगा। अतएव यह बात युक्ति-सङ्गत नहीं जान पड़ती कि हमारी वर्णमाला विदेशी है—उसे हमारे पूर्वज किसी पश्चिमी देश से लाये थे। जिन्हें इस विषय में विशेष ज्ञान प्राप्त करना हो उन्हें प्राचीन-लिपिमाला नामक पुस्तक देखनी चाहिए।

७—मस्तिष्क और बुद्धिबल।

डाक्टर लोग बहुत दिनों से इस बात की खोज में हैं कि बुद्धिमत्ता और बुद्धिहीनता का कारण क्या है। बहुत दिनों की जाँच के बाद यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि मस्तिष्क की पुष्टि पर ही बुद्धिबल अवलम्बित है। जिस आदमी का मस्तिष्क जितना भारी होता है वह उतना ही बुद्धिमान भी होता है। परन्तु अब एक विज्ञानवेत्ता डाक्टर ने इस सिद्धान्त का भी खण्डन किया है। योरपवालों के मस्तिष्क के वज़न का औसत उनचास से पचास औंस तक है। किन्तु पागलों के मस्तिष्क की परीक्षा से जाना गया है कि इकतीस पागलों में पाँच के मस्तिष्क का वज़न पचास से छप्पन औंस तक था। इससे यह सिद्धान्त निकला कि मस्तिष्क का भारी होना बुद्धिमत्ता का चिह्न नहीं। क्योंकि पागल आदमियों की गिनती बुद्धिमानों में नहीं की जा सकती।

८—गाने वाली तसवीरें।

पाठकों ने अमेरिका के विश्वकर्म्मा क्या प्रतिब्रह्मा एडिसन साहब का नाम सुना होगा। ग्रामोफ़ोन उन्हीं के दिमाग़ से निकला है। ऐसी ऐसी सैकड़ों अजूबा चीज़ें उन्होंने बना डाली हैं। अब उन्होंने एक ऐसी कल बनाई है जिसमें मनुष्यों के चित्र चलते फिरते दिखाई देते हैं और साथही बोलते भी हैं। इस तरह के चित्रों का तमाशा बायस्कोप वाले बहुत दिनों से करते हैं। पर उनके चित्र बोलते नहीं। ये चित्र बोलेंगे भी। अब मालवीयजी और सुरेन्द्र बाबू की तसवीरें इस कल में ज़बरदस्ती पकड़ कर बन्द की जा सकेंगी और जब चाहें उनसे स्पीचें भी दिलाई जा सकेंगी। गौहरजान की भी अब ख़ैर नहीं। ९० रुपये का टिकिट लेकर शौक़ीनों को सर-

कारी नुमायश की नाट्यशाला में उनके दर्शन और गान-श्रवण के लिए जाने की अब तादृश ज़रूरत न रहेगी।

९—भूकम्प-ज्ञापक यन्त्र।

जापान में बहुत भूकम्प आया करते हैं। उनसे बचने के उपाय भी वहाँ वालों ने निकाले हैं। वहाँ घर भी इस तरह से बनते हैं कि भूकम्प से उन्हें बहुत कम हानि पहुँचने का डर रहता है। आज तक यूरप और अमेरिका के वैज्ञानिक विद्वानों ने भूकम्प-ज्ञापक जितने यन्त्र बनाये हैं सबमें जापान के बने हुए यन्त्र विशेष अच्छे और विशेष उपयोगी हैं। इस पर भी जापान वाले अपने यन्त्रों में नये नये संशोधन करके उनकी उपयोगिता को बढ़ाते जाते हैं। टोकियो के तैजिरो योनेज़वा नामक एक वैज्ञानिक ने अब एक ऐसा यन्त्र बनाया है जिससे ६० घंटे पहले यह मालूम हो जाता है कि भूकम्प आने वाला है। उससे यह भी मालूम हो जाता है कि कहाँ कहाँ कम्प होगा और उसकी गति कितनी होगी। इसके सिवा इस यन्त्र से आने वाले तूफ़ान की ख़बर भी सात दिन पहले हो जाती है। इस यन्त्र से मानवजाति को बहुत अधिक लाभ पहुँचने की सम्भावना है।

१०—अमेरिका के अख़बारों की नीतिमत्ता।

माडर्न-रिव्यू में एक बंगाली महाशय ने अमेरिका से लिख कर एक लेख प्रकाशित कराया है। उसमें और और बातों के सिवा अमेरिका के समाचार-पत्रों की सुनीति और सदाचार पर भी आपने बहुत कुछ लिखा है। उनका कथन है कि वहाँ के बड़े से बड़े पत्र तिल का ताड़ बनाना, झूँठे को सच्चा और सच्चे को झूठा कह देना, और पाठकों के आश्चर्य और विस्मय को बढ़ाने के लिए मनघड़न्त बातें लिखना अपना फ़र्ज़ सा समझते हैं। समाचार संग्रह करके उन्हें सबसे पहले प्रकाशित करने की जल्दी में कभी कभी वे कुछ का कुछ छाप डालते हैं। पर इसकी वे ज़रा भी परवा नहीं करते। अनुचित मार्ग से रुपया इकट्ठा करने को भी कोई कोई पत्र बुरा नहीं समझते। जो लोग इन दोषों से अलग हैं—जो सचाई को किसी तरह हाथ से नहीं जाने देते—उनके समाचार-पत्रों का बहुत ही कम प्रचार है। अधिक से अधिक २८ हज़ार कापियाँ उनकी निकलती हैं। पर रुपये के लोभी और सुनीति के शत्रु पत्रों की एक एक आवृत्ति सात सात लाख कापियों की निकलती है! परमेश्वर इस देश के पत्रों को इस छूत से बचावे।

११—बहुमूल्य चित्र।

एक लेखक ने एक अँगरेज़ी मासिक पत्र में इँगलैंड के प्रसिद्ध प्रसिद्ध चित्रों का मूल्य फ़ी इंच मुरब्बा के हिसाब से दिया है। इन चित्रों की बहु-मूल्यता का विचार करके बड़ा विस्मय होता है। लन्दन में जो जातीय चित्रशाला है उसमें इटली के विख्यात चित्रकार रैफ़ल का बनाया हुआ मैडोना का एक चित्र है। उसका मूल्य है एक लाख पैंतीस हज़ार रुपये। इस हिसाब से उसका फ़ी इंच मुरब्बा मूल्य ६९० रुपये हुआ। इसी चित्रकार का एक और भी मैडोना का चित्र है। उसका मूल्य इस समय दस लाख पचास हज़ार रुपया कूता जाता है! परन्तु चित्र बहुत बड़ा है। इससे उसका फ़ी इंच मूल्य केवल २५५ रुपये होता है। चित्रकार मिज़ोनियर का बनाया हुआ नपोलियन प्रथम का एक चित्र है। वह इँगलैंड में एक गृहस्थ के पास है। उसे उन्होंने १८८२ ईसवी में कोई ९० हज़ार रुपये में लिया था। इसके फ़ी इंच मुरब्बा का दाम ८२५ रुपये हुए! रैफ़ल का अङ्कित एक चित्र थ्री ग्रेसेज़ (Three Graces) नाम का है। यह चित्र फ़्रांस में एक जगह है। जिसके पास वह है उसने उसे अर्ल आव् डडले से तीन लाख पचहत्तर हज़ार रुपये में लिया था! इसका फ़ी इंच मुरब्बा मूल्य ८३२५ रुपया हुआ!

१२—अठारह मील तक गोला मारनेवाली तोप।

मनुष्य-संहार करनेवाले अस्त्र-शस्त्रों की अद्भुत उन्नति हो रही है। पश्चिमी देश इस विषय में एक

दूसरे से बढ़ जाने की इच्छा से पराकाष्ठा के प्रयत्न कर रहे हैं। सब का एक मात्र आन्तरिक उद्देश यही जान पड़ता है कि मैं हीं अकेला इस दुनिया को अपनी मुट्ठी के भीतर रख लूँ। इस पर दुनिया—नहीं पृथ्वी—शायद हँसती हो। पर उसे ग्रास कर लेने की उद्दाम कामना रखनेवाले उस हँसी की परवा नहीं करते। फ़्रांस के एक जंगी कारख़ाने में अब एक ऐसी तोप बनी है जो तीन मन वज़नी गोले को अट्ठारह मील तक फेंकती है। इसकी परीक्षा हो चुकी है और परीक्षा में पूरी सफलता हुई है। परीक्षा के समय जो गोले इस तोप से छोड़े गये उनसे आस पास की ज़मीन और मकान थर थर काँपने और हिलने लगे। लोगों के कानों के परदे फटने से बच गये। कोई कोई तो संज्ञाहीन होकर ज़मीन पर गिर तक पड़े।

पुस्तक-परीक्षा।

१—गर्भरक्षा। लेखक डाक्टर प्रसादीलाल झा, एल० एम० एस०। पृष्ठ-संख्या ३२। दाम तीन आने। बाबू हरदेवनारायण झा, गोसाँई टोला, इलाहाबाद से प्राप्य। इसमें गर्भवती स्त्री के लक्षण और कर्त्तव्य तथा वर्जित कार्य्यों का वर्णन है। कुछ साधारण रोगों का उल्लेख और उनकी चिकित्सा भी है। पुस्तक उपयोगी है। चिकित्सा-भाग में अँगरेज़ी दवाइयों के बदले देसी दवाइयाँ बतलाई जातीं तो अधिक अच्छा होता; क्योंकि अँगरेज़ी दवाइयाँ हर समय हर जगह नहीं मिल सकतीं।

☼

२—द्वैतानन्दतरङ्गिणी। १४२ पृष्ठ। मूल्य आठ आने। बाबू बद्रीदास, मैनेजर पुस्तकालय, धामी स्टेट, ज़िला शिमला से प्राप्य। पण्डित मूलचन्द ने इसे संस्कृत-पद्य में रचा है और धामा रियासत के मालिक राना हीरासिंह बहादुर ने इसके मूल-संस्कृत की टीका हिन्दी में की है। मायावादी और तार्किक के प्रश्नोत्तर-रूप में मायावाद का इसमें खण्डन और द्वैत-मत का मण्डन है। जीव और ब्रह्म का भेद इस में ख़ूब दिखाया गया है। पुस्तक बड़े मज़े की है।

☼

३—गीतासंग्रह। पुत्रगीता, मङ्किगीता आदि बारह गीताओं का यह संग्रह है। ऊपर मूल संस्कृत-श्लोक हैं, नीचे पण्डित भीमसेन-कृत विस्तृत हिन्दीटीका। पृष्ठ १२५; दाम छः आने; प्राप्तिस्थान ब्रह्मप्रेस, इटावा।

☼

४—श्रीरामहृदयम्। यह अध्यात्म्य-रामायण वाला रामहृदय है। अलग छापा गया है। इसमें पदच्छेद भी है और पण्डित ज्वालाप्रसाद-वाजपेयि-कृत हिन्दी-अनुवाद भी। पृष्ठ ३०, दाम दो आने, प्राप्ति-स्थान, ब्रह्मप्रेस, इटावा।

☼

५—कल्याण-शतक। श्रीयुत-अमीचन्द (शर्म्मा) विरचित। मूल्य एक आना। देवाश्रम, लाहौर के पते पर कर्ता से प्राप्य। इस छोटी सी पुस्तक में दोहा-छन्द में सदुपदेश दिये गये हैं। दोहों के भाव बहुत अच्छे हैं; पर रचना दूषित है। जिसे छन्दोरचना का ज्ञान नहीं उसे पद्य में कुछ भी न लिखना चाहिए।

☼

६—शुभपथप्रदर्शक। इसके भी कर्ता पूर्वोक्त अमीचन्द महाशय हैं। पृष्ठ-संख्या ७२ और मूल्य ३ आने। यह पुस्तक भी पद्यात्मक है। दयाभाव, सहानुभूति, परोपकार, दान आदि कितने ही विषयों पर इसमें पद्य हैं। विचार प्रायः सभी अच्छे हैं। लेखक का उद्देश प्रशंसनीय है। परन्तु आपको अपने भाव गद्य में प्रकट करने चाहिए, पद्य में नहीं। जो जिस बात को नहीं जानता उसे चाहिए कि वह उस बात को करने का कष्ट न उठावे। अथवा, यदि, अमीचन्दजी को पद्य से विशेष प्रेम हो तो छन्दःशास्त्र के प्रारम्भिक नियम तो पहले पढ़ लें।

☼

७—बाला-विचार। "लक्ष्मी" के सम्पादक लाला भगवानदीनजी की धर्मपत्नी "बुँदेला बाला" जी

हिन्दी भाषा अच्छी जानती थीं। वे हिन्दी में कविता भी करती थीं। उनकी कई एक फुटकर कवितायें "लक्ष्मी" में प्रकाशित हो चुकी हैं। खेद है, ये अब जीवित नहीं। यह "बाला-विचार" इन्हीं की कविताओं का संग्रह है। सब मिला कर १२ कवितायें इसमें हैं। विषय सबके अच्छे हैं। कविता भी आज-कल के कितने हीं पुरुष-कवियों से अच्छी हैं। मूल्य पुस्तक का ३ आने। मिलने का पता—लक्ष्मी-प्रेस, गया। इस संग्रह में एक कविता है—"अबला-उपालम्भ"। "बाला-विचार" के प्रकाशक बाबू चतुर्भुजसहाय वर्म्मा ने लिखा है कि इस कविता के उपलक्ष में ठाकुर जगन्नाथसिंह ने बालाजी को पुरस्कार दिया था और जाँच कविता की इस नोट के लेखक ने की थी। इस बात का पता उन्हें "विश्वसनीय मार्ग से" लगा है। इस पर निवेदन है कि वर्म्माजी कृपा करके उस मार्ग की विश्वसनीयता की ज़रा जाँच कर देखें। कहीं भूल तो नहीं हुई?

❋

८—जैन-शिक्षा-दिग्दर्शन। जैनाचार्य्य—श्रीविजय-धर्म्मसूरि ने इस छोटी सी पुस्तक की रचना की है। मूल्य है दो आने। मिलती है काशी की जैनयशोविजय पाठशाला से। इसमें जैन धर्म्म की शिक्षा का सारांश हिन्दी-भाषा में बहुत अच्छी तरह दिया गया है। कुछ समय हुआ प्रयाग में जो सब धर्म्मों से सम्बन्ध रखने वाली एक कानफरंस हुई थी उसी के लिए यह पुस्तक रची गई थी और वहीं पढ़ी भी गई थी।

मनोरञ्जक श्लोक।

विधाय निर्मलं चेतो दूरीकृत्य दुराग्रहम्।
मानवैः सत्यकामैस्तु समालोच्या गिरः सताम्॥

सत्य की अभिलाष रखने वाले मनुष्यों को चाहिए कि वे चित्त को निर्मल बना कर और दुराग्रह को दूर कर सज्जनों की वाणी की समालोचना करें।

गिरिधर शर्मा

चित्र-परिचय

(१)

कालिदास ने मेघदूत में जिस यक्ष का सन्देश वर्णन किया है उसकी प्रियतमा यक्षिणी का चित्र इस संख्या के आरम्भ में प्रकाशित किया जाता है। यह एक जापानी चित्रकार का अङ्कित किया हुआ है। पाठक देखेंगे कि विरहिणी की वेश-भूषा, उसकी शरीरावस्था और उसके मानसिक भाव किस ख़ूबी से चित्र में दिखलाये गये हैं।

(२)

पार्वती का शिवाराधन—चित्र "काँगड़ा-स्कूल" के नाम से प्रसिद्ध चित्रों में से है। इसका अर्थ यह नहीं कि यह चित्र काँगड़े का बना हुआ है। काँगड़ा के नामी चित्रकार जैसी क़लम और जिस प्रणाली से चित्र बनाते थे उसी का इसमें अनुकरण किया गया है। बस इसका इतनाही मतलब है। पार्वती के चेहरे और उनकी बैठक से चित्रकार ने उनके हृदय के भक्ति-भाव को बड़ी ही कुशलता से इस चित्र में अङ्कित किया है।

(३)

गत जून की २२ तारीख़ को राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज और महारानी मेरी का राज्याभिषेक सम्बन्धी उत्सव लन्दन में बड़े समारोह से सानन्द समाप्त हो गया। इस ख़ुशी में हम महाराज और महारानी के नये चित्र इस संख्या में प्रकाशित करते हैं।

क्षमा-प्रार्थना।

सरस्वती की गत संख्या में शास्त्र-विशारद जैनाचार्य्य श्रीविजय-धर्म्म सूरि का चित्र नहीं दिया जा सका। कारण यह हुआ कि ब्लाक अच्छा न होने से चित्र ख़राब छपा। और ऐसा चित्र छापने से न छापना ही अच्छा समझा गया।

Printed and Published by Panch Kory Mittra at the Indian Press, Allahabad.

सचित्र मासिक पत्रिका।

भाग १२] १ अक्टूबर, १९११—आश्विन शुक्ल ९, १९६८। [संख्या १०

महाराज पञ्चम जार्ज और महारानी मेरी का राज्याभिषेक।

(एकमात्र सरस्वती के लिए लिखित)

अँगरेज़ी-साम्राज्य के महाराज का राज्याभिषेक एक बहुत ही बड़ा उत्सव है। उसमें सम्मिलित होने के लिए अनेक देशों के सहस्रों लोग इँगलैंड जाते हैं। वेस्टमिन्स्टर अबी नामक ऐतिहासिक गिरजा घर, जहाँ सम्राट् का राज्याभिषेक किया जाता है, इतना छोटा स्थान है कि उसमें कोई ७००० दर्शकों से अधिक नहीं बैठ सकते। ऐसे समय में जब कि लन्दन समस्त देशों और जातियों के बड़े बड़े लोगों से खचाखच भरा हुआ हो, यह थोड़ी प्रतिष्ठा की बात नहीं, यदि कोई पूर्वोक्त उत्सव में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया जाय। राज्याभिषेक देखने की लालसा रखने वाले सहस्रों नरनारी अन्यान्य देशों से आये हुए राजदूतों की बेहद .खुशामद करते हैं कि वे कह सुन कर उन्हें या उनके मित्रों या जान-पहचान वालों को राज्याभिषेक देखने के लिए वेस्टमिन्स्टर अबी में जगह दिला दें। किसी किसी की दर्शनोत्कण्ठा तो इतनी प्रबल होती है कि यदि वहाँ जाने के लिए टिकट विकते होते तो वे अर्ल मार्शल को जी खोल कर रुपया दे डालते और टिकट मोल ले लेते। वेस्टमिन्स्टर अबी में राज्याभिषेक के समय दर्शकों के बैठने का प्रबन्ध अर्ल मार्शल ही किया करता है। एक दिन एक भारतवासी सज्जन अपनी आँखों में आँसू भर कर मुझसे कहने लगे "इसकी परवा नहीं कि मुझे कितना ख़र्च करना पड़े, मैं अभिषेक देखना ही चाहता हूँ।" यह क्या, ऐसे सैकड़ों ही लोग गत जून के महीने में इसी तरह कहते थे। परन्तु यह

बात वहाँ के प्रबन्धकर्ताओं के लिए बड़ा गौरव बढ़ाने वाली है कि दर्शकों को स्थान-प्रदान करने में वे रुपये पैसे का ज़रा भी ख़याल नहीं करते। वेस्ट-मिन्स्टर अबी में ऐसे समय केवल उन्हीं लोगों का प्रवेश हो सकता है जो उतनी प्रतिष्ठा के योग्य समझे जाते हैं। पाठक, अब आप मेरे आश्चर्य का अनुमान कीजिए जो भारतवर्ष से इँगलैंड पहुँचने पर, एक दिन तीसरे पहर, भारतसचिव के उस पत्र मिलने पर मुझे हुआ जिसमें उन्होंने मुझसे यह बात पूछी थी कि आया मैं वेस्टमिन्स्टर अबी में राज्याभिषेक देखने के लिए अर्ल मार्शल का आमंत्रण स्वीकार करूँगा? मुझे बड़ा ही विस्मय हुआ, क्योंकि मैंने न तो इस कृपा के लिए प्रार्थना ही की थी और न मुझे यही मालूम था कि मैं इसका पात्र समझा जाऊँगा। मैंने फ़ौरन ही उत्तर भेजा कि ऐसे आमंत्रण को मैं सादर स्वीकार करूँगा। यथासमय मेरे पास एक सुन्दर कार्ड आ पहुँचा, जिसमें निम्नलिखित शब्द लिखे हुए थे—"By command of the king, the Earl Marshall invites Saint Nihal Singh to witness the coronation of their Majesties in Westminster Abbey on June 22nd Norfolk.

"अर्थात् महाराज के आज्ञानुसार अर्ल मार्शल सेंट निहालसिंह को महाराज और महारानी का राज्याभिषेक देखने के लिए २२ जून को वेस्टमिन्स्टर अबी में आमंत्रित करते हैं।" थोड़े ही दिनों बाद सवारी का "पास" आया जिसके द्वारा अबी तक सवारी में जाने की इजाज़त मिलती है और एक और पास जिसके ज़रिये से एबी के अन्दर प्रवेश करने और नियुक्त स्थान में बैठने का अधिकार दिया जाता है।

बाईसवीं जून को प्रातःकाल बड़ी सर्दी थी। मैं चार बजे सुबह उठा; कपड़े पहने; और झट पट एक प्याला चाय और एक टुकड़ा रोटी खाकर घर से निकल मोटरकार पर सवार हुआ और ५ बजे के क़रीब वेस्टमिन्स्टर एबी की ओर रवाना हुआ। दरवाज़े खुलने के एक घंटा पहले ही मैं वहाँ जा पहुँचा। इस जल्दी का कारण यह था कि पुलिस और अख़बारवालों ने आमंत्रित सज्जनों को आगाह कर दिया था कि राज्याभिषेक वाले दिन कहीं देर तक सोते न रहें जो सड़कों पर भीड़ हो जाने से वेस्टमिन्स्टर एबी तक पहुँचना कठिन हो जाय। बस ठीक समय पर पहुँच जाने की फ़िक्र ने मुझे ऐसा सताया कि मैं वहाँ ज़रूरत से ज़ियादा पहले जा पहुँचा। अस्तु, यह विचार कर कि समय को किसी काम में लगाना चाहिए मैंने अपने मोटर चलाने वाले से कहा कि मुझे अब उन सड़कों में एक बार घुमा दो जिधर से महाराज की सवारी आवेगी। सुबह ही से लोग सड़कों पर जा डटे थे और सड़कें स्त्री-पुरुषों की क़तारों से ठसाठस भरने लगी थीं। कितने ही लोगों को तो वहाँ डटे हुए घंटों हो चुके थे, पर ज़रा भी थकान उनके चेहरे से न जान पड़ती थी। प्रसन्न-मुख बड़ी चाव से वे सवारी की राह देख रहे थे। सड़कों के किनारे जो काठ के मचान बनाये गये थे वे खचा-खच भर चले। जब एबी के फाटक बन्द होने का नियत समय निकट आ पहुँचा तब मैंने ड्राइवर से कहा कि जल्दी पहुँचाओ। ह्वाइट हाल की चौड़ी सड़क पर, जिसकी एक तरफ़ इंडिया आफ़िस है, गाड़ियाँ और मोटर ही मोटर दिखाई पड़ते थे। परन्तु लन्दन के गाड़ी और मोटर चलाने वाले इतनी सावधानी और चतुराई से अपना काम करते हैं कि वे ऐसी जगह भी सवारी निकाल ले जाते हैं जहाँ कि साधारण कोचमैन और ड्राईवर घबरा जायँ। इसके सिवा लन्दन की पुलिस, जो सड़कों पर चलने वाली सवारियों और पैदल चलने वालों का प्रबन्ध करती है, बड़ी ही कुशलता और धैर्य के साथ अपना कार्य्य करती है। गाड़ी चलाने और पैदल चलने वाले लोग भी पुलिसवालों के इशारों की पूरी पूरी पाबन्दी करते हैं। उस दिन इस काम पर कोई दस हज़ार पुलिसमैन नियुक्त किये गये थे। इनमें से कुछ तो सवारियों और पैदल चलनेवालों का प्रबन्ध करते थे, और कुछ मचानों

पर बैठे और सड़क के किनारे खड़े हुए लोगों का। बहुतेरे बिना वर्दी के पुलिसमैन दर्शकों की रक्षा गिरहकटों और चोरों से करते थे और बहुतेरों को यह मुश्किल और नाज़ुक काम सौंपा गया था कि वे इस बात का प्रबन्ध रक्खें कि कहीं से कोई ऐनार्किस्ट (राजविद्रोही) महाराज के ऊपर, सवारी निकलते समय, बम का गोला या पिस्तौल न चला दे। पुलिस का प्रबन्ध हर तरह अच्छा था; कहीं कोई दुर्घटना न होने पाती थी। एबी पहुँच कर मैं अपने आसन पर आसीन हो गया।

बाद को मुझे मालूम हुआ कि और लोगों को एबी तक पहुँचने में बड़ी तकलीफ़ हुई। उदाहरण के लिए मेरी लेडी जिरार्ड ही को मान लीजिए। आप का मकान एबी से एक ही मील पर था। आप ६½ बजे सुबह रवाना हुईं। दो घंटे रास्ते ही में बीत गये और एबी न पहुँच सकीं। जब आपने देखा कि ९ बजने वाले हैं और एबी का फाटक अब मेहमानों के लिए बन्द हो जायगा, तब आप को गाड़ी से उतर कर अपना क़ीमती साया घसीटते हुए क़रीब १०० गज़ पैदल चलना पड़ा। लौटते समय भी आप पर ऐसी ही मुसीबत आई। आप अपने घर ६ बजे शाम को पहुँच पाईं। सुबह से शाम तक बिना खाये पिये इस तरह रहना एक उच्च श्रेणी की योरोपीय रमणी के लिए बड़ी ही मुसीबत है। अस्तु।

एबी के अन्दर ऐसा सुन्दर दृश्य देखने में आया जो कदापि विस्मरण नहीं हो सकता। ऐसा दृश्य देखने का सौभाग्य शायद ही कभी लोगों को मिलता हो।

विविध प्रकार के राज-चिह्नों से सुशोभित नीले रंग के सुन्दर क़ालीन सर्वत्र बिछे हुए थे। कुर्सियों की क़तारें और एबी के अन्यान्य स्थान इस तरह सजाये गये थे कि उनका रंग सैकड़ों वर्ष के पुराने पत्थरों में खप जाय। आल्टर (बेदी), अर्थात् गिर्जे का वह स्थान जहाँ पादरी प्रार्थना किया करते हैं, जवाहर की तरह चमक रहा था। उसके चारों ओर सोने और चाँदी के तार धार्मिक संकेतों को प्रकाशित कर रहे थे। उसी पर वे अमूल्य पात्र रक्खे हुए थे जिनका उपयोग राज्याभिषेक में होने वाला था। एबी के भीतर, जहाँ चारों ओर से रास्ते मिले हुए हैं, 'थियेटर' अर्थात् अभिषेकस्थान बना था। उसके चारों ओर चार स्तम्भ बने थे और ऊपर एक सुन्दर लालटेन लटक रही थी। बीचों बीच दोहरे चबूतरे की शकल का एक उच्चस्थान बना था जिस पर दो सिंहासन रक्खे थे:—एक कुछ ऊँचे पर महाराज के लिए; दूसरा उससे कुछ नीचे महारानी के लिए। मुकुट रक्खे जाने के अनन्तर महाराज और महारानी ने इन्हीं सिंहासनों को सुशोभित किया। उससे कुछ ही दूर आगे एक और ऐतिहासिक राजस्थान था जहाँ 'लायफ़ैला' नामक पत्थर सेन्ट एडवर्ड की कुर्सी पर रक्खा था। यह पत्थर कई शताब्दियों से यहाँ है। इसमें प्राचीन समय से साम्राज्य की रक्षा करने की अलौकिक शक्ति मानी जाती है। यह कुर्सी आल्टर के सम्मुख रक्खी थी। इसके एक ओर रिकनीशन चेयर थी जहाँ महाराज को पहले बैठना पड़ा। ये कुर्सियाँ पुराने ढंग की बनी हुई थीं। बैंगनी कपड़े इन पर पड़े हुए थे। इन कुर्सियों के नीचे महाराज के घुटने टेकने के लिए गद्दियाँ थीं। आल्टर से सिंहासन तक, फ़र्श पर, फ़ारिस के पुराने चाल के सुन्दर क़ालीन बिछे थे।

वेस्टमिन्स्टर एबी की शोभा उस दिन अवर्णनीय थी। बड़े बड़े राजा और महाराजा लोगों के कामदार जवाहरात से लदे हुए, सोने और चाँदी के काम से खचित, रंग बिरंगे अमूल्य वस्त्र धारण किये हुए थे। उनकी तलवारों की मूठों पर जवाहरात जड़े हुए थे, जिनकी कारीगरी की प्रशंसा नहीं हो सकती।

इँगलैंड के लार्डों की भी शोभा पूर्वीय नरेशों की तुलना कर रही थी। बहुतेरे अपने मुकुटों को अपने हाथों में लिये थे। बहुतेरों के मुकुट उनके अनुचरों के हाथ में थे। स्त्रियों की शोभा तो पूछिए

ही नहीं। प्रत्येक लेडी हज़ारों रुपये की क़ीमती पोशाक पहने हुई थी। ये पोशाकें अपने रंग ढंग में निराली ही थीं; परन्तु हम भारतवासियों की दृष्टि में बहुत ही बुरी थीं, क्योंकि उन रमणियों के वक्षःस्थल दिखलाई पड़ते थे। भूमण्डल के सभी भागों के लोग वहाँ एकत्र थे। श्वेतवर्ण से लगा कर अत्यन्त कृष्णवर्ण तक सभी प्रकार के लोग वहाँ देख पड़ते थे। आकृति से ही उनकी जाति और देश का ज्ञान हो जाता था। परन्तु राजराजेश्वर की राजभाषा अँगरेज़ी सभी बोलते थे। यद्यपि उनके शब्दोच्चार में भेद था, तथापि सभी राजदम्पती के अधीन और अनुरक्त थे और उन्हीं का अभिषेक देखने के लिए वे दूर दूर से आये थे। नाना प्रकार की पगड़ियों और टोपियों को देख कर जिन से साम्राज्य के पूर्वीय भाग का बोध होता था, और साम्राज्य के विविध भागों और उपनिवेशों से आये हुए स्त्रियों और पुरुषों के शब्दोच्चार को सुन कर 'जानबुल' (अँगरेज़ों) के उस गर्विष्ठ वचन की सत्यता कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य्यास्त नहीं होता, पूर्णरूप से सिद्ध होती थी। अपने जीवन में पहले ही पहल इस वाक्य का वास्तविक अर्थ मुझे वहाँ भासित हुआ। परन्तु सब से बड़ी बात इस विभिन्नता में यह थी कि इसमें दृढ़ एकता विद्यमान थी, जो साम्राज की विविध जातियों को एक सूत्र में बाँधे हुए थी। इसमें संदेह नहीं कि वहाँ सभी प्रकार की प्रजा थी। उन द्वीपों के निवासी जहाँ नियंत्रित राज्यव्यवस्था है, उन उपनिवेशों के लोग जो स्वराज्य का सुख भोग रहे हैं और जिन्हें शुद्ध प्रजातन्त्र राज्य के सिवा कोई राज्यव्यवस्था अच्छी ही नहीं लगती, और ऐसे देशों के भी लोग जो अपने शासन में कोई राय नहीं दे सकते, और जिन पर केवल राजदण्ड के भय से ही शासन किया जाता है—सभी वहाँ थे। परन्तु उन सबको एक स्नेह-सूत्र में बाँधने के लिए यह बात काफ़ी थी कि वे एबी में महाराज का राज्याभिषेक देखने और उन्हें साम्राज्य का स्वामी स्वीकार करने के लिए एकत्र हुए थे।

ख़ैर; पारलियामेंट की लार्डसभा के सब लार्ड और कामन्स सभा के सब सभासद किसी तरह अपनी अपनी जगह पर बैठ गये। शाही जुलूस धीरे धीरे अबी की तरफ़ बढ़ने लगा। दूर पर तोपों की बाढ़ ने यह सूचना दी कि महाराजा और महारानी अपने बकिंघम महल से रवाना हो चुके। साढ़े नौ बजे के कुछ देर बाद भेरियों के घनघोर घोष ने इस बात का विज्ञापन दिया कि भिन्न भिन्न देशों के राजे, महाराजे और उनके प्रतिनिधि आ रहे हैं। यह जुलूस बहुत ही भव्य और बहुत ही दर्शनीय था। जर्मनी के युवराज और उनकी रानी इस जुलूस में सबके आगे थीं। दुबारा भेरियों का निनाद सुनाई पड़ा, जिससे ज्ञात हुआ कि ग्रेट ब्रिटन के बड़े बड़े अमीर, उमरा और रईस आ रहे हैं। इस पिछले जुलूस के आगे प्रिन्स आव् वेल्स, अर्थात् महाराज पञ्चम जार्ज के युवराज, अपनी शाही पोशाक में थे। उनके साथ राजकुमारी मेरी और युवराज के छोटे भाई भी थे। इसके बाद कुछ मिनट तक सन्नाटा रहा। बड़ी ही उत्कण्ठा से लोग इसकी प्रतीक्षा करने लगे कि अब क्या होता है। इतने में दूर सड़कों से जयजयकार की धीमी आवाज़ सुनाई दी। साथ ही उन सवारों के घोड़ों की टापों की आवाज़ भी सुनाई दी, जो महाराज के जुलूस के आगे आगे आ रहे थे। लोगों ने समझ लिया कि उत्कण्ठापूर्त्ति का समय आ गया। आरगन बाजा बजने लगा। बाइबल का एक समयानुकूल गीत गाया जाने लगा। उसकी मधुर ध्वनि से वह विशाल गिरजाघर गूँज उठा। इतने में वह जुलूस भी धीरे धीरे एबी के भीतर आ पहुँचा। बड़े बड़े पादरी आगे थे। उनके पीछे पताका-वाहक आदि थे। इँगलैंड, भारत, आस्ट्रेलिया, कनाडा—एक एक देश की पताका एक एक अमीर के हाथ में थी। लार्ड कर्ज़न ने भारत की पताका वहन की थी। इन लोगों के पीछे लार्ड रोज़बरी और लार्ड मिंटो आदि चार लार्ड थे। यही लोग राजतिलक के समय महाराज पर छत्र धारण करने वाले थे। उनके पीछे

CORONATION OF KING GEORGE V.
The King and Queen returning to Buckingham Palace wearing their Crowns

तिलकोत्सव के अनन्तर, मुकुट सिर पर पहने हुए, महाराज और महारानी राजकीय गाड़ी पर महलों को लौट रहे हैं।

CORONATION OF KING GEORGE V.
After the Ceremony: Their Majesties leaving Westminster Abbey on their return to Buckingham Palace
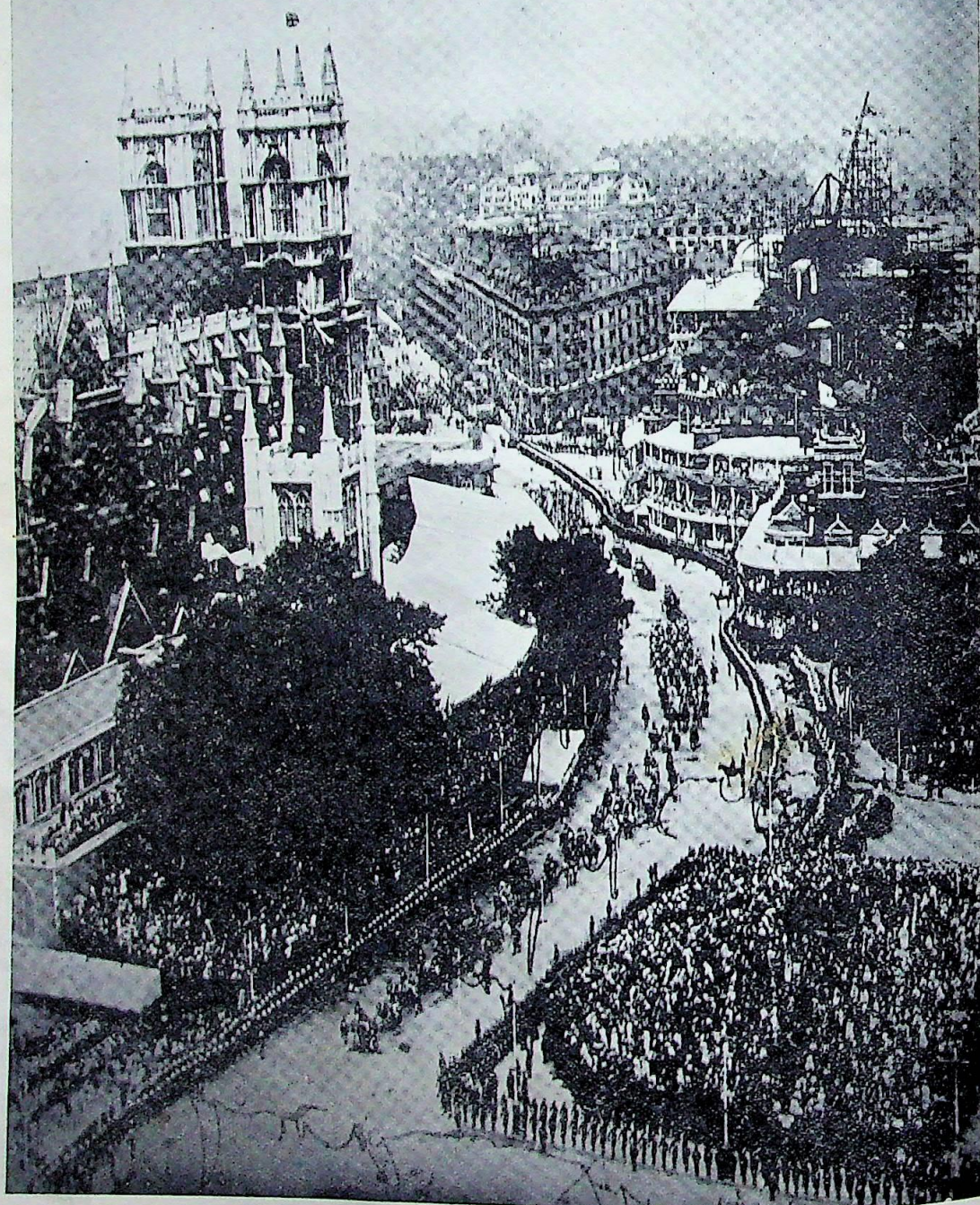
महाराज पञ्चम जार्ज का राजतिलकोत्सवसम्बन्धी जुलूस।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

लार्ड चेम्बरलेन, लाड चैंसलर, दो आर्क बिशप, लार्ड मार्ले और प्रधान मंत्री मिस्टर ऐसक्विथ थे। इन अमीर-उमरा और रईसों के पीछे महारानी का जुलूस था। अपनी सहेलियों के बीच में बड़ी ही सजधज से आती हुई वे देख पड़ीं। उनकी चाल-ढाल और आकृति से उनका महारानीपन टपक रहा था। उनकी पोशाक सफ़ेद साटन की थी। उस पर ज़रदोज़ी का काम था। गुलाब, कमल और भारतीय ताराओं आदि के चित्र उस पर कढ़े हुए थे। पोशाक बड़ी ही अद्भुत थी। महारानी के पीछे अर्ल नाम के रईसों की छः कुमारिकायें थीं। उनके भी वस्त्र, जो कि साटन और मख़मल के थे, बहुत ही अनमोल थे। उनके आभूषणों की चमक-दमक निराली ही छटा दिखा रही थी। महारानी के सिर पर मुकुट न था। परन्तु उनके जवाहरात अद्भुत शोभा दे रहे थे। महारानी के साथ लार्ड लोगों की चार लेडियाँ भी थीं। वही राजतिलक के समय महारानी पर छत्र धारण करने वाली थीं।

वेदी पर रक्खी हुई दो कुर्सियों में से बाईं कुर्सी पर जब महारानी बैठ गईं तब महाराज का जुलूस आगे बढ़ा। पहले वे लोग आये जो मुकुट आदि राज-चिह्न लिये हुए थे। साथ ही तीन तलवारें आईं जिनकी मूठें लार्ड किचनर, लार्ड राबर्ट्स और ड्यूक आव् वेफर्ट के हाथ में थीं। तदनंतर शस्त्ररक्षक, लार्ड मेयर, लार्ड ग्रेट चेम्बर लेन इत्यादि ने प्रवेश किया। तिलक के समय काम आनेवाले पात्र, खड्ग, मुकुट, राज-दण्ड लिये हुए लार्ड लोगों ने भी पदार्पण किया। बाइबिल इत्यादि धार्मिक वस्तु लिये हुए तीन बिशप भी आये। इन सबके पीछे महाराज ने प्रवेश किया। उनके वस्त्राभूषण कैसे थे, इसके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं। उनकी विशेषता तो महाराज के उस समय के चित्र से ही पाठकों को विदित होजायगी। इस समय का चित्र सरस्वती में निकल भी चुका है। महाराज ने महारानी के पास से गुज़रते समय उनके सामने बड़ी गम्भीरता से सिर झुकाया और उनकी दाहनी तरफ़ रक्खी हुई कुर्सी पर बैठ गये।

तदनंतर महाराज, और महारानी, दोनों ने, अपने सामने रक्खे हुए दो स्टूलों पर घुटने टेक कर कुछ प्रार्थना की। प्रार्थना के अनन्तर फिर वे अपनी कुर्सियों पर बैठ गये। तब राज्याभिषेक का काम आरम्भ हुआ।

कैंटरबरी के आर्क बिशप वेदी के उत्तरी किनारे पर रक्खे हुए अपने सिंहासन से उठ खड़े हुए। लार्ड चैंसलर, लार्ड हाईकांस्टेबल और अर्ल मार्शल भी उठे। ये चारों चबूतरे के एक किनारे पर आये। वहाँ आर्क बिशप ने महाराज के विषय में इस प्रकार सबको सम्बोधन करके कहा—

"महाशयो! इस देश के निर्विवाद नरेश महाराज जार्ज को मैं आपके सामने पेश करता हूँ। कहिए, आप लोग, जो उनका आदर-सत्कार और उनकी सेवा-शुश्रूषा करने के लिए और उन्हें अपना राजा मानने के लिए यहाँ एकत्र हुए हैं, ये सब बातें करने के लिए तैयार हैं?"

यह सुनते ही उस विशाल जन-समूह से व्योम-व्यापी निनाद उत्थित हुआ। सात हज़ार लोगों ने एकही साथ "महाराज चिरञ्जीव हों"—का घोष किया। आर्क बिशप अपने उन चारों साथियों के साथ उस चबूतरे के चारों तरफ़ गये और हर तरफ़ सब से यही प्रश्न किया। जब तक वे यह कहते रहे तब तक महाराज उन उन दिशाओं की तरफ़ अपना मुख करके खड़े रहे। हर दफ़े आर्क बिशप के प्रश्न का पूर्ववत् उत्तर मिला। भेरियों का निनाद उस विशाल गिर्जाघर में बार बार गुञ्जायमान होने लगा।

धीरे धीरे शोरोगुल बन्द हुआ। महाराज, महारानी, राजकुमार, बड़े बड़े अमीर-उमरा आदि घुटनों के बल बैठ गये। सबने कुछ प्रायश्चित्त-बोधक संस्कार किया। तब धार्म्मिक संस्कार आरम्भ हुआ। महाराज और वह सारा दर्शक-समुदाय खड़ा हो गया। यार्क के आर्क बिशप ने पहले कुछ धर्म्मोपदेश किया। तदनन्तर एक और आर्क-बिशप उठे और महाराज की कुर्सी के पास आये। आकर उन्होंने महाराज से पूछा कि क्या आप शपथ करने के लिए

तैयार हैं। महाराज ने कहा—"मैं तैयार हूँ"। तत्काल ही शपथ हुई। महाराज ने कहाः—

"मैं शपथपूर्वक यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं ग्रेट ब्रिटन और आयरलैंड के संयुक्त राज्य, तथा उसके अधीनस्थ उन सब देशों और उपनिवेशों के निवासियों का शासन पारलियामेंट के नियम, क़ानून और रीति-रवाज के अनुसार करूँगा। जितने राजकीय काम में करूँगा न्याय और दया को हाथ से न जाने दूँगा। मैं प्रोटेस्टेंट धर्म्म और बाइबल को मानूँगा, और, इस धर्म्म के सम्बन्ध में क़ानून की रू से जो कुछ मेरा कर्तव्य होगा मैं सब करूँगा"।

महाराज कुरसी से उठे। एक रईस राजकीय खड्ग लेकर उनके आगे आगे चले। वेदी पर जाकर महाराज ने बाइबल पर हाथ रक्खा और शपथ की। तदनन्तर लिखी हुई शपथ पर आपने दस्तख़त किये और फिर अपनी जगह पर लौट आये। तब आर्क-बिशप ने एक छोटी सी प्रार्थना करके अपना हाथ उस गरुडाकार सुवर्णपात्र पर रक्खा जिसमें अभिषेक-तैल था। इधर महाराज ने ऊपरी पोशाक उतारनी शुरू की, उधर उस समय के लिए रचे गये कुछ विशेष पवित्र पद्य गाये जाने लगे। महाराज अपनी जगह से उठ कर "सेंट एडवर्ड" नाम की कुरसी पर जा विराजे। लार्ड रोज़बेरी आदि चार पुरुषों ने महाराज पर छत्र धारण किया। आर्क-बिशप ने वेदी से अभिषेक-तैलपात्र और चम्मच उठा कर उससे महाराज के सिर, वक्षःस्थल और हाथों को अभिषिक्त किया। यह हो चुकने पर महाराज उठ खड़े हुए। तब वेस्टमिन्स्टर के बड़े पादरी ने महाराज को धार्म्मिक सङ्केतपूर्ण परिच्छदादि प्रदान किये। नवाभिषिक्त महाराज तब से स्वर्गगत उस प्रसिद्ध धर्म्मावतार के प्रतिनिधि हुए।

तदनन्तर और भी कई संस्कार हुए। लार्ड चेम्बरलेन ने महाराज की एडियों को सोने के अश्व-तोदन, काँटे, से छुवा और फिर उसे वेदी पर रख दिया। लार्ड वोचम ने राजकीय खड्ग लार्ड चेम्बरलेन को दिया। लार्ड चेम्बरलेन ने उन्हें एक और खड्ग बदले में दिया। वह आर्क-बिशप को दिया गया। उन्होंने उसे वेदी पर रखकर महाराज को दे दिया। महाराज ने कुछ देर उसे धारण किया। जब तक वे उसे धारण किये रहे, पादरी साहब मन्त्र-पाठ करते रहे। इसके बाद महाराज अपने आसन से उठे, कमर से तलवार खोली, वेदी पर उसे रक्खा और फिर अपनी जगह आकर बैठ गये। तबसे लार्ड वोचम उस नङ्गी तलवार को ऊपर उठाये रहे।

यह सब हो चुकने पर महाराज पर एक विशेष प्रकार का सुनहरी आच्छादन-पट डाला गया। उन्हें राजकीय अँगूठी और दस्ताने दिये गये। दो राज-दण्ड भी उन्हें मिले।

सुनहरी परिच्छद पहने हुए, राजकीय अँगूठी और दस्ताने धारण किये हुए, दोनों हाथों में एक एक राज-दण्ड लिये हुए, परन्तु अब तब नंगे सिर, महाराज ने पूर्ववर्त्ती-राजाओं के सिंहासन पर जाकर आसन ग्रहण किया। "क्रौन आव् सेंट एडवर्ड" नामक राजमुकुट, जो पहले पहल राजा द्वितीय चार्ल्स के लिए बनाया गया था, वेस्ट-मिन्स्टर के बड़े पादरी द्वारा वेदिका से उठाया जाकर आर्क-बिशप के हाथ में दिया गया। आर्क-बिशप ने बड़े भक्ति-भाव से उसे महाराज के सिर पर रख दिया। उधर अरुण वस्त्रधारी लार्ड लोगों ने भी अपने अपने पद-सूचक शिरश्चिह्न या लघु-मुकुट अपने सिरों पर रक्खे। सारा जनसमुदाय एकदम खड़ा हो गया और "ईश्वर महाराज की रक्षा करे" की ध्वनि गूँज उठी। बाजे बाजने लगे। दूरस्थित सलामी की तोपों ने भी बाढ़ें दागनी आरम्भ कीं।

शोरोग़ुल कम हुआ। बाजा बजा। मधुर स्वर में एक भजन गाया गया। आर्क बिशप ने महाराज को आशीर्वाद दिया और आगत जनों से बड़े ही शान्त और गम्भीर भाव से कुछ समयोचित बातें कहीं।

अभिषिक्त होकर, राजमुकुट धारण करके, और राजोचित वस्त्रालङ्कार आदि से विभूषित होकर महाराज अब राजाओं, राजकुमारों और अमीरों के कृत सम्मान को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हो गये। जहाँ पर वे आसीन थे वहाँ से उठ कर

ऊँचे चबूतरे पर रक्खी हुई दाहने तरफ़ की कुरसी पर आप जा बैठे। कैंटरबरी के आर्क-बिशप ने, तब, महाराज के सामने घुटने टेके। अन्य बिशप लोगों ने अपने अपने स्थान ही पर घुटनों के बल बैठ कर महाराज की अधीनता और प्रभुता स्वीकार की। साथ ही उन्होंने राजभक्ति-सूचक कुछ विशेष वाक्यों का उच्चारण भी किया। आर्क-बिशप ने उठ कर महाराज के बायें कपोल का चुम्बन किया। उनके बाद महाराज के वंशज राजकुमारों का नम्बर आया। सब से पहले युवराज, प्रिंस आव् वेल्स, उठे। वे घुटनों के सहारे अपने पिता के सामने बैठ गये। उन्होंने कहाः—

"मैं, एडवर्ड नामक का प्रिंस आव् वेल्स, आज से आपका आज्ञाकारी प्रजाजन हुआ। जीवनावधि मैं आपकी सेवा-शुश्रूषा करूँगा। मैं अपने को आपसे अलग न समझूँगा। आप पर मैं श्रद्धापूर्वक विश्वास करूँगा। प्रति-पक्षियों के मुक़ाबले मैं आपके साथ मरने जीने को सदा तैयार रहूँगा। परमेश्वर मेरी सहायता करे"।

इतना कह कर वे बड़े गम्भीर भाव से उठ खड़े हुए, राजमुकुट को हाथ से छुआ और वहाँ से हटने लगे। परन्तु पिता ने उन्हें जाने न दिया। बड़े प्रेम से उन्होंने पुत्र को अपनी तरफ़ खींच कर छाती से लगा लिया और कुछ देर तक वैसे ही लगाये रहे। महाराज ने बार बार पुत्र का मुख चुम्बन किया। प्रिंस आव् वेल्स के बाद ड्यूक आव् कनाट और प्रिंस आर्थर आव् कनाट महाराज के सम्मुख आये। उनके बाद अमीर-उमरा, अर्थात् लार्ड लोगों की बारी आई। ड्यूक, मारक्विस, अर्ल, वाइकौंट और बेरन—सब लोगों ने अपने अपने रुतबे के अनुसार, एक के बाद एक ने, महाराज की राजभक्त प्रजा होना स्वीकार किया। जब तक यह रस्म होती रही सर फ़्रेडरिक ब्रिज का रचा हुआ एक गीत-विशेष बराबर गाया जाता रहा। अन्त में नक़ारे बजे, भेरियाँ भी बजीं और उपस्थित जन-समुदाय ने उच्च-स्वर में कहाः—

"परमेश्वर राजा जार्ज की रक्षा करे !
राजा जार्ज चिरञ्जीव हों !
राजा सदा-सर्वदा जीते रहें !"

इस प्रकार महाराज का राजतिलकोत्सव समाप्त हुआ।

अब महारानी के अभिषेक की बारी आई। अब तक जितने संस्कार और कार्य्य हुए सबको वे उसी कम ऊँची कुरसी पर बैठी हुई चुपचाप देखती रही थीं जिस पर कि गिरजाघर में प्रविष्ट होकर वे पहले बैठी थीं। अब वे उठीं। उठ कर उस स्टूल पर वे नतजानु हुईं जो वेदी और "सेंट एडवर्ड" नामक कुरसी के बीच में रक्खा था। ड्यूक नामक रईसों की चार लेडियों ने महारानी के ऊपर सुवर्ण-रञ्जित वस्त्र, जिसे छत्र कहना चाहिए, धारण किया। आर्क-बिशप ने पवित्र-अभिषेक-तैल से उनके केश-कलाप को अभिषिक्त किया। ज्योंही प्रधान धर्माधिकारी—आर्क-बिशप—ने महारानी के सिर पर धीरे से मुकुट रक्खा त्योंही अमीरों और रईस लार्डों की पत्नियों ने भी अपने अपने पद और योग्यतासूचक चिह्न अपने अपने सिर पर रक्खे। यह हो चुकने पर महारानी उठीं। इस समय उनके मुकुट पर लगा हुआ कोहनूर हीरा अपनी अप्रतिम प्रभा को चारों ओर छिटका रहा था। महारानी दोनों हाथों में दो राजचिह्न-सूचक दण्ड लिये हुए अपने सिंहासन की तरफ़ बढ़ीं और महाराज के पास जाकर बैठ गईं। उधर समयानुकूल गीत और वाद्य हो रहा था। इधर महाराज और महारानी दोनों वेदी पर गये, कुछ उपहार चढ़ाया और अन्तिम धर्म-कृत्य समाप्त करके आर्क-बिशप के हाथ से मद्य और रोटी का प्रसाद प्राप्त किया। तदनन्तर दोनों, राजा-रानी, ने अपनी अपनी कुरसियाँ छोड़ कर वेदी की प्रदक्षिणा की और कुछ देर के लिए सेंट एडवर्ड नामक गिरजा घर में गये। वहाँ से लौटने पर उन्हें लोगों ने जो देखा तो शाही पोशाक में पाया। सिर पर उनके शाही-ताज था, जिस पर बहुमूल्य रत्न चमक रहे थे।

अब जुलूस के लौटने का उपक्रम हुआ। ज्योंहीं सब लोग गिरजाघर से निकलने को हुए त्योंही वेस्टमिन्स्टर के हेड मास्टर ने महाराज और महारानी के लिए तीन बार जय-ध्वनि करने की सूचना की। फिर क्या था। हर्षसूचक-ध्वनि का सागर उमड़ उठा। इतने में सब लोग गिरजाघर के द्वार से बाहर निकल गये। उस पुराने प्रार्थना-मन्दिर के बाहर महाराज की प्रजा ने महाराज का और भी अधिक हर्ष और आनन्द से स्वागत किया।

एबी से लौटती दफ़े जिस रास्ते से महाराज और महारानी को जाना था उसके दोनों तरफ़ जो दर्शक क़तार बाँधे हुए खड़े थे उन बेचारों को न मालूम कब तब खड़ा रहना पड़ा। मेले को छाँट छाँट कर अनेक मार्गों से निकल जाने के लिए यथा-सम्भव सब तरह का सुभीता किया गया। पर वह मनुष्यों का महार्णव शीघ्र नहीं छँट सका। घंटों की देरी लग गई। उस दिन का वह दृश्य बड़ा ही अलौकिक था। सड़कों के दोनों ओर की सजावट देखते ही बन आती थी। उसका वर्णन नहीं हो सकता। जहाँ देखिए फूल ही फूल देख पड़ते थे। पृथ्वी, मकान, आकाश पुष्पमय हो रहा था। नवाभिषिक्त राजा और रानी, दोनों एकही सवारी पर, उसी सुसज्जित मार्ग से बकिंहम महल को वापस गये। जिस शाही 'कोच' (गाड़ी) पर वे सवार थे उसमें इस तरह काँच लगे हैं जिसमें प्रजाजन तीन तरफ़ से राज-दम्पती के दर्शन कर सकें। महाराज की पोशाक शुभ्र थी। सिर पर सुनहरी मुकुट था। रत्नराशि से आप अलङ्कृत थे। महारानी के दक्षिण भाग में आप आसीन थे। आपके दाहने हाथ में राजदण्ड था। महारानी के मुकुट से बहुमूल्य रत्नों की किरणें अपनी प्रभा दूर दूर तक विस्तार कर रही थीं। तिलकोत्सव-सम्बन्धी उनके परिच्छद और उनका रत्नहार देखने की चीज़ें थीं, वर्णन करने की नहीं। महारानी के चेहरे से जान पड़ता था कि वे कुछ थकी सी हैं, पर प्रजाजनों के हर्षनाद और जयध्वनि का उत्तर वे हँस हँस कर और झुक झुक कर देती जाती थीं। राजा जार्ज तो प्रजा के अभिवादन का उत्तर कभी कोच के इस तरफ़ से झुक कर देते थे, कभी उस तरफ़ से। इस तरह बड़ी देर में धीरे धीरे सवारी बकिंहम महल के फाटक पर पहुँची। शरीररक्षक सैन्य एक तरफ़ को गया। महाराज ने महल के भीतर प्रवेश किया। चार ही मिनट बाद महाराज और महारानी दोनों ने, उसी पोशाक में, महल के सामने, ऊपर बरामदे में, फिर दर्शन दिया। तोपों ने फिर सलामी उतारी। "परम पिता राजा की रक्षा करे"—इस प्रार्थना का वादन बैंड ने दूने उत्साह से आरम्भ किया। महल के फाटक के नीचे जल और थल सेना के समूह में प्रजाजन भी मिल गये। तीनों ने एक होकर, जी खोल कर, अभ्रभेदी जय-जय-कार किया। फ़ौजी अफ़सर और सेना के साधारण जवान, जो, अब तक परा बाँधे खड़े थे, अपनी अपनी क़तार तोड़ कर महल के फाटकों पर दौड़ आये। उन्होंने टोपियाँ उतार कर अपनी रफलों पर रक्खीं और बड़े उत्साह से उनको वे हिलाने लगे। इस हार्दिक हर्ष-प्रकाशन और इस भक्तिप्रकर्ष को देख कर महाराज और महारानी दोनों गद्गद् हो गये। वे बरामदे में कुछ और आगे बढ़ आये और बार बार उस तुमुल जयध्वनि का अभिनन्दन किया।

राज्याभिषेक की रात को लन्दन के मकानों, दूकानों, बाज़ारों और सड़कों की शोभा और सजावट का यथेष्ट वर्णन करना असम्भव है। उसका अनुमान शाब्दिक वर्णन से नहीं हो सकता।

२३ जून को महाराज और महारानी का जुलूस लन्दन की ख़ास ख़ास सड़कों से होकर निकला। २४ जून को महाराज और महारानी ने जहाज़ी बेड़े का मुलाहज़ा किया। २७ जून को बकिंहम राज-भवन में उन्होंने छः हज़ार मेहमानों को प्रीति-भोज दिया। ३० जून को अपने क्रिस्टल राजप्रासाद में उन्होंने कोई एक लाख छोटे छोटे बच्चों को नाना-प्रकार के स्वादिष्ट भोजन कराये। यह सब हो चुकने पर राजदम्पती ने आयरलैंड और स्काटलैंड में

घूमने के लिए लन्दन से प्रस्थान किया। विस्तार-भय से मैं इन सबका वर्णन नहीं करता।

सेन्ट निहालसिंह।

सन्देश।

(हिन्दी के दूसरे साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखित)

(१)

सुनिए सब सज्जन, विद्वज्जन, प्रिय-हिन्दी-भाषा-भाषी,
पूज्य, पवित्र, मातृभाषा की उन्नति के अति अभिलाषी।
प्रबल प्रेरणा से हिन्दी की यहाँ आज मैं आया हूँ ;
उसका ही सन्देश आपको स्वल्प सुनाने लाया हूँ ॥

(२)

हिन्दी ने सेवक-समूह में महा तुच्छ मुझको जाना ;
इससे यह सन्देश भेजने योग्य मुझी को अनुमाना।
आप बड़े हैं, बड़े काम सब कर, साधें उसका परमार्थ ;
मैं सन्देश-वहन करके ही हो जाऊँगा आज कृतार्थ ॥

(३)

छोटे हों या बड़े, काम जो करके कुछ दिखलाते हैं ;
वही लोग अपने स्वामी के सत्सेवक कहलाते हैं।
यही सोच, सङ्कोच छोड़ सब, माना मैंने यह आदेश ;
अब मेरी खिचड़ी भाषा में सुनिए हिन्दी का सन्देश ॥

(४)

अर्थ यथार्थ मातृभाषा का यदि तुम सबने जाना है ;
मेरे अन्तर्गत भावों को यदि तुमने पहचाना है।
तो तुम निःसन्देह करोगे मुझसे सुत-समान व्यवहार;
मेरी सकल आपदाओं का होगा भी अवश्य संहार ॥

(५)

इस जड़-जङ्गम जग में सब के दिन न एक से जाते हैं ;
दुःख भोगने पर निश्चय ही सुख के भी दिन आते हैं।
माता के सुख-दुःख किन्तु सब होते सन्तति के स्वाधीन ;
चाहे भिखारिनी वह कर दे, चाहे उच्चासन-आसीन ॥

(६)

या तो मुझे मातृभाषा तुम कहना दो इस दिन से छोड़ ;
मेरा शब्द न मुँह पर लावो अँगरेज़ी सीखो सर तोड़।
या मेरी दुर्दशा देख कर कुछ तो मन में शरमाओ ;
जो कहती हूँ उसे करो तुम; अब तो मुझको अपनाओ ॥

(७)

वैमनस्य आपस का, ईर्ष्या, मत्सर, और दुराग्रह, द्वेष—
परित्याग पहले इनका कर कर लो मन निर्मल निःशेष।
ऐसा करने से सम्मेलन दूनी शोभा पायेगा ;
मेरे बहुत विशेष कार्य्य भी यह करके दिखलायेगा ॥

(८)

करो वही प्रस्ताव "पास" तुम जिनसे हो कुछ मेरा काम ;
रहने दो तुम, बहुत हो चुका, अपना वाद-विवाद तमाम।
मेरे इस जर्जर शरीर की बार बार कर लेना याद ;
लक्ष्य उसी पर रखना; अपना करना नहीं वक्त बरबाद ॥

(९)

एक लिखी है, या एकादश पुस्तक—यह सब व्यर्थ विचार ;
बूढ़ा है, या प्रौढ़, या युवा—यह भी निःसंशय निःसार।
जो मेरा उपकार करे कुछ वही सपूत सभापति-योग्य ;
यही देख, हर साल, सम्मिलन-समय समझना योग्य-अयोग्य ॥

(१०)

कोई क्यों न सभापति हो, क्या वह न तुम्हारा भाई है ?
पिशाचिनी ईर्ष्या इन बातों में भी हाय समाई है !
दूर करो अपने मन से तुम ऐसे अति अनुदार विचार ;
दया करो, होने भी दोगे मुझ अभागिनी का उद्धार ॥

(११)

आज ईद; कल बक़.-ईद है, परसों घट-स्थापना योग ;
होली और दिवाली का भी लगा तुम्हारे पीछे रोग।
जितनी हैं छुट्टियाँ सभी तुम त्योहारों ही पर पाते ;
खेल-कूद, पूजा-अर्चा की उनमें तुम सब ठहराते ॥

(१२)

बतलाओ अब तुम्हीं, सु-अवसर और कौन सा पावोगे ?
सम्मेलन की छुट्टी क्या तुम बड़े लाट से लावोगे ?
धर्म्म करो, त्योहार मनावो, मुझको कुछ भी नहीं विषाद ;
पर इतना तो बतला दो तुम, पाऊँगी कब तुमसे दाद ॥

(१३)

यदि घर में सुत-सुता किसी के, आने पर कोई त्योहार
महा-भयङ्कर-व्यथा-व्यथित हो लगें मचाने हाहाकार।
तो क्या घर ही बैठ रहोगे करते निज वार्षिक व्यापार ;
या नङ्गे पावों दौड़ोगे किसी वैद्य-विद्यानिधि-द्वार ॥

(१४)

कितना कष्ट तुम्हें मिलता है उँगली जो कट जाती है ;
मेरा तो सब अङ्ग गलित है; पीड़ा प्रबल सताती है ।
ऐसे में भी जो इलाज का अवसर ढूँढ़ोगे प्यारे,
तो मैं यही कहूँगी, मेरे सुत न शत्रु हो तुम सारे ॥

(१५)

वाणी की पूजा करते हो ; क्या मैं उसका अंश नहीं ?
मृतवत् मुझे पड़ी रखने में क्या स्वधर्म्म विध्वंस नहीं ?
फिर क्यों तुम सम्मिलन-कार्य्य में पखें अनेक लगाते हो ?
अत्याचार घोर मुझ पर कर बातें व्यर्थ बनाते हो ॥

(१६)

आर्त्त जनों के परित्राण से धर्म्म किस तरह जाता है ?
क्या कर्तव्य-विमुख होना ही परम धर्म्म कहलाता है ?
भरत-भूमि के धर्म्मज्ञों का यदि ऐसा ही धर्म्म-ज्ञान—
व्याकुल, व्यथित जनों की तो फिर क्या गति होगी हे भगवान !

(१७)

यदि तुम कहो शीघ्रता क्या है ? क्यों इतना घबराती हो ?
क्यों कातरतापूर्ण कण्ठ से इतना शोर मचाती हो ?
तो मैं अपनी करुण-कथा का तुम्हें सुना देती हूँ सार ;
सम्भव है उससे हो आवे तुममें दया-दृष्टि-सञ्चार ॥

(१८)

जब देखती और बहनों को किये हुए सुन्दर शृङ्गार,
बहु-वैभव-मद से मतवाली, मृदु मुसकाती, सालङ्कार ।
तब जो गति मेरी होती है; कुछ मत पूछो उसका हाल ;
फटती यदि पृथ्वी प्रयाग की मैं जाती तुरन्त पाताल ॥

(१९)

कई करोड़ बोलने वाले हैं मेरे भारतवासी ;
हतभागिनी हाय तिस पर भी मरती मैं भूखी, प्यासी !
जो सुदृष्टि इन नर-रत्नों की मेरी ओर न जाती है,
विश्वम्भर ! तो क्या तुमको भी मुझ पर दया न आती है ?

(२०)

दुख-दारिद्र भोग करने से अच्छा ही मर जाना है:—
कवि के इस कठोर कहने को मैंने तो सच माना है ।
जीती हूँ, परन्तु, आशा-वश, बड़े कष्ट से किसी प्रकार,
नहीं तरस तुमको आता है क्या कुछ भी हे प्राणाधार !

(२१)

यद्यपि तुम विरक्त हो मुझ से ; नहीं फटकने देते पास ;
मैं तुम से अनुरक्त पूर्ववत्; मुझे तुम्हारी ही है आस ।
ऐसी निःसहाय अबला को यदि तुम और सतावोगे ,
न्यायी नारायण को अपना मुँह कैसे दिखलावोगे ॥

(२२)

जो मेरे प्रेमी, जो मेरी कभी कभी कर लेते याद ।
मत हों अप्रसन्न वे मन में उनसे मेरा नहीं विवाद ।
अपनी छोड़ पराई भाषा में आता है जिन को स्वाद ।
उन्हीं कुलिश-कर्कश हृदयों के सत्पुरुषों से है फ़रयाद ॥

(२३)

या उनसे जो मेरे दुख को कर सकते हैं कुछ कुछ दूर ;
पर जो कर तक नहीं हिलाते; रहते हैं आलस में चूर ।
अथवा उनका दोष नहीं कुछ ; यह मेरा ही पापाचार ;
ऐसे भी जिसके सपूत हों उस माता ही को धिक्कार !

(२४)

तुम में किसी किसी पर व्यापी जिस भाषा की माया है;
सच कहना किस किस ने उससे कितना लाभ उठाया है ।
उस दिन अभी मधुर मोदक कुछ पूने से जो आये थे,
कैसे थे वे ! मीठे थे क्या ! किस किस ने ले खाये थे !

(२५)

घोर घृणा तुम से जो करती, पास उसी के जाते हो !
मृत सुन कर भी नाम न लेती, उस को सदा सजाते हो ।
आते नहीं होश में, यद्यपि होता है इतना अपमान;
अधःपात का इस से बढ़ कर हो सकता क्या और प्रमाण?

(२६)

हिन्दू हो कर भी हिन्दी में यदि कुछ भी न भक्ति का लेश;
दूरदेश की भाषाओं से यदि इतना है प्रेम विशेष ।
इँगलिस्तान, अरब, फ़ारिस को तो अब तुम करदो प्रस्थान;
यहां तुम्हारा काम नहीं कुछ; छोड़ो मेरा हिन्दुस्तान ॥

(२७)

दिव्यदेव वाणी की दुहिता मैं हूँ वह हिन्दी प्राचीन,
तुलसी, सूर, बिहारी आदिक रहे भक्ति में जिसकी लीन ।
परित्याग उसका ही करके बनते हो विद्याधारी ;
ऐसी अद्भुत गुणज्ञता की बलिहारी है बलिहारी !

(२८)

कहते हो—मुझमें है ही क्या ! मुझसे कुछ न निकलता काम !
मेरे घावों पर नश्तर सा चलता है सुन यह इलज़ाम।
इसका दोष तुम्हारे ही सिर ; फिर यह कैसी उलटी बात !
जिसे जानती दुनिया सारी वह भी क्या तुमसे अज्ञात ?

(२९)

जननी, और जन्म की भाषा, जन्मभूमि सब सुख की खान—
चाहे जहां पूछ तुम देखो, तीनों का सम्मान समान।
पर तुमने मेरी उन्नति का किया न कोई कभी उपाय ;
तिस पर भी ताने देते हो ! क्यों करते इतना अन्याय !

(३०)

अन्यायी से परमेश्वर भी कभी नहीं ख़ुश होता है ;
जो कर्त्तव्य नहीं करता है वह अवश्य कुछ खोता है।
क्षमा करे वह क्षमाक्षीरनिधि ईश तुम्हारा यह अपराध ;
जीते रहो ; कभी तो मेरा दूर करोगे दुःख अगाध ॥

(३१)

संस्कृत, अरबी, और फ़ारसी, उर्दू, अँगरेज़ी सारी—
भाषाओं से प्रेम करो तुम जिसको जो जो हों प्यारी।
मना नहीं मैं करती तुमको ; पर इस दुखिया की भी याद।
कभी कभी कर लिया कीजिए ; मेरी इतनी ही फ़रयाद ॥

(३२)

बच्चे थे तुम तब से ही मैं काम तुम्हारे आती हूँ ;
पत्नी और सुता-सुत के भी मैं ही काम चलाती हूँ।
हो सकते मेरे विनाश से बन्द तुम्हारे सब व्यापार ;
नहीं अन्य भाषायें कोई कर सकतीं कुछ भी उपकार ॥

(३३)

उस मुझको ही यदि अभाग्यवश अब इस समय भुलाओगे ;
कृतघ्नता के घोर पाप से क्या तुम बच भी जाओगे ?
जो कुछ हुआ हो गया सो तो ; सोचो अब आगे की बात ;
लोक-लाज पर भी क्यों करते इतना निष्ठुर वज्र-निपात ?

(३४)

मेरे ही प्रभाव से भारत पायेगा परमोज्ज्वल ज्ञान ;
मिट अवश्य ही जायेगा यह अति अनर्थकारी अज्ञान।
गांव-गांव, घर-घर में मेरा जब प्रचार हो जायेगा ;
दुरित, दैन्य, दारिद्र, दुःख सब क्रम क्रम से घट जायेगा ॥

(३५)

जितने उन्नत देश, सभी हैं करते निज भाषा की वृद्धि ;
देख क्यों नहीं लेते उनकी कितनी है निःसीम समृद्धि।
अपना, मेरा, भारत का भी यदि चाहो कुछ भी कल्याण,
तो मेरा उद्धार करो अब ; व्याकुल हैं ये पापी प्राण ॥

(३६)

और लोग इस भारत में भी निज भाषाओं का उपकार,
देखो आंख उठा कर, कितना करते हैं सब विविध प्रकार।
उन्हें देख कर भी उत्साहित होते नहीं आप, क्या बात ?
करो न अपने ही पैरों पर महा कठोर कुठाराघात ॥

(३७)

समय नहीं, अभ्यास नहीं है, लिखना मुझे न आता है—
यह सुन मेरा कठिन कलेजा दो टुकड़े हो जाता है।
विकट विदेशी भी भाषायें लिखनेवालों के उस्ताद !
मत अब और बहाने ऐसे किया करो तुम बे-बुनियाद ॥

(३८)

इस सम्मेलन की सहायता करना काम तुम्हारा है ;
जी से मैं कहती हूँ, इससे मुझको बड़ा सहारा है।
यहां उपस्थित रह कर सोचो कोई ऐसा उच्च उपाय ;
जिससे मिले मुझे भी थोड़ा गुरुतापूर्ण ग्रन्थ-समुदाय ॥

(३९)

इसकी त्रुटियां अपनी समझो ; दोषों को अपने ही दोष ;
भाई को अपने भाई पर करना नहीं चाहिए रोष।
यदि कुछ भी गौरव रखते हो, यदि कुछ भी है तुम में जोश ;
ग्रन्थ-रत्न रच पूर्ण क्यों नहीं कर देते हो मेरा कोश ?

(४०)

सारे भारत में व्यापकता मेरी ही है यदपि विशेष ;
निःसंशय तथापि मुझको है सबसे प्यारा यही प्रदेश।
निर्दयता, निष्ठुरता कम कर, हो जाओ कुछ अधिक उदार ;
दया-द्रवित हो कर सत्वर ही कर दो अब मेरा उद्धार ॥

(४१)

विकल, आर्त्त, आतुर को होता नहीं उचित-अनुचित का ज्ञान;
यदि कटु वचन कहे हों कोई क्षमा करो हे क्षमानिधान !
अधिक क्या कहूँ मैं अब तुमसे, मेरी लाज तुम्हारे हाथ;
चाहे और झुका दो, चाहे ऊँचा कर दो मेरा माथ ॥

(४२)

हे गोविन्द दया के सागर नारायण अन्तर्य्यामी !
शरणागतवत्सल तुमसे है छिपा नहीं कुछ हे स्वामी !
सुमति और सद्बुद्धि दीजिए सबको करुणा के आगार !
जिसमें इस अभागिनी का भी हो जावे अब बेड़ा पार ॥

हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था।

[दूसरे साहित्य-सम्मेलन के लिए लिखित]

१—बीज-वपन।

हिन्दी का बीज-वपन हुए बहुत काल हुआ। परन्तु, निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि किस सन्, किस संवत् या किस समय में वर्तमान हिन्दी की आद्यावस्था का आरम्भ हुआ। इस अनिश्चय का कारण यह है कि भाषाओं की उत्पत्ति एक दिन में नहीं होती। अनेक प्राकृतिक कारणों से देश, काल और समाज की अवस्था-विशेष के अनुसार, उनमें परिवर्तन हुआ करते हैं। नई भाषायें उत्पन्न हो जाती हैं और पुरानी भाषाओं का प्रचार कम हो जाता है। कभी कभी तो पुरानी भाषायें धीरे धीरे विलय को भी प्राप्त हो जाती हैं। चन्द बरदायी ने जिस हिन्दी में पृथीराज-रासौ लिखा है उसके पहले भी हिन्दी विद्यमान थी। उस पुरानी हिन्दी के पूर्ववर्त्ती रूप भी प्राकृत भाषाओं में पाये जाते हैं और उनके भी प्राक्कालीन रूप भारत के प्राचीनतम ग्रन्थों में मिलते हैं। अतएव इस परिवर्तन-परम्परा की प्रत्येक अवस्था का ठीक ठीक पता लगाना सहज काम नहीं। हमारी हिन्दी-भाषा विकास-सिद्धान्त का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उसका क्रम-विकाश हुआ है। धीरे धीरे वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त हुई है। वह एक प्रकार से अनादि है। नहीं कह सकते कब से मानव-जाति उसके सबसे पहले रूपवाली उसकी पूर्व्ववर्त्तिनी भाषा बोलने लगी। वर्त्तमान हिन्दी की प्रथमावस्था का सबसे प्रतिष्ठित ग्रन्थ जो अब तक उपलब्ध हुआ है पृथीराज-रासौ ही है। अतएव निश्चयपूर्वक केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वर्त्तमान हिन्दी का बीज-वपन चन्द बरदायी के समय में, या उसके कुछ पहले, हुआ। चन्द के पूर्ववर्त्ती भी कुछ कवियों और उनके काव्यों का पता चलता है। पर, चन्द के और उनके स्थितिकाल में बहुत अधिक अन्तर नहीं।

२—अङ्कुरोद्भव।

बोने के अनन्तर बीज से अङ्कुर निकलता है। चन्द बरदायी आदि कवियों ने जिस बीज को बोया उससे अङ्कुर तो शीघ्र निकल आया, परन्तु पत्तियां बहुत देर में निकलीं। जिस हिन्दी में आज कल समाचारपत्र और पुस्तकें लिखी जाती हैं उसके उद्भव तक हिन्दी में प्रायः काव्य-ग्रन्थों ही की उत्पत्ति हुई। संख्यातीत ग्रन्थ बने; पर बहुत करके सब पद्यात्मक। भक्त कवियों ने अपने अपने उपास्य देवता पर कविता की। राजाश्रित कवियों ने अपने अपने आश्रयदाता की रुचि के अनुकूल शृङ्गार या वीररसात्मक काव्य निर्म्माण किये। किसी ने अलङ्कार-शास्त्र पर लिखा, किसी ने नायिकाभेद पर। सबकी प्रवृत्ति केवल कविता ही की ओर रही। सात आठ सौ वर्ष तक यही हाल रहा। हिन्दी का अङ्कुर निकला तो सही; पर वह अङ्कुर ही रहा। वह पुष्ट ज़रूर होता गया; पर उसे अपनी अगली अवस्था की प्राप्ति बहुत काल के अनन्तर हुई।

३—पत्रोद्गम।

अँगरेज़ी शासन की कृपा से जब शिक्षा का प्रचार बढ़ा और अन्य भाषाओं में अच्छे अच्छे समाचारपत्र और पुस्तकें निकलने लगीं तब हिन्दी के दो चार हितचिन्तकों का ध्यान अपनी मातृभाषा की हीनता की ओर गया। अतएव उन्होंने उसे उन्नत करने के इरादे से प्रचलित प्रणाली की हिन्दी में काव्य, नाटक और इतिहास आदि की पुस्तकें गद्य

में लिखनी और समाचारपत्र तथा सामयिक पुस्तकें निकालनी आरम्भ कीं। उस समय मानों हिन्दी के अङ्कुरित पौधे में, चिरकालोत्तर, पत्रोद्गम हुआ। जो अङ्कुर सैकड़ों वर्ष तक प्रायः एक ही रूप में था उसमें पत्तियाँ निकल आईं। इसके भी पहले यद्यपि कलकत्ते के फोर्ट-विलियम में हिन्दी की पूर्वागत अवस्था परिवर्तित करने की चेष्टा हुई थी, तथापि वह विशेष फलवती नहीं हुई। नये ढँग की दो एक पुस्तकें निकलने से ही हिन्दी का अवस्था-परिवर्तन नहीं हो सकता।

४—वर्त्तमान अवस्था।

हिन्दी के जिस नये पौधे में आज से तीस पैंतीस वर्ष पहले केवल दो चार कोमल कोमल पत्ते दिखाई दिये थे वे अब, इस समय, अनेक पल्लव-पुञ्जों से आच्छादित हैं। यद्यपि उसमें अब तक शाखा-प्रशाखाओं का प्रायः अभाव है; यद्यपि उसका तना अभी बहुत पतला और कमज़ोर है; यद्यपि उसमें फूल और फल लगने में अभी बहुत देरी है—तथापि वह बढ़ रहा है और आशा है कि किसी समय उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की पूर्ति और पुष्टि भी देखने को मिलेगी। हिन्दी की वर्त्तमान अवस्था को देख कर यही अनुमान होता है।

५—साहित्य का महत्त्व।

ज्ञान के कई विभाग किये जा सकते हैं। विश्व में जो कुछ जानने योग्य है वह कई भागों में विभक्त किया जा सकता है। ऐसे प्रत्येक भाग की शास्त्र संज्ञा है।

आकाशस्थित ज्योतिर्मय पिण्डों से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्र का नाम ज्योतिषशास्त्र है। बिजली से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र का नाम विद्युच्छास्त्र है। मानव-शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्र को शारीरिक शास्त्र कहते हैं। तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी शास्त्र दर्शन-शास्त्र कहलाता है। इसी तरह आयुर्वेद-शास्त्र, जीवाणु-शास्त्र, कृषिशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र, ज्यामिति-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र, रसायन-शास्त्र, अङ्कशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सङ्गीतशास्त्र, सम्पत्ति-शास्त्र—यहाँ तक कि कीट-पतङ्ग आदि से सम्बन्ध रखने वाला शास्त्र भी है। शारांश यह कि इस विशाल विश्व में जो कुछ है वह सब अपने अपने वर्ग या विभाग के अनुसार पृथक् पृथक् शास्त्र-सम्बन्धिनी सामग्री प्रस्तुत कर सकता है। मनुष्य की बुद्धि का जैसे जैसे विकाश होता जाता है वैसे ही वैसे ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान भी उसे क्रम क्रम से अधिकाधिक होता जाता है। ज्ञान-वृद्धि के साथ ही साथ शास्त्रों की संख्या भी बढ़ती जाती है। जिस विषय का ज्ञान जितना ही अधिक होता है उस विषय का शास्त्र भी उतना ही अधिक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण होता है। भिन्न भिन्न प्रकार का यह शास्त्रीय ज्ञान पुस्तकों में संगृहीत रहता है। उनके प्रकाशन और प्रचार से सारे देश का भी कल्याण होता है और जुदा जुदा समाज का भी। एक मनुष्य के ज्ञानार्जन या ज्ञानानुभव से अनेक मनुष्यों को तभी लाभ पहुँचता है जब पुस्तकों के द्वारा उसका प्रचार होता है। इस ज्ञान-समुदाय को संगृहीत करने और फैलाने वाली पुस्तकों के समूह का नाम साहित्य है। जिस भाषा में ज्ञान-वर्द्धक शास्त्रों और पुस्तकों की जितनी ही अधिकता होती है उस भाषा का साहित्य-भाण्डार उतना ही अधिक श्रीसम्पन्न होता है।

ज्ञानार्जन का प्रधान साधन शिक्षा है। बिना शिक्षा के मनोविकाश नहीं होता और बिना मनोविकाश के ज्ञानोन्नति नहीं होती। अतएव ज्ञान-वृद्धि के लिए शिक्षा की बड़ी आवश्यकता है। समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों से भी शिक्षा मिलती है। उनसे भी ज्ञानोन्नति होती है। इससे उन्हें भी भाषा-साहित्य का एक अङ्ग नहीं, तो एक अंश अवश्य समझना चाहिए। इन्हीं कारणों से मनोरञ्जन, समालोचन, इतिहास और जीवनचरित आदि से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें भी साहित्य के अन्तर्गत हैं। इन बातों को ध्यान में

रख कर अब यह देखना है कि हिन्दी के वर्त्तमान साहित्य की अवस्था कैसी है। हिन्दी के दूसरे साहित्य-सम्मेलन के अधिकारियों ने मुझे इसी विषय पर एक निबन्ध लिखने की आज्ञा दी है।

६—समाचारपत्र।

समाचारपत्रों और निर्दिष्ट समय में प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की संख्या से प्रत्येक देश की शिक्षा और सभ्यता की इयत्ता जानी जा सकती है। जो देश जितना ही अधिक सभ्य और सुशिक्षित होता है उसमें उतने ही अधिक पत्र और पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। शिक्षित जनों की संख्या पर ही इस प्रकार के साहित्य की अधिकता या न्यूनता अवलम्बित रहती है। हिन्दी में निकलनेवाली पुस्तकों और समाचारपत्रों की संख्या पर विचार करने से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पचीस तीस वर्ष पहले जिस अवस्था में हिन्दी थी उससे अब वह अधिक उन्नत अवस्था में है।

पत्रों और पुस्तकों की संख्या अब बहुत बढ़ गई है; विवेचनीय विषयों का विस्तार भी अधिक होगया है; भाषा भी पहले की अपेक्षा अधिक परिमार्जित और विशुद्ध हो गई है। कई एक साप्ताहिक पत्र और मासिक पुस्तकें योग्यतापूर्वक सम्पादित होती हैं। नये नये पत्र निकलते जाते हैं। सामयिक पुस्तकों की भी संख्या दिनोंदिन वृद्धि पर है। बहुत पुराने पत्रों में विशेष करके कविता, नाटक, हँसी-दिल्लगी की बातें और बहुत ही साधारण लेख और समाचार रहते थे। सामयिक पुस्तकों की भी निकृष्ट अवस्था थी। वह बात अब नहीं रही। अब बहुत कुछ उन्नति है। सम्पादक-समुदाय अपने कर्तव्य को अब पहले की अपेक्षा अधिक समझने लगा है। सुरुचि का भी अब अधिक ख़याल रक्खा जाता है, लोकशिक्षण का भी, और जनसमुदाय के हित तथा मत-बाहुल्य का भी।

परन्तु, जब हम अँगरेज़ी और एतद्देशीय अन्य समुन्नत भाषाओं के इस साहित्य की ओर देखते हैं तब हमें अपनी भाषा की हीनावस्था को देख कर दुःख और आश्चर्य होता है। दुःख का कारण तो स्पष्ट ही है। आश्चर्य का कारण यह है कि हिन्दी बोलनेवालों की संख्या इतनी अधिक होने पर भी हमारी मातृभाषा की ऐसी अनुन्नत अवस्था! इस दुरवस्था के कई कारणों में से तीन मुख्य हैं। पहला कारण लोकशिक्षा की कमी; दूसरा कारण मातृभाषा से शिक्षित जनों की अरुचि; तीसरा कारण पत्र-सम्पादकों और सञ्चालकों की न्यूनाधिक अयोग्यता है।

जितने समाचारपत्र इस समय हिन्दी में निकलते हैं उनमें से प्रायः सभी के सम्पादकीय लेखों और समाचारों के लिए, अनेक अंशों में, पायनियर, बंगाली, अमृतबाज़ारपत्रिका और ऐडवोकेट आफ़ इंडिया आदि अँगरेज़ी पत्र उत्तमर्ण का काम देते हैं। मासिक पुस्तकों का भी यही हाल है। वे भी प्रायः औरों के दिमाग़ से निकले हुए लेखों की छाया और अनुवाद से ही अपना कलेवर पूर्ण करती हैं। प्रत्येक भाषा की आदिम अवस्था में बहुत करके यही हाल होता है। अपने से अधिक उन्नत भाषाओं की सहायता से ही वे अपनी अङ्ग-पुष्टि करती हैं। इस अवस्था में धीरे धीरे परिवर्तन होता है। जैसे जैसे अधिक शिक्षित जन समाचार-पत्रों के सम्पादन-कार्य में प्रवृत्त होते हैं वैसेही वैसे परावलम्बन की प्रवृत्ति कम हो जाती है, स्वाधीन विचारों की सृष्टि होती है और सामयिक बातों की स्वतन्त्रतापूर्वक समालोचना होने लगती है। शिक्षा की कमी के ही कारण स्वावलम्बन-समर्थ योग्य सम्पादक कम मिलते हैं। अतएव समाचारपत्रों से होनेवाले लाभों को जो लोग समझते भी हैं वे भी हिन्दी के पत्रों का बहुधा इसलिए आदर नहीं करते कि वे सुचारुरूप से सम्पादित नहीं होते। आशा है, यह त्रुटि धीरे धीरे दूर हो जायगी।

कुछ लोग अँगरेज़ी भाषा और उसके जाननेवालों से द्वेष करते हैं। उन्हें उनकी प्रत्येक बात से अँगरेज़ी बू आती है। उनको जानना चाहिए कि

हिन्दी में समाचारपत्रों का निकालना हमने अँगरेज़ी जाननेवालों ही की बदौलत सीखा है। वह अँगरेज़ी शासन का ही प्रसाद है। अँगरेज़ी में इस प्रकार के साहित्य ने जितनी उन्नति की है उतनी उन्नति करने के लिए हमें सैकड़ों वर्ष चाहिए। अँगरेज़ी के समाचारपत्र-साहित्य को, अनेक बातों में, आदर्श माने बिना हिन्दी के साहित्य को हम कभी यथेष्ट उन्नत न कर सकेंगे। मेरी जड़ बुद्धि में तो सम्पादकों के लिए अच्छी अँगरेज़ी जानना आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य्य है। मैं तो यहाँ तक कहने का साहस कर सकता हूँ कि हमारे साहित्य की इस शाखा की जो इतनी हीन दशा है उसका एक कारण यह भी है कि हम, हिन्दी-लेखक, अँगरेज़ी नहीं जानते और जानते भी हैं तो बहुत कम।

७—वैज्ञानिक पुस्तकें।

'विज्ञान'—शब्द आज कल 'शास्त्र'—शब्द का पर्य्यायवाची हो रहा है। शास्त्र किसे कहते हैं, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। ज्ञान और विज्ञान कोई ऐसी वैसी चीज़ नहीं। उसकी महिमा सीमा-रहित है। संसार में सबसे अधिक महत्त्व की ज्ञेय वस्तु परमेश्वर है। वह भी ज्ञानगम्य है। ज्ञान की बदौलत ही उसका ज्ञान हो सकता है। ऐसे विज्ञानात्मा—ऐसे "निरतिशय-सर्वज्ञ-बीज" जगदीश्वर को जिसके प्रसाद से मनुष्य पहचान सकता है उसका माहात्म्य सर्वथा अकथनीय है। परन्तु, हाय! इस ज्ञानगर्भ साहित्य का हिन्दी में सर्वतोभाव से अभाव है। यह बड़े दुःख, बड़े खेद, बड़े परिताप की बात है। ज्ञान की जो अनेक शाखायें हैं—शास्त्रीय विषयों के जो अनेक भेद हैं—उनमें से एक पर भी दो चार अच्छे अच्छे ग्रन्थ हिन्दी में नहीं। एक जीव-विज्ञान-विटप, या एक पदार्थ-ज्ञान-विटप, या एक छोटा सा रसायन-शास्त्र या और भी ऐसा ही एक आध ग्रन्थ हुआ तो क्या और न हुआ तो क्या। उससे किसी ज्ञानांश के अभाव की पूर्ति नहीं हो सकती। अन्य समुन्नत भाषाओं में जिस ज्ञान या विज्ञान की एक एक शाखा पर सैकड़ों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विद्यमान हैं उसकी किसी शाखा-विशेष से सबन्ध रखनेवाली दो चार या दस पाँच छोटी मोटी पुस्तकें हिन्दी में हुईं भी तो वे न होने के बराबर हैं। जिस ज्ञानही की बदौलत ही अन्य प्राणियों में मनुष्य को श्रेष्ठता मिली है उसी ज्ञानात्मक साहित्य का हिन्दी बोलनेवाले मनुष्य नामक प्राणियों की भाषा में प्रायः पूर्णाभाव होना बड़ी ही लज्जा की बात है। गीता, सिद्धान्त-शिरोमणि, सांख्य, योग और मीमांसा आदि सूत्रों के टूटे फूटे हिन्दी-अनुवाद से इस अभाव का तिरोभाव नहीं हो सकता। इसका तिरोभाव तभी होगा जब संस्कृत और अँगरेज़ी, दोनों भाषाओं, के ज्ञानार्णव का मन्थन करके सब प्रकार के ज्ञानांश-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होगी।

८—कोश और व्याकरण।

बहुत दिनों से यह निर्घोष सुनाई दे रहा है कि हिन्दी में न तो एक अच्छा सा कोश है और न एक व्याकरण। अतएव इन दोनों की बड़ी आवश्यकता है। इनकी आवश्यकता है अवश्य, परन्तु बड़ी आवश्यकता नहीं। इनसे साहित्य के एक अङ्ग की पूर्ति अवश्य हो सकती है; पर यह बात मेरी समझ में नहीं आती कि अन्यान्य परमावश्यकीय अङ्गों की पूर्ति की अपेक्षा इस अङ्ग की पूर्त्ति के विषय में क्यों इतना ज़ोर दिया जाता है। क्या बिना इसके हिन्दी-साहित्य की थोड़ी भी पुष्टि असम्भव है? तुलसीदास, सूरदास, बिहारीलाल, पण्डित वंशीधर वाजपेयी, बाबू हरिश्चन्द्र, राजा शिवप्रसाद, पण्डित प्रतापनारायण आदि ने किस कोश और किस व्याकरण को सामने रखकर ग्रन्थ-रचना की है? हिन्दी के सौभाग्य से उसमें एक अच्छा वैज्ञानिक कोश वर्तमान है। उसे बने कई वर्ष हुए। उसकी सहायता से आज तक कितने वैज्ञानिक ग्रन्थों की सृष्टि हिन्दी में हुई है! बँगला और मराठी में वैसा कोई कोश नहीं। तथापि इन भाषाओं की पुस्तकें बेचने वाले किसी भी प्रति-

ष्ठित दुकानदार या प्रकाशक के यहाँ प्राप्य पुस्तकों की सूची यदि आप देखेंगे तो आपको अनेक वैज्ञानिक पुस्तकों के नाम मिलेंगे। इससे सिद्ध है कि यह काम आरम्भ में बिना कोश की सहायता के भी हो सकता है। हिन्दी-साहित्य अभी अत्यन्त हीनावस्था में है। उसकी एक भी शाखा अभी तक नाम लेने योग्य समृद्ध नहीं। और, किसी भी बृहत्कोश में साहित्य की सब शाखाओं के शब्द होने चाहिए। अतएव, जब सब प्रकार के शब्दों की सृष्टि ही नहीं हुई तब बहुत बड़ा और पूर्ण कोश कैसे बन सकेगा ? अनेक महत्त्व-पूर्ण शब्दों के उदाहरण कहाँ से आवेंगे ? इस दशा में यदि कोई कोश बनेगा भी तो उसमें संख्यातीत शब्दों की कमी रह जायगी। जब उन शब्दों की सृष्टि होगी तब या तो एक नया ही कोश बनाना पड़ेगा या पुराने कोश का सर्वाङ्गीण संशोधन करना पड़ेगा।

यही हाल व्याकरण का भी है। बिना एक बहुत बड़े व्याकरण के भी हिन्दी के साहित्य की वृद्धि में, अभी इस समय, विशेष बाधा नहीं उपस्थित हो सकती। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य ऐसा है जो न तो हिन्दी का अच्छा व्याकरण ही जानता है और न उसके पास हिन्दी का कोई अच्छा सा कोश ही है। परन्तु हिन्दी उसकी मातृभाषा है। वह अपने घर में अपने कुटुम्बियों से हिन्दी में ही बात-चीत करता है। उसे यह लिखना है कि—"प्रातःकाल सूर्योदय सदा पूर्व में होता है।" कोश और व्याकरण से अच्छा परिचय न होने के कारण, सम्भव है, वह इस वाक्य को इस तरह लिखेः—

(१) सूरज हमेशा पूरब में निकलता है—या

(२) सूर्य सदा पूर्व में उदय होता है—या

(३) सूरज का उदय हमेशा पूर्व की तरफ़ होता है—या

(४) सूर्य रोज़ पूर्व से उदय होता है—या

इस भाव को वह किसी और ही तरह प्रकट करे। परन्तु वह चाहे जैसे शब्द प्रयोग करे और व्याकरण की दृष्टि से उसका वाक्य चाहे जितना अशुद्ध हो उसके कहने का मतलब सुननेवाला अवश्य समझ लेगा। यह तो सम्भव ही नहीं कि वह इस वाक्य को इस तरह लिखे :—

में है होता सूरज पूरब उदय हमेशा।

फिर कैसे कोई कह सकता है कि बिना उत्तम कोश और व्याकरण के हिन्दी का काम इस समय नहीं चल सकता ? लिखने का एक मात्र प्रयोजन यही है कि लेख का भाव पढ़नेवाले की समझ में आ जाय। यदि मतलब समझ में आ गया तो लिखने का प्रयोजन सिद्ध हो गया। अतएव व्याकरण और कोश अच्छी तरह न जानने पर भी मन का भाव औरों पर प्रकट किया जा सकता है। हिन्दी के वैयाकरणों की राय है कि मैं व्याकरण नहीं जानता। यदि जानता तो रामायण, महाभारत, लोटा, सोंटा आदि शब्दों के लिङ्ग-प्रयोग में मुझसे भूलें न होतीं और जो कुछ मैं लिखता शुद्धतापूर्वक लिखता। हिन्दी के व्याकरण से इतना अनभिज्ञ होने पर भी मेरे इस लिखने या कहने का मतलब, सच कहिए, आपकी समझ में आता है या नहीं। यदि आता है तो आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि व्याकरण और कोश में उत्तमतापूर्वक पारङ्गत हुए बिना भी समझने लायक़ हिन्दी लिखी जा सकती है।

हिन्दी के व्याकरण और कोश से विशेष लाभ वही उठा सकते हैं जिनकी जन्मभाषा हिन्दी नहीं। सरकारी कचहरियों और दफ़्तरों के अफ़सरों और अधिकांश कर्मचारियों का भी हिन्दी के बृहत्कोश से बड़ा काम निकल सकता है। हिन्दी लिखनेवालों का काम तो, इस समय, उन्हीं कई एक छोटे मोटे व्याकरणों और कोशों से निकल सकता है जो हिन्दी में वर्त्तमान हैं। जो हिन्दी लिखना या पढ़ना बिल्कुल ही नहीं जानते उनकी बात जुदी है। उनका काम बिना कोश और व्याकरण के चाहे न भी चल सके; पर जो साधारण हिन्दी जानते हैं उनका काम अवश्य चल सकता है। विशुद्ध, सरस और आलङ्कारिक भाषा लिखने के लिए कोश और व्याकरण का अच्छा ज्ञान अवश्य अपेक्षणीय है।

परन्तु ऐसी भाषा लिखने का यही एक साधन नहीं। उसके लिए अभ्यास और पुस्तकावलोकन की भी आवश्यकता है। कोश और व्याकरण रट कर कोई अच्छा लेखक नहीं हो सकता।

मेरे इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि हिन्दी में सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण और कोश न बनें। अवश्य बनें। उनके बनने से हिन्दी-साहित्य के एक अङ्ग की अवश्य पुष्टि होगी और हिन्दी लिखने और सीखनेवालों को लाभ भी होगा। मेरे कहने का मतलब सिर्फ़ इतना ही है कि बिना एक बृहत्कोश और बृहद्-व्याकरण के भी वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य के अन्यान्य आवश्यकीय अङ्गों की साधारण उन्नति हो सकती है।

९—इतिहास और जीवनचरित।

हिन्दी-साहित्य के किस किस अङ्ग की कमी पर खेद प्रकट किया जाय? एक भी अङ्ग तो परिपुष्ट नहीं। साहित्य में इतिहास का आसन बहुत ऊँचा है। हिन्दी में ऐतिहासिक पुस्तकों का यद्यपि सर्वथा अभाव नहीं, तथापि नाम लेने योग्य दस पाँच भी ऐसी पुस्तकें हिन्दी में नहीं। मिस्टर आर० सी० दत्त ने भारतीय सभ्यता का जो इतिहास अँगरेज़ी में लिखा है उसका अनुवाद, टाड साहिब के राजस्थान का अनुबाद, और देहली के मुसलमान बादशाहों के राजत्वकाल से सम्बन्ध रखनेवाले दो एक फ़ारसी-ग्रन्थों के भी अनुवाद उल्लेख-योग्य हैं। पृथीराजरासौ पुरानी हिन्दी में है और पद्यात्मक है। वह यदि इतिहास कहा जा सकता हो तो उसकी भी गिनती साहित्य की इस शाखा के अन्तर्गत हो सकती है। हाँ, सोलङ्कियों का इतिहास अवश्य नाम लेने योग्य है। वह बड़ी खोज और श्रम से लिखा गया है। इनके सिवा और भी कुछ ऐतिहासिक पुस्तकें हिन्दी में हैं। परन्तु हिन्दी बोलने वालों की संख्या और हिन्दी-भाषा की व्यापकता का विचार करने से दो चार या दस पाँच ऐतिहासिक पुस्तकों का होना बड़ी बात नहीं। जिस उर्दू के बोलनेवालों और पक्षपातियों की संख्या हिन्दी बोलनेवालों के मुक़ाबले में बहुत ही कम है उसमें दस दस पन्द्रह पन्द्रह जिल्दों वाले भारतीय इतिहास बन जायँ और हिन्दी में हज़ार पाँच सौ पृष्ठों का भी एक अच्छा इतिहास न बने यह हम लोगों के लिए बड़ी ही लज्जा की बात है।

जीवनचरित भी साहित्य की एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण शाखा है। इस शाखा के ग्रन्थ छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, सब की समझ में आ सकते हैं। सबको उनसे लाभ भी पहुँचता है और साथ ही मनोरञ्जन भी होता है। न ऐसे ग्रन्थों का आशय समझने के लिए विशेष चिन्तन की आवश्यकता होती है और न विशेष विद्वत्ता की। ऐसे सुखपाठ्य, मनोरञ्जक और सर्व-जनोपयोगी साहित्यांश की कुछ ही पुस्तकें हिन्दी में हैं। उनको भी बने अभी कुछ ही समय हुआ और वे भी अच्छी तरह खोज और विचारपूर्वक नहीं लिखी गईं। बँगला में माइकेल मधुसूदन दत्त और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के जैसे चरित हैं वैसा एक भी जीवनचरित हिन्दी में नहीं। अँगरेज़ी में बासवेल-कृत डाकृर जान्सन का और लार्ड—मार्ले—कृत मिस्टर ग्लैडस्टन का जीवनचरित इस शाखा के आदर्श ग्रन्थ हैं। हिन्दी में ऐसे ग्रन्थ निकलने के लिए अभी बहुत समय दरकार है। परन्तु अँगरेज़ी शिक्षा पाये हुए हिन्दी-भाषा-भाषी दो चार सज्जन भी यदि हिन्दी लिखने का अभ्यास करें तो छोटे मोटे अनेक जीवनचरित थोड़े ही समय में तैयार हो सकते हैं। हिन्दी की कई मासिक पुस्तकों में प्रसिद्ध पुरुषों के जीवनचरित नियमपूर्वक निकलते हैं। उन्हें लोग बड़े चाव से पढ़ते हैं, यह मैं अपने निज के अनुभव से कह सकता हूँ। इससे यह सूचित है कि इस साहित्य को लोग पसन्द करते हैं। अतएव यदि अच्छे अच्छे जीवनचरित प्रकाशित हों तो उनसे लेखक, प्रकाशक और पाठक सभी को लाभ पहुँच सकता है।

१०—पर्य्यटन-विषयक पुस्तकें।

देश-दर्शन और पर्य्यटन-विषयक पुस्तकें भी साहित्य की एक अङ्ग हैं। उनसे बहुज्ञता बढ़ती है।

उन्हें पढ़ने में भी मन लगता है। जो देश या जो स्थान जिसने नहीं देखा उसका वर्णन पढ़ कर उसे तत्सम्बन्धिनी अनेक नई बातें मालूम हो सकती हैं। हिन्दी में इस विषय का एक बहुत अच्छा ग्रन्थ है। उसके कई भाग हैं। लेखक ने भारत के अनेक प्रान्तों में स्वयं भ्रमण कर के इस पुस्तक की रचना की है। इसके सिवा चीन, जापान और इँगलैंड की जिन लोगों ने सैर की है उनमें से भी दो एक हिन्दी-हितैषियों ने अपनी यात्रा का वर्णन हिन्दी में पुस्तकाकार प्रकाशित किया है। इस विषय की और भी दो एक पुस्तकें निकली हैं। पर इस अङ्ग की पुष्टि के लिए इतनी पुस्तकें समुद्र में एक बूँद के बराबर हैं। अनेक भारतवर्षीय युवक प्रति वर्ष विदेश-यात्रा करते हैं। यदि उनमें से दो एक भी अपनी यात्रा का वर्णन हर साल प्रकाशित करें तो साहित्य के इस अङ्ग की बहुत शीघ्र उन्नति हो जाय। परन्तु, बड़े दुःख की बात है कि ऐसे यात्रियों या प्रवासियों में से जो सज्जन हिन्दी से प्रेम रखते हैं और विदेश से हिन्दी में लिख लिख कर लेख भी भेजने की कृपा करते हैं वे जब इस देश को लौटते हैं तब औरों की तो बात ही नहीं, वे भी हिन्दी लिखने से पराङ्मुख हो जाते हैं।

११—काव्य और नाटक।

हिन्दी के साहित्य में काव्यों का बाहुल्य है। अनेक अच्छे अच्छे काव्य हैं। अनन्त काव्य-ग्रन्थ तो अब तक अप्रकाशित अवस्था में ही पड़े हैं। सर्वाधिक संख्या शृङ्गार-रस-प्रधान काव्यों की हैं; उससे कम भक्त कवियों के काव्यों की; उससे भी कम वीर-रस के काव्यों की। फुटकर विषयों के काव्य भी बहुत हैं। यह सब पुराने काव्यों की बात हुई। वर्तमान समय में जो काव्य हिन्दी में निकले हैं या निकल रहे हैं उनमें से कुछ बिरले कवियों की कृतियों को छोड़ कर शेष को काव्य या कविता कहते सङ्कोच होता है। आज कल कवियों की संख्या बहुत बढ़ रही है। परन्तु जिस तरह के काव्य प्रकाशित होते हैं उनसे विशेष लाभ नहीं। 'रङ्ग में भङ्ग' और 'जयद्रथ-वध' की कक्षा के काव्यों की इस समय आवश्यकता है। काव्यों की भाषा ऐसी होनी चाहिए जो सबकी समझ में आ जाय—चाहे वह बोल-चाल की भाषा हो चाहे व्रज की भाषा। व्रज-भाषा न जानने या न लिखने वालों को शाखामृग कहने का अब समय नहीं। काव्यों की रचना और उनका विषय ऐसा होना चाहिए जो देश और काल के अनुकूल हो। पढ़नेवाले के हृदय पर कविता पाठ का कुछ असर होना चाहिए; उससे सदुपदेश मिलना चाहिए; और कुछ नहीं, तो थोड़ी देर के लिए प्रमोदानुभव तो अवश्यही होना चाहिए। भारत में अनन्त आदर्श-नरेश, देश-भक्त, वीर-शिरोमणि और महात्मा हो गये हैं। हिन्दी के सुकवि यदि उन पर काव्य करें तो बहुत लाभ हो। पलाशी का युद्ध, वृत्रसंहार, मेघनाद-वध और यशवन्तराव महाकाव्य की बराबरी का एक भी काव्य हिन्दी में नहीं। वर्तमान कवियों को इस तरह के काव्य लिख कर हिन्दी की श्रीवृद्धि करनी चाहिए।

बाबू हरिश्चन्द्र के कई काव्य और अनुवाद बहुत अच्छे हैं। राजा लक्ष्मणसिंह-कृत मेघदूत का अनुवाद भी प्रशंसा के योग्य है। संस्कृत-काव्यों के जो और अनेक अनुवाद हिन्दी में हुए हैं वे उतने अच्छे नहीं। गोल्डस्मिथ के "हरमिट" का अनुवाद एकान्तवासी योगी भी अच्छा है। पुराणादि के जो अनेक अनुवाद हिन्दी में हुए हैं उनसे हिन्दी-साहित्य को लाभ अवश्य हुआ है। पर उन में पंडिताऊ ढँग वाले अनुवादों की भाषा संशोधन-योग्य है।

कुछ नाटकों को छोड़ कर हिन्दी में अच्छे नाटक भी नहीं। इन 'कुछ' में से अर्द्धाधिक तो संस्कृत तथा कई अन्य भाषाओं के नाटकों के अनुवाद मात्र हैं। समाज की भिन्न भिन्न अवस्थाओं और दृश्यों का जैसा अच्छा चित्र अभिनय द्वारा दिखाया जा सकता है। वैसा अच्छा और किसी तरह नहीं। अभिनय के लिए ही नाटकों की रचना होती है। परन्तु, हिन्दी में नाटक के नाम से इस समय जो अनेक पुस्तकें वर्तमान हैं उन में अधिकांश का ठीक ठीक अभिनय ही नहीं हो सकता। जो अच्छा कवि है, जिसने अनेक अभिनय

देखे हैं, जो अभिनय-स्थल और नेपथ्य की रचना आदि से परिचित है, जो मनुष्य-स्वभाव और मानवी मनोविकारों का ज्ञाता है वही अभिनय करने योग्य अच्छे नाटकों की रचना कर सकता है। जो नाटक आज कल इन प्रान्तों में नाटक-कम्पनियों के द्वारा खेले जाते हैं वे प्रायः उर्दू में हैं। उनमें दिखलाये जाने वाले सामाजिक चित्र बहुधा अच्छे नहीं। उन्हें देख कर दर्शकों की—विशेष करके युवकों की—चित्त-वृत्ति के कलुषित होने का डर रहता है। अतएव योग्य लेखकों के द्वारा हिन्दी में अच्छे अच्छे नाटकों के लिखे जाने की बड़ी आवश्यकता है।

१२—उपन्यास।

ख़ुशी की बात है, हिन्दी-साहित्य का यह अङ्ग दिन पर दिन पुष्ट होता जा रहा है। यद्यपि हिन्दी में अच्छे उपन्यास, ढूँढ़ने से, दस ही पाँच निकलेंगे—यद्यपि हमारा साहित्य बुरे उपन्यासों के लिए बदनाम सा हो रहा है—तथापि उपन्यासों का अधिक प्रकाशित होना हिन्दी के उत्थान का शुभ लक्षण है। उपन्यासों ही की बदौलत हिन्दी-पाठकों की संख्या में विशेष वृद्धि हुई है। उपन्यास चाहे जासूसी हों, चाहे मायावी, चाहे तिलिस्मी, विशेष करके कम उम्र के पाठकों को उन्होंने हिन्दी पढ़ने की ओर अवश्य आकृष्ट किया है। हिन्दी के उपन्यासों का अधिकांश अन्य भाषाओं के उपन्यासों का अनुवाद मात्र है। अतएव दुःख इस बात का है कि यदि अनुवाद ही करना था तो चुन चुन कर अच्छी अच्छी पुस्तकों का ही अनुवाद क्यों न किया गया। परन्तु, जब किसी भाषा का उत्थान होता है तब सुरुचि की ओर एक दम ध्यान नहीं जाता। यह काम धीरे धीरे होता है। बंकिम बाबू और रमेशचन्द्रदत्त के उपन्यासों को आदर्श मान कर हमें उसी तरह के उपन्यासों से हिन्दी-साहित्य को अलङ्कृत करना चाहिए। इनके कई उपन्यासों के अनुवाद हिन्दी में हो भी चुके हैं। और विषयों की पुस्तकों की अपेक्षा उपन्यासों के पढ़नेवालों की संख्या अधिक हुआ करती है। अतएव अच्छे उपन्यासों से बहुत लाभ और बुरे उपन्यासों से बहुत हानि होने की सम्भावना रहती है। उपन्यासों में समाज के ऐसे चित्र होने चाहिए जिनसे दुराचार की वृद्धि न होकर सदाचार की वृद्धि हो। इस बात पर भी ध्यान रखना चाहिए कि कहानी बनावटी या अतिप्रकृत न जान पड़े। यदि कहानी की घटनायें स्वाभाविक होंगी तभी पाठकों के चित्त पर उनका असर होगा और समझदार पाठकों का जी भी तभी पढ़ने में लगेगा। इन गुणों से पूर्ण कहानी लिखना कोई सरल काम नहीं। इसके लिए बड़ी योग्यता चाहिए। आज कल हिन्दी में जो कहानियाँ निकलती हैं उनके अच्छे न होने का कारण स्पष्ट है। योग्य लेखकों को चाहिए कि उपन्यास-रचना को ओछा काम न समझ कर अच्छे अच्छे उपन्यासों से समाज और साहित्य दोनों का कल्याण-साधन करें।

१३—समालोचना।

वर्त्तमान हिन्दी-साहित्य में समालोचनाओं की कमी नहीं। कोई समाचारपत्र, कोई सामयिक पुस्तक, ऐसी नहीं जिसमें समालोचनायें न निकलती हों। परन्तु उनको समालोचना कहना भूल है। वे विज्ञापन मात्र हैं। और, जो लोग समालोचना के लिए पुस्तकें भेजते हैं उनका आन्तरिक अभिप्राय भी बहुधा यही होता है कि इसी बहाने हमारी पुस्तक का विज्ञापन प्रकाशित हो जाय। यथार्थ समालोचनायें भी कभी कभी निकलती हैं, परन्तु बहुत कम। समालोचना साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है। उससे बड़े लाभ हैं। योग्य समालोचक अपनी समालोचना में समालोचित ग्रन्थ के ऐसे ऐसे रहस्य प्रकट करते हैं जो साधारण विद्या-बुद्धि के पाठकों के ध्यान में नहीं आ सकते। कभी कभी तो ऐसा होता है कि ग्रन्थ-कर्त्ता के आशय को समालोचक इस विशद भाव से व्यक्त करके दिखलाता है कि स्वयं ग्रन्थ-कर्त्ता को चकित होना पड़ता है। शकुन्तला और दुष्यन्त तथा पुरूरवा और उर्वशी की कथायें

पुराणों में जिस प्रकार वर्णित हुई हैं कालिदास के नाटकों में उस प्रकार नहीं हुईं। उनमें कवि ने क्यों और कहाँ तक परिवर्तन किया है; शकुन्तला में कवि ने दुर्वासा के शाप की क्यों अवतारणा की है; मेघदूत में कवि ने यक्षही को क्यों नायक बनाया है; धारिणी और औशीनरी, प्रियंवदा और अनसूया के स्वभाव में क्या अन्तर है—ये ऐसी बातें हैं जो सबकी समझ में नहीं आसकतीं। समालोचक ऐसी ही ऐसी बातों की मीमांसा करता है और कवि के हृदय को मानों खोल कर सर्व-साधारण के सामने रख देता है। उसके गुणों को भी वह दिखाता है और दोषों को भी। बँगला में शकुन्तला-रहस्य और शकुन्तलातत्त्व आदि समालोचना-पुस्तकें ऐसी ही हैं।

दुःख है, ऐसी एक भी समालोचनात्मक पुस्तक हिन्दी में मेरे देखने में नहीं आई। हाँ, दो एक सत्समालोचनात्मक निबन्ध अवश्य मैंने देखे हैं। सच तो यह है कि ग्रन्थकार की जीवितावस्था में उसके ग्रन्थों की यथार्थ समालोचना नहीं हो सकती; अथवा यह कहना चाहिए कि होनी ही न चाहिए। इसी से पश्चिमी देशों के विद्वान् बहुधा ऐसेही ग्रन्थों की विस्तृत आलोचनायें करते हैं जिनके कर्त्ता इस लोक में विद्यमान नहीं। परन्तु, हमारी हतभागिनी हिन्दी के विलक्षण साहित्य-संसार में ऐसा करने की आज्ञा ही नहीं। जो बात अन्य उन्नत भाषाओं के साहित्यसेवी भूषण समझते हैं वही यहाँ दूषण मानी जाती है। यदि किसी प्राचीन कवि या ग्रन्थकार के ग्रन्थ की समालोचना में कोई उसके दोष दिखलाता है तो उसके लिए हिन्दी में यह कहा जाता है कि उसने उस ग्रन्थकर्त्ता को चचोर डाला; उस पर मुष्टिकाप्रहार किया; उसका अञ्जर पञ्जर ढीला कर दिया; और, सैकड़ों मन भूसी फटक कर गेहूँ का एक दाना निकाल लाया! समालोचक मूर्ख, उद्दण्ड, अभिमानी और उपहासपात्र बनाया जाता है!! बड़े बड़े शास्त्री, विशारद, उपाध्याय और आचार्य्य उसके पीछे पड़ जाते हैं और उस पर यह इल्ज़ाम लगाते हैं कि इसने पूजनीय प्राचीन ग्रन्थकारों की कीर्ति को कलङ्कित करने की चेष्टा की!!! जीवित ग्रन्थकारों के ग्रन्थों की समालोचना करना और प्रसङ्गवश उनके दोष दिखाना मानों उन्हें अपना शत्रु बनाना है; और परलोकवासी कवियों या लेखकों की पुस्तकों के प्रतिकूल कुछ कहना उनकी यशोराशि पर धब्बा लगाना है। इस "उभयतः पाशारज्जुः" की दशा में भगवान् ही हिन्दी-साहित्य की इस शाखा की उत्पत्ति और उन्नति की कोई युक्ति निकाले तो निकल सकती है।

१४—फुटकर विषयों के ग्रन्थ।

साहित्य की जिन शाखाओं का नामोल्लेख ऊपर किया गया उनके सिवा पुरातत्त्व, भूगोल, भवन-निर्म्माण, नौकानयन, शिक्षण, व्यापार-वाणिज्य आदि और भी कितनी हो शाखायें हैं जिन पर अन्यान्य उन्नत भाषाओं में शतशः ग्रन्थों की रचना हुई है। तदतिरिक्त फुटकर विषयों के भी अनेक ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इन शाखाओं और विषयों की बहुत ही थोड़ी पुस्तकों को छोड़ कर उल्लेख-योग्य अधिक पुस्तकें मेरे देखने में नहीं आईं।

१५—भाषा।

विषय के अनुसार भाषा में बहुत कुछ भेद हो सकता है। जैसा विषय हो, और जिस श्रेणी के पाठकों के लिए पुस्तक लिखी गई हो, तदनुसार ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। बच्चों और साधारण जनों के लिए लिखी गई पुस्तकों में सरल भाषा लिखी जानी चाहिए। प्रौढ़ और विशेष शिक्षित जनों के लिए परिष्कृत और आलङ्कारिक भाषा लिखी जा सकती है। वैज्ञानिक ग्रन्थों में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। अतएव उनमें कुछ न कुछ क्लिष्टता आ ही जाती है। वह अनिवार्य्य है। मैं तो सरल भाषा के लेखक को ही बहुत बड़ा लेखक समझता हूँ। लिखने का मतलब औरों पर अपने मन के भाव प्रकट करना है। जिसका मनोभाव जितने ही अधिक लोग समझ सकेंगे उसका प्रयत्न

और परिश्रम उतना ही अधिक सफल हुआ समझा जायगा। जितने बड़े बड़े लेखक हो गये हैं प्रायः सभी सीधी सादी और बहु-जन-बोधगम्य भाषा के पक्षपाती थे।

आज कल कुछ लेखक तो ऐसी हिन्दी लिखते हैं जिसमें संस्कृत-शब्दों की प्रचुरता रहती है। कुछ संस्कृत, अँगरेज़ी, फ़ारसी, अरबी सभी भाषाओं के प्रचलित शब्दों का प्रयोग करते हैं। कुछ विदेशीय शब्दों का बिलकुल ही प्रयोग नहीं करते; ढूँढ ढूँढ कर ठेठ हिन्दी-शब्द काम में लाते हैं। मेरी राय में शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे प्रचलित शब्द हैं और सब कहीं बोल चाल में आते हैं तो उन्हें हिन्दी के शब्द-समूह के बाहर समझना भूल है। उनके प्रयोग से हिन्दी की कोई हानि नहीं; प्रत्युत लाभ है। अरबी-फ़ारसी के सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनको अपढ़ आदमी तक बोलते हैं। उनका बहिष्कार किसी प्रकार सम्भव नहीं।

१६—उन्नति के उपाय।

तीस चालीस वर्ष पहले हिन्दी-साहित्य की जो अवस्था थी उससे इस समय की अवस्था अवश्य अच्छी है। परन्तु इस देश की अन्य समृद्धिशालिनी भाषाओं की अपेक्षा अब भी वह अत्यन्त हीनावस्था में है। हम हिन्दीभाषाभाषियों के लिए यह बड़े ही परिताप की बात है। जैसा ऊपर, एक जगह पर, कहा जा चुका है पुस्तकों ही के द्वारा ज्ञान-वृद्धि होती है। और, जो समाज या जो जनसमुदाय जितना ही अधिक ज्ञानसम्पन्न होता है वह लौकिक और पारलौकिक, दोनों विषयों में, उतनी ही अधिक उन्नति कर सकता है। अतएव अपनी सामाजिक, नैतिक, धार्म्मिक आदि हर तरह की उन्नति के लिए सब विषयों की अच्छी अच्छी पुस्तकों की हिन्दी में बड़ी ही आवश्यकता है। हिन्दी में इसलिए कि यही हमारी मातृ-भाषा है। इसी भाषा में दी गई शिक्षा से समाज का सर्वाधिक अंश लाभ उठा सकता है। इसी भाषा में वितरण किये गये ज्ञान का प्रकाश गाँव गाँव, घर घर पहुँच सकता है। यही हमारी भाषा है; यही हमारी माताओं की भाषा है; यही हमारी बहनों की भाषा है; यही हमारे बच्चों की भाषा है। अँगरेज़ी या अन्य किसी भाषा में दी गई शिक्षा से जितना लाभ पहुँच सकता है उससे सैकड़ों गुना अधिक लाभ मातृ-भाषा में दी गई शिक्षा से पहुँच सकता है।

किसी भी भाषा में नये नये ग्रन्थ पहले ही से नहीं निकलने लगते। जैसे जैसे शिक्षा-प्रचार और ज्ञानोन्नति होती जाती है वैसे ही वैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी बनते जाते हैं। अतएव जब तक नये नये ग्रन्थ निकलने का समय न आवे तब तक हमें चाहिए कि हम अँगरेज़ी और संस्कृत आदि भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों का सरल हिन्दी में अनुवाद करके अपने देश और अपने जनसमुदाय का कल्याण-साधन करें। इन भाषाओं के साहित्य में अनन्त ज्ञान-राशि भरी हुई है। उसकी प्राप्ति से जब हम लोगों की विद्याभिरुचि और ज्ञानसम्पन्नता बढ़ेगी तब हम लोग भी नाना विषयों के नये नये ग्रन्थ लिख कर अपने साहित्य की पुष्टि करेंगे। हाँ, जो लोग इस समय भी अपनी उन्नत शिक्षा और विशद विद्या के कारण नये नये ग्रन्थ लिख सकते हैं उनके लिए भाषान्तरकार्य्य में प्रवृत्त होने की तादृश आवश्यकता नहीं। परन्तु प्रत्येक भाषा के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। अतएव भिन्न भिन्न भाषाओं के विशिष्ट ग्रन्थों के अनुवाद की आवश्यकता भी सदा बनी रहती है। अँगरेज़ी बहुत उन्नत भाषा है। परन्तु उसमें भी, अब तक, प्रति वर्ष, अन्य भाषाओं की पुस्तकों के सैकड़ों अनुवाद होते हैं।

हमारी भाषा की शिक्षा और हमारे साहित्य की उन्नति के विषय में गवर्नमेंट और विश्वविद्यालय का जो कर्तव्य है उसके पालन में यदि एक भी दोष न हो, एक भी त्रुटि न हो, एक भी भूल न हो तो भी उस मार्ग से हमारे साहित्य की सर्वाङ्गीण उन्नति नहीं हो सकती। ऐसी उन्नति का होना एक मात्र हमारे हाथ में है। उद्योग करने से हमीं अपने साहित्य

को उन्नत कर सकते हैं ग्रैार उद्योग न करने से हमीं उसे रसातल पहुँचा सकते हैं। ग्रैार प्रान्तों के राजा, महाराजा, तग्रल्लुक़ेदार ग्रैार धनी अपनी मातृभाषा के लिए लाखों रुपये ख़र्च करते हैं। वे जानते हैं कि अज्ञानों को सज्ञान करना, अशिक्षितों को शिक्षा देना, ग्रैार ज्ञान-प्रसार के प्रधान साधन उत्तमोत्तम ग्रन्थों के रचयिताग्रों को उत्साहित करना पुण्य कार्य्य है। परन्तु, बड़े दुःख की बात है, इन प्रान्तों में ऐसे एकही दो रमारमण निकलेंगे जो इस सम्बन्ध में अपना कर्तव्य-पालन करते हों। हिन्दी की वर्तमान हीनावस्था में बहुत कम लोग साहित्य-सेवा का व्यवसाय करके सुख से जीविकानिर्वाह कर सकते हैं। अतएव साहित्य-सेवकों के लिए उत्साह-दान की बड़ी आवश्यकता है।

परन्तु सबसे बड़ी आवश्यकता एक ग्रैार ही बात की है। हम लोगों में अपनी मातृ-भाषा के प्रेम की बहुत कमी है। जिन्होंने अँगरेज़ी की उच्च शिक्षा पाई है—जो संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान् हैं—वे हिन्दी का अनादर करते हैं। यदि यह इसलिए कि हिन्दी भिखारिनी है तो इसके एक मात्र उत्तरदाता हमीं हैं। इसका पाप एक मात्र हमारे ही सिर है। जो मनुष्य अपनी माता का अनादर करता है, जो मनुष्य रेशमी परिच्छद पहन कर चीथड़ों में लिपटी हुई अपनी माता की तरफ़ घृणाव्यञ्जक कटाक्ष करता है, जो मनुष्य समर्थ होकर भी अपनी माता का उद्धार आपदाग्रों से नहीं करता उसे यदि ग्रैार कुछ नहीं तो क्या लज्जा भी न आनी चाहिए? माता के बिना मनुष्य का काम केवल बाल्यावस्था में नहीं चल सकता; परन्तु मातृ-भाषा के बिना तो किसी भी अवस्था में मनुष्य का काम नहीं चल सकता। इसी से माता ग्रैार मातृभाषा की इतनी महिमा है। अतएव हमारे उच्च शिक्षा पाये हुए भाइयों को चाहिए कि वे हिन्दी लिखने ग्रैार पढ़ने का अभ्यास करें; हिन्दी के साहित्य को उन्नत करने की चेष्टा करें; हिन्दी को नफ़रत की निगाह से देखना बन्द कर दें। यदि वे इस तरफ़ ध्यान दें तो न किसी ग्रैार से कुछ कहने की आवश्यकता है, न किसी ग्रैार से सहायता माँगने की आवश्यकता है, न किसी ग्रैार से उत्साह पाने की आवश्यकता है। ग्रैार, कोई कारण नहीं कि वे अपनी भाषा की उन्नति का यत्न न करें। जिस अँगरेज़ी शिक्षा का उन्हें इतना गर्व है उसके आचार्य्य बड़े बड़े विद्वान् अँगरेज़ी क्या अपनी मातृभाषा की सेवा नहीं करते? बड़े बड़े बंगाली, मदरासी, गुजराती, महाराष्ट्र ग्रैार मुसलमान सिवीलियन तक क्या अपनी अपनी भाषाग्रों में पुस्तक-रचना नहीं करते? क्या हिन्दी-भाषा-भाषियों की उच्च शिक्षा में सुरख़ाब का पर लगा हुआ है? यदि हमें अँगरेज़ी से अतिशय प्रेम है तो हम ख़ुशी से उसमें अपने विचार प्रकट कर सकते हैं, लेख लिख सकते हैं, पुस्तक-रचना कर सकते हैं। परन्तु क्या वर्ष छः महीने में एक आध लेख भी हिन्दी में लिख डालना हमारे लिए कोई बड़ी बात है? हमें याद रखना चाहिए कि अँगरेज़ी लेखों ग्रैार पुस्तकों से समाज या देश के बहुत ही थोड़े लोगों को लाभ पहुँच सकता है। अतएव उसकी तरफ़ कम ग्रैार अपनी निज की भाषा की तरफ़ हमें विशेष सदय होना चाहिए। जिस समाज में हम उत्पन्न हुए हैं—जिस प्रान्त या देश में हमने जन्म लिया है—उसका विशेष कल्याण उसी की भाषा को उन्नत करने से हो सकता है। जिस समाज ग्रैार जिस देश की बदौलत हम सभ्य, शिक्षित ग्रैार विद्वान् हुए हैं उसे अपनी सभ्यता, शिक्षा ग्रैार विद्वत्ता से लाभ न पहुँचाना घोर कृतघ्नता है। इस कृतघ्नता के पाश से हम तब तक नहीं छूट सकते जब तक अपनी निज की भाषा में पुस्तक-रचना ग्रैार समाचारपत्र-सम्पादन करके अपनी सभ्यता, अपनी शिक्षा ग्रैार अपनी विद्वत्ता से सारे जन-समुदाय को लाभ न पहुँचावें।

आइए, तब तक हमीं लोग, अपनी अल्प शक्ति के अनुसार, कुछ विशेषत्वपूर्ण काम कर दिखाने की चेष्टा करें। 'हमीं' से मेरा मतलब, शिक्षितों के मतानुसार, उन अल्पज्ञ ग्रैार अल्पशिक्षित जनों से है जो इस समय हिन्दी के साहित्य-सेवियों में गिने

जाते हैं और जिनमें मैं अपने को सबसे निकृष्ट समझता हूँ। पिछले साहित्य-सम्मेलन ने क्या काम किया और क्या न किया, इस पर विचार करने की यहाँ, इस लेख में, आवश्यकता नहीं। उसकी तो रिपोर्ट भी अब तक मेरे देखने में नहीं आई। आवश्यकता इस समय हिन्दी में थोड़ी सी अच्छी अच्छी पुस्तकों की है। विभक्तियाँ मिला कर लिखनी चाहिए या अलग अलग; पाई, गई और आई आदि शब्दों में केवल ई-स्वर लिखना चाहिए या ई-युक्त यकार; पर-सवर्ण-सम्बन्धी नियम का पालन करना चाहिए या केवल अनुस्वार से काम निकाल लेना चाहिए—ये तथा और भी ऐसी ही अनेक बातों पर विचार करने की भी आवश्यकता है। परन्तु तदपेक्षा अधिक आवश्यकता उपयोगी विषयों की कुछ पुस्तकें लिखने की है। आइए, हम लोग मिल कर भिन्न भिन्न विषय की एक एक पुस्तक लिखने का भार अपने ऊपर लेलें; और, एक वर्ष बाद, उसकी छपी हुई या हस्त-लिखित कापी अगले सम्मेलन में उपस्थित करके यह दिखला दें कि अपनी मातृ-भाषा हिन्दी पर हमारा कितना प्रेम है और उसकी सेवा करना हम कहाँ तक अपना कर्त्तव्य समझते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अल्पज्ञता के कारण हमसे यह काम उतना अच्छा न हो सकेगा जितना अच्छा कि संस्कृत और अँगरेज़ी के पारङ्गत विद्वानों से हो सकता। परन्तु इसके लिए हमें दोष नहीं दिया जा सकता। मुझे आशा है कि हमारी दोषपूर्ण रचनाओं को देख कर, स्तन्य-पान के समय अपनी प्यारी माँ से सीखी हुई भाषा की दुर्दशा को देख कर, हिन्दी-भाषा-भाषी अँगरेज़ी और संस्कृत के विद्वानों को हम पर—और हम पर नहीं तो अपनी मातृ-भाषा पर—अवश्य दया आवेगी और वे अवश्य ही उसके उद्धार का कार्य्य आरम्भ कर देंगे। बस, मुझे अब इतनी ही प्रार्थना करनी है कि—

"अयुक्तमस्मिन्यदि किञ्चिदुक्तमज्ञानतो वा मतिविभ्रमाद्वा।
औदार्य्यकारुण्यविशुद्धधीभिर्मनीषिभिस्तत्परिमार्जनीयम्" ॥

हे हंस!

राजहंस, अवतंस बंस के, उज्ज्वल, विज्ञ, विवेक-निधान।
नीर-छीर-परखैया, दुर्लभ, सुसमालोचक, सुजन, सुजान॥
सुनो सुनो, कर्तव्य न छोड़ो, भव्य-भाव से मुड़ो न नेक।
गुण-दोषों को दिखला कर तुम अविकृत रक्खो अपनी टेक॥१॥
ये अविवेकी बक, बक बक कर, जो करते हैं तुम्हें विरक्त।
तो क्या तुम भी, अन्धभक्त बन, होगे आलस में अनुरक्त?॥
नहीं नहीं, तुम निर्भय होकर दिखलाओ सबके गुण-दोष।
क्या करतव्य-विमुख होते हैं धर्मनिष्ठ, निरपेक्ष, अदोष?॥२॥
द्विज-वृन्दों में वन्दनीय हो, सरस्वती के वाहन वीर।
पक्ष-पात ते रहित हिताहित विहित विचारो बन कर धीर॥
मानसरोवर में रहते हो, धारे हो व्रत कठिन कठोर।
सुरसुन्दरी-गमन-गौरव-गुरु, सहृदय, देखो अपनी ओर॥३॥
निन्दा करते ही रहते हैं, तुम ऐसों की, ओछे, चोर।
कुशल, कुशाग्रबुद्धि, तुम ऐसे, किन्तु न सुनते हैं वह शोर॥
सरस सुधामय पय-पायस में पानी मिला रहे हैं मूढ़।
रोको इनको, पोल खोल दो, हो अपने पद पर आरूढ़॥४॥
युक्ति-युक्त यह उक्ति, हृदय का है सच्चा उद्गार, पवित्र।
आत्मश्लाघा-दोष मान कर अस्वीकृत मत करना मित्र॥
है सम्बन्ध तुम्हारा मेरा अति समीप, अत्यन्त घनिष्ठ।
मैं हूँ कमलाकर, तट-स्थ तुम न्यायनिष्ठ गुणज्ञानगरिष्ठ॥५॥

रूपनारायण पाण्डेय
(कमलाकर)

अमेरिका-भ्रमण।

मेरी दिनचर्या।

(५)

लाई २५—प्रातःकाल सब मित्रों से मिल जुल कर मैं निकला। बिजली की गाड़ी पर सवार होकर पोर्टलेंड आया। इस समय मेरे पास छः डालर और पचहत्तर सेंट थे। सबसे पहले एक्स प्रेस कम्पनी के दफ़्तर में गया और पहनने के कपड़े का बेग सन-

फ्रांसिस्को को रवाना किया। फ्रांसिस्को यहाँ से ७७३ मील दूर है। बेग का किराया एक डालर पचीस सेंट लगा।

आज का दिन .खूब साफ़ था; बादल का नाम न था। पोर्टलेंड के बाज़ार में कुछ भीड़ देखने में आई। मैं भी उधर चला गया और एक किनारे खड़ा होकर देखने लगा। बहुत सी मोटर गाड़ियाँ जा रही थीं जिन पर W. O. W. का चिह्न था। पूछने पर पता लगा कि यह चिह्न दुनिया के लकड़िहारों का है। यहाँ उनकी एक सभा होगी। प्रत्येक रियासत के लकड़िहारों के प्रतिनिधि अपनी अपनी मोटर-गाड़ियों पर बैठे जा रहे थे। उन्हीं को लोग देख रहे थे।

वहाँ से चल कर मैं अपने एक मित्र से मिलने गया। चलते समय उनसे भेंट कर लेना उचित समझा। पर वे न मिले। एक कागज़ पर अपना प्रेमाभिवादन लिख कर उनके कमरे में मैं छोड़ आया।

इस समय साढ़े ग्यारह बज चुके थे। धूप तेज़ थी। पर मैंने ठहरना उचित न समझा। ईस्ट मारीसन नाम की गली से निकल कर जल्दी जल्दी मैंने क़दम बढ़ाया। शहर से निकलने के लिए मैंने रेल की सड़क पकड़ना ज़रूरी समझा। पोर्टलेंड से कई तरफ़ गाड़ियाँ जाती हैं, इसलिए मैंने एक भलेमानस से सन फ्रांसिस्को वाली पटड़ी पूछी। ठीक उत्तर पाकर मैंने अपना रास्ता लिया।

शहर के दक्षिणी भाग को लाँघता, गली-कूचों से होता हुआ मैं एक छोटी नहर के किनारे पहुँचा। वहाँ एक दस वर्ष का लड़का मछली पकड़ रहा था। हरियाली देख कर मैं खड़ा हो गया और लड़के से पूछाः—

"यह पटड़ी सेलम की ओर जाती है?"

"हाँ।"

"तुम कभी सेलम गये हो?"

"एक बार पापा (पिता) के साथ गया था।"

"कैसा शहर है?"

"सेलम बड़ा .खूबसूरत शहर है। वह हमारी राजधानी है। इसलिए वहाँ बहुत अच्छी अच्छी इमारतें हैं।"

मैं (क़दम उठा कर) "अच्छा चलता हूँ, मुझे दूर जाना है।"

"कहाँ?"

"फ्रिस्को।"

"फ्रिस्को! क्या ऐसे ही जावगे? गाड़ी पर क्यों नहीं चढ़ लेते?"

मैं (ज़रा हँस कर) "ऐसे ही घूमते घामते चले जायँगे।"

"मैं आपसे एक बात कहता हूँ। आप मालगाड़ी पर क्यों नहीं चढ़ जाते; उससे जाने में पैसा नहीं लगता।"

"माल गाड़ी पर कौन चढ़ने देगा?"

लड़का (मुसकुरा कर) "मैंने बहुत दफ़े होबो लोगों को चढ़ते देखा है। जब गाड़ी चलने लगती है वे चढ़ जाते हैं।"

"अच्छा, देखूँगा।"

यह कह कर मैं चला। होबो—दुनिया का पहला सबक़ इस लड़के ने दिया। इस समय मुझे इन लोगों का कुछ भी पता न था। समय आने पर मुझे भी अमेरिकन होबो लोगों की हवा लगी और उन सब बातों को देखने और करने की नौबत आई जिन को मैं उपन्यासों में पढ़ कर हैरान हुआ करता था।

आज बहुत कड़ी धूप थी। सारा बदन पसीने पसीने हो रहा था। दो बजने पर हुए। मुझे भूक ज़ोर की लगी। एक छोटा सा गाँव नज़र आया। मैं उसके पास पहुँचा। एक ग़रीब किसान के घर जाकर खाने को माँगा। वह किसान जर्मनी का निवासी था। उसको अच्छी तरह अँगरेज़ी बोलना न आता था। उसकी स्त्री, और बच्चे नीरोग और हृष्ट-पुष्ट थे। उसने मुझे आलू, रोटी, मक्खन और दूध दिया। मैंने यथेच्छ भोजन किया। पैसे देने लगा तो उसने न लिये।

उस कृषक को धन्यवाद देकर मैं बाहर निकला। उसका घर बहुत साधारण सा था—एक पुराना दो मंज़िला लकड़ी का मकान था; पर यही कृषक दो चार साल के बाद धनी हो जायगा। अभी तो नया नया इस मुल्क में आया है। अपनी पूँजी ज़मीन में लगा दी है और मेहनत करता है। धीरे धीरे परिश्रम सफल होगा और यही भूमि इसके लिए स्वर्णमयी हो जायगी।

मैं नाना प्रकार के विचारों में मग्न चला जाता था। धूप के कारण कभी कभी वृक्षों की छाया में दम लेलेता था। चलता चलता शाम के पाँच बजे मैं आरेगन सिटी में पहुँचा।

रेल की सदर्न-पेसेफ़िक लाइन पर यह एक छोटा सा क़सबा है। यह पोर्टलेंड से १५ मील पर है। इस क़सबे में भी बेंक, पुस्तकालय, वचनालय और पानी साफ़ करनेवाली एक फेक्टरी देखी। इससे इर्द गिर्द के क़सबों को शुद्ध जल मिलता है।

अमेरिका के क़सबों में अच्छे ख़ासे बाज़ार रहते हैं। सड़कों के पार्श्वपथ (Side walks) पक्के होते हैं। ज्यों ज्यों क़सबे का शहर बनता जाता है त्यों त्यों नई सड़कें और गलियाँ पक्की बनती जाती हैं। कहीं कहीं गलियों में लकड़ी के तख़्ते जोड़ कर पार्श्वपथ बनाये जाते हैं। वर्षा में इन पर चलने में बड़ा सुभीता रहता है। पैरों में कीचड़ नहीं लगती। लोग इन पर चलते हैं, और गाड़ी-घोड़े बीच सड़क पर। इस प्रकार सबके लिए सुभीता रहता है। घूमता फिरता जब मैं पानी साफ़ करने वाली कम्पनी के कारख़ाने के पास पहुँचा और वहाँ खिड़कियों से देखने लगा तो किसी ने ऊपर से मुझे ललकारा। मैंने उधर देखा। मालूम हुआ कि ऊपर की छत पर काम करने वाले मेरे इस ओर आने और देखने के विरोधी हैं और मुझको गालियाँ दे रहे हैं। ये लोग मज़दूर थे। ये परदेशियों को घृणा दृष्टि से देखते हैं। मैं तो इस समय साफ़ ही परदेशी मालूम होता था। सड़क से चला आता था; चेहरे और कपड़ों पर धूल जमी हुई थी। ख़ैर, मैं वहाँ से गालियाँ खाकर लौट आया और कमरे की तलाश में लगा।

पच्चीस सेंट पर एक कमरा मिल गया। मुँह हाथ धोकर खाने के लिए दस पैसे का कुछ ले आया। उससे क्या होता था? पर लाचारी थी। वही खाकर सोने की तैयारी कर रहा था कि इतने में घर की मालिकिन ने मेरा दरवाज़ा खटखटाया। मैंने दरवाज़ा खोला तो देखा कि आप ठंडे पानी की सुराही लिये खड़ी हैं। मैंने उन्हें बहुत धन्यवाद दिया। जब जाने लगीं तो उन्होंने मुझसे पूछा:—

"आप खाना खाने नहीं जायँगे?"

"मैं फलाहारी हूँ। मांस नहीं खाता; इसलिए होटल में जाकर क्या करूँगा।"

'होटल में आलू और दूसरी तरकारियाँ भी मिल सकेंगी।"

"हाँ, पर वे सब चरबी में डूबी रहती हैं। मुझे उनसे घृणा है।"

"अच्छा, देखो मैं कुछ खाने को लाती हूँ।"

मैंने बहुतेरा मना किया; पर वह भद्रा कब मानने वाली थी। झट कुछ आलुओं का मुरब्बा, रोटी, दूध और मक्खन ले आई और रख कर चली गई। मुझे धन्यवाद भी देने का अवसर न दिया।

मैंने घोटुये टेक भूमि पर आसन लगाया और उस सर्वशक्तिमान् करुणासिन्धु प्रभु को धन्यवाद दिया, जिसकी कृपा से मुझे ऐसी भद्रा रमणी के दर्शन हुए। प्रार्थना से निश्चिन्त होकर मैंने भोजन किया। फिर शान्तचित्त होकर शय्या पर लेटा।

जुलाई २६—प्रातःकाल साढ़े पाँच बजे उठ कर मैंने हाथ-मुँह धोये और अपना रास्ता पकड़ा। ठंडे में भ्रमण करने में बड़ा मज़ा आया। मकई, गेंहू आदि खेतों में लहलहा रहे थे। कहीं कहीं घास के खेतों में गाय, बैल आदि चरते थे। कहीं शूकर देवता अपने परिवार के साथ विहार करते देख पड़ते थे। बड़े आनन्द का समय था। आज अधिक धूप भी न थी। घूमता-फिरता मैं एक छोटी सी नदी के

किनारे पहुँचा। वहाँ एक पेड़ की छाया में बैठ गया। बहुत देर तक वहीं बैठा बैठा यहाँ के किसानों की अवस्था के साथ भारतवर्ष के किसानों की अवस्था का मिलान करता रहा। भारतीय किसानों की अवस्था पर बहुत अफ़सोस हुआ। परन्तु शीघ्र ही भाव बदल गया। मन ही मन कहने लगा—"होइ हैं बहुरि वसन्त में इन डारन वे फूल"। फिर वहाँ से उठ आगे बढ़ा। आज मैं घोड़े-गाड़ी की सड़क पर चल रहा था; क्योंकि इधर के दृश्य मनोहर थे। गर्द को दबाने के लिए इन सड़कों पर अलकतरा (Coal-Tar) छिड़का जाता है। उससे सड़कों की मिट्टी एकदम दब जाती है। गाड़ी, घोड़े चलने से भी धूल नहीं उड़ती।

आरेगन रियासत स्वाधीन है। यहाँ का हर एक प्रान्त मानो एक प्रतिनिधिसत्ताक राज्य है। लोग अपने आप बादशाह हैं। अपना प्रबन्ध आप करते हैं। अपने क़ानून आप पास करते हैं।

वहाँ से आगे बढ़ कर मैंने हीरो नामक एक आठ दस घर का गाँव देखा। उस समय बारह बज चुके थे। वहाँ एक घर के इर्द गिर्द लकड़ियों का अहाता था। उसका दरवाज़ा खोल मैं निधड़क अन्दर चला गया। घर के अन्दर नहीं, किन्तु अहाते के अन्दर। वहाँ घर के पीछे छाया में जाकर मैं एक लकड़ी पर बैठ गया। एक छोटा बालक खेल रहा था। मैंने उसे बुलाया:—

लड़का एक छोटी गुड़िया से खेल रहा था। मुझे देख कर वह डरा नहीं, किन्तु हँस कर मुझसे कहने लगा:—

"देखो मेरी गुड़िया!" ऐसा कह कर गुड़िया खींचता हुआ वह मेरे पास आया। कैसा प्यारा बच्चा था; गहरी नीली आँखें, बाल भूरे, हाथ-पैर मज़बूत, गालों पर लाली, सुफ़ेद कपड़े पहने बहुत ही भला मालूम होता था। मैंने पास बुला कर पूछा:—

"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरियन"

थोड़ी ही देर में मेरियन मुझसे हिल गया। बहुत देर तक वह मेरे साथ खेलता रहा। कुछ देर बाद अन्दर से आवाज़ आई! "मेरियन! मेरियन!"

मेरियन अन्दर गया और अपनी माता को साथ लेकर बाहर आया। उसे देख कर मैं खड़ा हो गया और टोपी सिर से उतार ली। वह युवती बड़ी नम्रता से बोली:—

"आप धूप में न खड़े रहिए। इधर आकर बैठ जाइए। मेरे पति आते होंगे। उनके आने पर भोजन कीजिएगा।"

देवी इतना कह कर अन्दर चली गई और मैं साये में बैठ गया।

थोड़ी देर में मिस्टर डेडिकसन उस युवती के पति आये। पहले अन्दर गये। फिर बाहर आकर मुझे लिवा ले गये, और हाथ मुँह-धोने के लिए जल, साबुन और साफ़ अँगोछा दिया। मैंने मुँह धोया और अपनी कंघी से बाल साफ़ किये।

पीछे हम चारों (बालक मेरियन भी) मेज़ के इर्द गिर्द कुरसियों पर खाने को बैठे। मेरियन के लिए एक ख़ास तरह की ऊँची कुरसी थी, जो बच्चों के लिए खाने के समय इस्तेमाल की जाती है। वह ऐसी होती है कि बालक गिर न सके।

मिस्टर डेडिक्सन खाना परोसने लगे तो मैंने उनसे अपना भोजन-सम्बन्धी निवेदन कर दिया। वे बोले:—

"यद्यपि हम लोग कृषक हैं; तथापि हम मांस अधिक नहीं खाते। हाँ, न खाने की क़सम नहीं खाई।" ऐसा कह उन्होंने मेरे लिए शाक-तरकारी परोस दी और अपने सब के लिए अपना भोजन मिला कर परोस लिया। हम लोग भोजन करने लगे और वार्तालाप भी आरम्भ हुआ।

मिस्टर डे०"—आप कहाँ से आते हैं?"

मैं—"पोर्टलैंड से"

मिस्टर डे०—"कहाँ जाने का विचार है?"

मैं—"सन-फ्रांसिस्को की ओर जा रहा हूँ"

जब इस प्रकार के दो चार और प्रश्न उन्होंने पूछे और मैंने साधारण उत्तर दिये तब वे चुप हो रहे। मैंने दिल में सोचा कि अपना परिचय देना ही ठीक होगा। इसलिए मैंने कहा:—

"मैं भारतवर्ष से आता हूँ। इधर पैदल सफ़र करने के लिए निकला हूँ"।

युवती—"अच्छा! आप इंडिया से आते हैं! आप को इधर आये कितनी मुद्दत हुई?"

मैं—"पाँच वर्ष हो गये।"

युवती (आश्चर्य्य से) "और पाँच ही वर्ष में आपने ऐसी अच्छी अँगरेज़ी बोलना सीख लिया?"

मैं—"मैं यहाँ विश्वविद्यालय में पढ़ता रहा हूँ। पाँच वर्ष मैंने विद्यालय में लगाये हैं॥"

युवती—"आप के देश में भी तो अँगरेज़ी पढ़ाई जाती है।"

मैं—"हाँ, मेरे देश में भी स्कूल-कालेज हैं; पर काफ़ी नहीं"।

मिस्टर डे०—"यह क्यों?"

अब इन लोगों की दिलचस्पी बढ़ी।

मैं—"वहाँ तीस करोड़ की तो आबादी है; पर पढ़े-लिखे लोग केवल छः फ़ी सदी हैं! यह न होने के बराबर हैं। आप के देश में तो दस घरों के पीछे एक स्कूल है"।

युवती, हँस कर—"तो आप हमारे देश को बहुत पसन्द करते हैं?"

मैं—"हाँ, आप के देश में लोगों को हर प्रकार की उन्नति करने के साधन हैं। स्कूल हैं, कालेज हैं, विश्वविद्यालय हैं। इसके अतिरिक्त हर प्रकार के उद्यम-धन्धे सिखलाने के लिए भी प्रबन्ध है।

थोड़ी देर बाद मिस्टर हेड़िक्सन ने पूछा:—

"आपको हमारी गवर्नमेंट पसन्द है?"

मैं—"आपकी गवर्नमेंट बहुत अच्छी है। यद्यपि उसमें भी कई तरह की बुराइयाँ हैं। पर उनको दूर करने की शक्ति भी आप लोगों के हाथ में है।"

मिस्टर डे०—"आपका मतलब पूंजी वालों और मज़दूरों के सम्बन्ध में है।"

मैं—"हाँ, उसके भी, और, और बातों के भी सम्बन्ध में।"

मिस्टर डे०—"प्रेज़िडेण्ट रोज़वेल्ट उन बुराइयों को दूर करने की कोशिश कर रहे हैं।"

मैं (ज़रा धीरे से)—"उम्मेद नहीं कि प्रेज़िडेण्ट रोज़वेल्ट कामयाब हों।"

मिस्टर डे०—"क्यों"?

मैं—"प्रेज़िडेल्ट रोज़वेल्ट साम्राज्यपद्धति (Imperialism) के पक्षपाती हैं। एक बात और भी है। ख़ाली क़ानून पास कर देने से पूंजी वालों के पंख नहीं कट सकते। जो धनवान् हैं और जिन्होंने अन्याय पर कमर कसी है वे क़ानून बनाने वालों तथा क़ानून के अनुसार फ़ैसला करने वालों को मोल ले लेते हैं। बस हो गया ख़ातमा! ग़रीब बेचारे मारे गये।"

मिस्टर डेडिक्सन थोड़ी देर चुप रहे। फिर युवती ने कहा:—

"आपने तो हमारे देश की बहुत सी बातें जान लीं। हम लोग भी उतना नहीं जानते।"

मैं (हँस कर)—"बहुत तो नहीं, थोड़ा अवश्य सीखा है। यही बातें मैंने विश्वविद्यालय में पढ़ी भी हैं—राजनीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान और शिक्षण-विज्ञान"।

युवती—"अच्छा, आरेगन रियासत की गवर्नमेंट तो आपको पसन्द है?"

मैं (हँस कर)—"क्या कहना है। वहाँ की गवर्नमेंट अलबत्ता गवर्नमेंट कही जा सकती है। वहाँ की गवर्नमेंट लोगों के ठीक हाथ में है।"

युवती—"यह देश नया है। धीरे धीरे सब बुराइयाँ दूर हो जायँगी"

मैं—"बेशक, इस बात को मैं मानता हूँ।"

भोजन से निश्चिन्त हो कर मैंने मिस्टर डेडिक्सन से उनके विषय में कुछ बातचीत की, तो पता लगा कि उनके पूर्वज हालैंड से इस स्वतंत्र देश में आये थे। पहले ये पोर्टलैंड में कुछ काम करते थे। पीछे यह सोचा कि कृषि-कर्म सबसे अच्छा है। अपनी पूंजी से भूमि मोल लेली। अब यहीं स्त्री-सहित रहते

हैं। ये ख़ुद खेती का काम करते हैं; ज़रूरत होने पर मज़दूर भी रख लेते हैं। मज़े में काम चला जाता है।

खाना खा चुकने पर मिस्टर डेडिक्सन को काम करने जाना था। मुझे कह गये कि आप बाहर साये में कुरसी पर सुस्ता लीजिए और जी में आवे तो फल तोड़ कर खाइए। ख़ूब आराम करके जाइएगा।

वे तो चले गये। मैं बाहर बरामदे में कुरसी पर बैठ कर आराम लेने लगा।

तीन बजे के क़रीब मैंने चलने की ठानी। कुछ फल तोड़ कर ले लिये। मिस्टर डेडिक्सन कुछ काम के लिए घर आये थे। मैंने उनसे बिदा माँगी और उन्हें धन्यवाद देकर अपनी राह ली। मेरियन और उसकी माता शायद सो गये थे। इसलिए उनसे जाते समय भेंट न हो सकी।

पाँच बजे मैं उडबर्न पहुँचा। यहाँ से सेलम थोड़ी ही दूर है। मैंने सोचा कि प्रातःकाल उठ कर वहाँ जाऊँगा। इसलिए रात को सोने का स्थान ढूँढ़ा। कमरे का किराया यहाँ पचास सेंट माँगते थे। मैंने दरियाफ़्त किया तो मालूम हुआ कि यहाँ से बिजली की गाड़ी सेलम जाती है और उसका किराया भी कम है। इसलिए उस पर चढ़ कर शीघ्र ही सेलम पहुँचा।

रात को सेलम की शोभा दर्शनीय थी। बाज़ारों में ऐसा मालूम होता था जैसे दीपावली हो। बिजली से शोभा-वृद्धि के काम ख़ूब लिये जाते हैं।

घूमते फिरते एक भद्र पुरुष, मिस्टर ग्रेहम, से भेंट हुई। उनकी सहायता से एक सस्ता कमरा प्राप्त किया। वहाँ अपने पास जो फल थे उन्हीं को खा कर सो रहा।

जुलाई २७—प्रातःकाल हाथ-मुँह धोने पर सबसे पहले भोजन की सूझी। एक जगह थोड़े में काम बनता था। वहाँ से दस पैसे में क्षुधानिवृत्ति करके सेलम शहर देखने चला।

सेलम आरेगन की राजधानी है। विलामेट तराई के ऐन बीच में होने के कारण यहाँ नगर-वृद्धि के सब सामान मौजूद हैं। आबोहवा बहुत अच्छी है। भूमि इर्द गिर्द की बड़ी उपजाऊ है। और चारों ओर के दृश्य भी बड़े सुन्दर हैं। जिस दिन आकाश साफ़ रहता है उस दिन पर्वतों की पाँच चोटियाँ बर्फ़ से ढकी हुई दीख पड़ती हैं।

इस शहर की आबादी १८,००० आदमियों की है। सड़कें और गलियाँ चौड़ी तथा फलदार वृक्षों से शोभायमान हैं। कई एक गलियाँ सौ फीट चौड़ी हैं। घरों के आस पास भी फलदार पेड़ हैं।

शहर की बड़ी बड़ी इमारतें देखने लायक़ हैं। मैं सबसे पहले राजधानी की इमारत (Capital Building) देखने गया। कहते हैं इसमें तीस लाख रुपये से अधिक ख़र्च हुआ है। बहुत भारी इमारत है। इसके भीतर एक विशाल पुस्तकालय है। मैंने घूम कर सब देखा। पुस्तकालय की तत्त्वावधायिका (Lady-Superintendent) से कुछ पुस्तकें लेकर मैंने सरस्वती-सम्पादक को भेजीं।

शहर में और भी कई अच्छी इमारतें हैं। एक का नाम है फिडरल-बिल्डिंग (Federal Building) उसमें साढ़े तीस लाख रुपये ख़र्च हुए हैं। अदालत की इमारत में भी उतने ही रुपये लगे हैं। सिटी-हाल ढाई लाख के ख़र्च से बना है। एक बड़ा भारी हाई स्कूल है। उसकी लागत दो लाख पचीस हज़ार रुपये की है। दूसरे छोटे स्कूलों के लिए कई लाख रुपये ख़र्च किये गये हैं। एक विश्वविद्यालय भी है जिसको विलामेट-यूनीवर्सिटी कहते हैं। और भी कई एक उपयोगी पाठशालायें हैं। वहाँ अंधे, बहरे और गूंगे बालक तथा बालिकायें पढ़ती हैं। एक सुधारक-शिक्षालय है, जहाँ उद्दण्ड बालक रक्खे जाते हैं। आरेगन के असली वाशिन्दों के लिए भी एक स्कूल है, जिसको "Government Indian Training School" कहते हैं।

सेलम के इर्द गिर्द फलों की भरमार है। सेब, नाशपाती, बेर, करौंदा, अख़रोट आदि ख़ूब होते हैं। असल में सेलम को (Cherry City) कहते

सलेम (आरेगन) का प्रधान राज-मन्दिर।
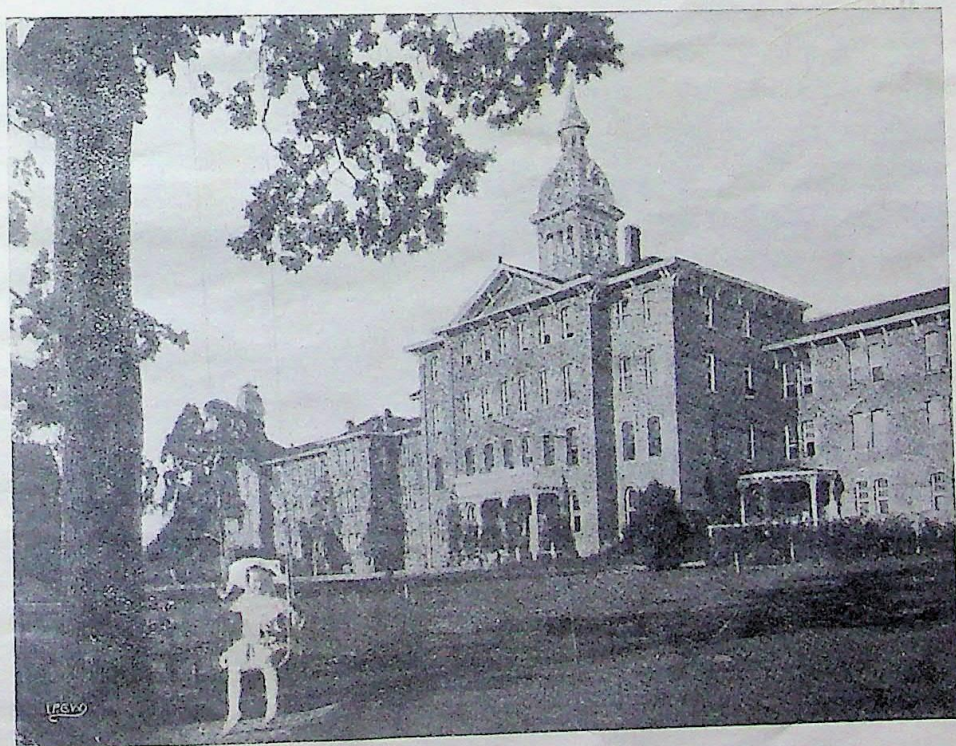
सलेम (आरेगन) का पागलख़ाना।

इंडियन प्रेस, प्रयाग।

हैं। चेरी फल कई रंग के होते हैं। मैंने भारत में यह फल कभी नहीं खाया। यह खाने में खट्टा-मीठा और मीठा दोनों तरह का होता है। यह आलूचे की शकल का होता है। इसकी गुठली भी वैसी ही होती है। मगर आलूचा इससे ज़रा बड़ा होता है। चेरी के रंग में विभिन्नता है। लाल, सुरख़ी लिये हुए सफ़ेद, काला—इसी तरह चार पाँच प्रकार के चेरी के फल होते हैं।

फलों के अतिरिक्त यहाँ बिलामेट तराई में हाप (Hop) नामक एक फूल की फ़सल होती है। यह बेलों की तरह लगाया जाता है। फ़सल पर फूल तोड़ लिये जाते हैं। इन्हीं फूलों से शराब बनती है, जिससे लोग करोड़ों रुपये कमाते हैं। आस पास की बस्ती से हर साल तीस हज़ार से अधिक मज़दूर हाप चुनने के लिए यहाँ आते हैं। उनको सेरों के हिसाब से मज़दूरी मिलती है। एक सेर चुनने वाले को एक आने से लेकर डेढ़ आने तक मिलता है। कोई कोई दिन भर में साढ़े तीन मन तक चुन लेते हैं। इस तरह वे आठ नौ रुपये रोज़ कमाते हैं। जापानी लोग इन दिनों ख़ूब रुपया कमाते हैं। पर हाप चुनने का काम केवल छः सात सप्ताह रहता है। मैंने भी यह काम किया है।

राजधानी, पागलखाना आदि देख और काम से निवृत्त हो मैंने चलने की ठानी। सेलम से आगे कुछ दूर पर रियासत का रिफ़ार्म-स्कूल है। यह एक बहुत ऊँची पहाड़ी पर बना है। बारह बजे के बाद मैं वहाँ पहुँचा। दरवाज़े पर एक लड़का मिला। उसने अन्दर ले जाकर मुझे अपने प्रिंसिपल से मिलाया। उसकी आज्ञा से मैंने सारा स्कूल घूम कर देखा। यहाँ वे लड़के लिये जाते हैं जो अपने माँ-बाप के वश में नहीं। कुल ९५ लड़के हैं। उनके लिए पढ़ाने-लिखाने, खेलने-कूदने आदि का बहुत अच्छा प्रबन्ध है। रियासत इसका सब ख़र्च देती है।

वहाँ से निकल कर मैंने आगे पैर बढ़ाया। आज मुझे बहुत दूर जाना था। इसलिए जल्दी जल्दी चला। अलबनी शहर में मेरा एक मित्र रहता है। यही बेहतर समझा कि आज की रात उसके यहाँ बिताऊँ। न इधर देखा, न उधर, बस चला ही गया। छः बजते बजते टरनर से मेरियन होता हुआ जेफ़रसन पहुँच गया। ज़रा भी दम नहीं ली। बराबर चला ही गया और रात होते होते अलबनी में दाख़िल हो गया।

मेरे मित्र, मिस्टर बी०, यहाँ रहते हैं। मैं उनके घर पहुँचा तो आप अपना आटोमोबील (मोटर गाड़ी) साफ़ करने में लगे थे। मुझे देख कर हैरान हो बोलेः—

"हेलो देवा! तुम यहाँ कहाँ?"

मैं (हँस कर)—"इसी तरह घूमता फिरता आ निकला। दिल में आया, चलूँ आज आपको कष्ट दूँ।"

"कष्ट! अच्छा कहा। पर यह तो बताओ कहाँ से आते हो?"

"पोर्टलेंड से पैदल आता हूँ।"

तअज्जुब है कि हम लोगों ने तुमको नहीं देखा। मैं और मेरी स्त्री दोनों आज ही पोर्टलेंड से वापिस आये हैं। हम लोग आटोमोबील पर थे। क्या ही अच्छा होता यदि तुम रास्ते में मिल जाते।"

मैं (मुस्कुरा कर)—"मेरी ऐसी क़िस्मत कहाँ।" मैंने फिर अपना लहजा बदल कर कहाः—

"क्या इतनी जगह आप के आटोमोबील में थी?"

"जगह करने से हो जाती है, हमने रास्ते में एक आदमी को इसी तरह बिठा लिया था और उसे दस मील ले आये थे।"

"अच्छा आओ, अन्दर चलें। तुम थके हुए हो।"

चुपचाप मैं अपने मित्र के साथ हो लिया। उन्होंने पहले आटोमोबील को ठिकाने रक्खा। फिर मुझे घर के अन्दर ले गये।

उनकी स्त्री से मैं पहले ही से परिचित था। बहुत ही नम्र स्वभाव वाली हैं। एक विश्वविद्यालय की ग्रेजूयेट हैं। बड़े प्रेम से मुझे भोजन कराया। मैं पहले उन लोगों के यहाँ आ चुका था। मेरे खान पान से ये लोग वाकिफ़ थे। इसलिए मेरे इच्छानुसार भोजन दिया।

खाना खाने के बाद कुछ देर वार्तालाप हुआ। पीछे, मेरे सोने का प्रबन्ध एक दूसरे कमरे में कर दिया गया। साफ़ सुथरे बिस्तरे पर मैं मैले बदन कैसे सो सकता था। कपड़े उतार कर स्नान-गृह में घुस गया और ख़ूब मल मल कर नहाया। फिर निश्चिन्त हो सो गया।

सत्यदेव—अमेरिका।

शय्याष्टक।

(१)

शय्ये ! सबसे पहले तूने ही अंक में लिया मुझको।
मानव नाम पड़ा है तेरे ही अंक में मेरा ॥

(२)

तथा करेगी तूही फिर भी अंकस्थ वत्स जान मुझे।
होगा विधि-वश मेरा जीवन-लीलान्त जब जग में ॥

(३)

पीड़ित हो रोगों से तेरी ही शरण ढूँढ़ता हूँ मैं;
जिससे तुरन्त मेरी व्यथा घटे, आंख लग जावे ॥

(४)

चिन्तित जब रहता हूँ तेरे ही चरण चक्षुजल से मैं।
रो रोकर धोता हूँ;सो कर निश्चिन्त होता हूँ ॥

(५)

स्वेच्छा-स्वीकृत श्रम से होता शिथिलांग, श्रान्त हूँ जब मैं।
तेरीही सेवा में तब विश्रामार्थ आता हूँ ॥

(६)

तूही मुझे कराती परमानन्दानुभव अकथ्य महान्।
कोर कृपा की निद्रा है मुझ पर जब कभी करती ॥

(७)

दुख भी है, सुख भी है, दृश्य शुभाशुभ अनेक हैं तुझमें।
शिक्षा देती है तू जैसी आचार्य्य देते हैं ॥

(८)

"शुभ में और अशुभ में, देखो अत्यन्त अल्प अन्तर है।
मिला हुआ है जग में, सुख से दुख,दुःख से सुख भी" ॥

सत्कविदास।

श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद जी।

सारन ज़िले में गोआ परगने के अन्तर्गत मुबारकपुर नाम का एक गाँव है। यहीं एक कायस्थकुल में श्रीसीतारामशरण भगवान् प्रसादजी का जन्म हुआ।

बाल्यकाल और शिक्षा।

इनके दादा केवलकृष्ण इलाहाबाद ज़िले के आलमगंज नामक स्थान की नील-कोठी में मारमुंशी का काम करते थे। आप सपरिवार वहीं रहते थे। संवत् १८९७ की श्रावणशुक्ला नवमी को भगवान्प्रसादजी का जन्म हुआ। पाँचवें वर्ष में कुल की रीति के अनुसार इनका विद्यारम्भ हुआ। किन्तु इनके पढ़ने का कोई अच्छा प्रबन्ध उस समय नहीं किया गया। मुंशी केवलकृष्णजी बड़े हरिभक्त और साधुसेवी थे। अपने काम-काज से जब कभी उन्हें अवकाश मिलता तब वे साधु-महात्माओं के दर्शनों को जाया करते। भगवान्प्रसादजी जब सात वर्ष के हुए तब मुंशी केवलकृष्णजी इन्हें भी अपने साथ साधुओं के पास ले जाने लगे। इससे छोटी उम्र में ही इनके हृदय में भक्ति का बीज अंकुरित हुआ। लड़कपन में ये पत्थर के टुकड़े लेकर शालग्राम की तरह उनकी पूजा करते थे। पितामह के स्नेहपात्र होने के कारण कोई इनके पूजापाठ में विघ्न नहीं डालता था। अतएव आठ वर्ष की उम्र तक इन्होंने कुछ भी नहीं पढ़ा।

आठ वर्ष की उम्र में भगवान्प्रसादजी अपने माता-पिता के साथ मुबारकपुर आये। यहाँ इनकी शिक्षा का ठीक प्रबन्ध हुआ। पहले दो तीन वर्ष तक इन्होंने मौलवी अशरफ़अली से फ़ारसी पढ़ी। उसके बाद ग्यारहवें वर्ष में ये स्थानीय मिडिल वरनेक्यूलर स्कूल में भरती हुए। यहाँ ये फ़ारसी के साथ साथ हिन्दी-उर्दू भी पढ़ने लगे। इनके पिता स्वयं भी इन्हें घर पर पढ़ाते थे। परन्तु पाठ-

इंडियन प्रेस, प्रयाग ।

शाला की शिक्षा के कारण कभी इनके धर्म्म की शिक्षा में बाधा नहीं पड़ी। मुबारकपुर में पंडित प्रह्लाददत्त पाण्डेय और मुंशी शिवचरण भगत नामक दो बड़े धार्म्मिक और सदाचारी रामानन्दीय वैष्णव रहते थे। उनसे इन्हें धर्म्म की शिक्षा मिलती रही।

१८५९ ईसवी में भगवानप्रसादजी मिडिल परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। इन्हें चार वर्ष के लिए चार रुपये मासिक छात्रवृत्ति मिली। तब ये छपरे के ज़िला स्कूल में भरती हुए। यहाँ ये जी लगाकर पढ़ते भी थे और हरिभजन भी किया करते थे।

१८६३ ईसवी में भगवानप्रसादजी एंट्रेंस क्लास में आये। इसी समय इन्होंने "तन मन की स्वच्छता" नामक एक पुस्तक हिन्दी में लिखी। उसे इन्होंने तत्कालीन स्कूल-इन्सपेक्टर डाक्टर फैलन को समर्पण किया। इंसपेक्टर साहब ने प्रसन्न होकर भगवानप्रसादजी को ३०) मासिक वेतन पर देशी भाषाओं के स्कूलों का सब-इन्स्पेक्टर नियत किया। इनके अध्यापकों ने बहुत समझाया कि नौकरी के लिए इतनी जल्दी न करनी चाहिए। पर इन्होंने उसे ईश्वर की कृपा समझ स्वीकार कर लिया।

विवाह।

सन् १८५७ ईसवी में बाबू भगवानप्रसादजी का विवाह हुआ। सन्तति कोई नहीं हुई। १८९० ईसवी में इनकी सहधर्म्मिणी का शरीरपात हो गया। तथापि इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। गृहस्थाश्रम के बन्धन से मुक्त होकर स्वतंत्रतापूर्वक भजन करना ही इन्होंने अच्छा समझा।

दीक्षा।

यों तो लड़कपन से ही बाबू भगवानप्रसादजी पर ईश्वर-प्रेम का गाढ़ा रङ्ग चढ़ा हुआ था। परन्तु शास्त्रों में ज्ञान-प्राप्ति के लिए सद्गुरु का आश्रय लेना परमावश्यक बताया गया है। इसी से १८५८ ईसवी में इन्होंने परसा-ग्राम-निवासी स्वामी रामचरणदासजी से दीक्षा ग्रहण की। प्रचलित साम्प्रदायिक प्रथा के अनुसार इनके गुरु महाराज ने इनका नाम "श्रीसीतारामशरण" रक्खा। तभी से ये श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसाद कहे जाते हैं।

बाबू भगवानप्रसादजी रामानन्दीय सम्प्रदाय के वैष्णव हैं। ये श्रीसीतारामजी कि युगल मूर्त्ति के उपासक हैं। इनका इस सम्बन्ध का नाम रूपकला है। ये अपनी कविता में प्रायः यही नाम देते हैं।

मुलाज़िमत का हाल।

स्कूलों के सब-इन्स्पेक्टर होने के कुछही दिनों बाद इनकी तरक़्क़ी हुई। ये पचास रुपये पर शाहाबाद भेजे गये।

मार्च १८६७ में इनका वेतन ८०) हुआ। ये पूर्निया ज़िले के डिपुटी-इन्सपेक्टर और वहाँ के नार्मल स्कूल के हेड मास्टर नियत हुए। इनके समय में उस स्कूल की बहुत उन्नति हुई। इससे पूर्वोक्त डाक्टर फ़ैलन तथा तत्कालीन छोटे लाट सर जार्ज कैंपबेल ने इनकी बड़ी प्रशंसा की। पूर्नियाँ में इन्होंने संस्कृत, अरबी और बँगला का अध्ययन किया।

१८६९ ईसवी में ये १००) मासिक पर मुँगेर के डिपुटी-इन्स्पेक्टर हुए। १८७३-७४ में विहार-प्रान्त में भयङ्कर अकाल पड़ा। उस समय बाबू भगवानप्रसादजी भी दरिद्रों को सहायता देने के लिए नियुक्त हुए। इन्होंने इस काम को बड़ी योग्यता से किया।

१८७५ में इनका वेतन १५० हुआ और १८७८ से ये २००) पाने लगे।

ये साधु-सेवा में बहुत ख़र्च किया करते थे। इस कारण कभी कभी इन्हें कष्ट मिलता था। भक्तवत्सल भगवान् से भला अपने भक्त का ऐसा कष्ट कब देखा जा सकता था। मुंगेर के एक मुसलमान मुख़तार को रात में स्वप्न हुआ कि तुम भगवानप्रसाद को इतने रुपये भेंट करो। बाबू भगवानप्रसादजी ने पहले तो रुपये लेने से इनकार किया। पर मुख़तार साहब के बहुत प्रार्थना करने पर उन्होंने ले लिया। उस समय ये मुँगेर ही में थे।

१८८४ ईसवी में बाबू भगवान्प्रसादजी की तरक़्क़ी तीन सौ रुपये के ग्रेड में हुई। अपने भाग्य-भाजन पुत्र की इतनी उन्नति देख कर, सन् १८८५ ईसवी में, बाबू भगवान्प्रसादजी के पूजनीय पिता मुंशी तपसीराम ने स्वर्ग-यात्रा की।

१८८६ ईसवी में बाबू भगवान्प्रसादजी फिर पटने आये। तबसे बराबर ये यहीं रहे। १७९३ ईसवी की ३१ वीं अक्तूबर तक बहुत योग्यता के साथ काम करके यहीं से इन्होंने १४६=) पेंशन प्राप्त किया। इन आठ वर्षों के बीच में कितनी ही अलौकिक घटनायें हुईं, जिनसे स्पष्ट मालूम होता है कि भगवान्प्रसादजी पर ईश्वर की पूर्ण कृपा है। स्थानाभाव से हम उन सबका उल्लेख नहीं कर सके।

बाबू भगवान्प्रसाद ने प्रतिज्ञा की थी कि काम से फ़ुरसत मिलते ही मैं श्रीअवध चला जाऊँगा और श्रीयुगल सरकार की श्यामगौर मूर्त्ति के ध्यान में अपना समय बिताऊँगा। अतएव पेंशन पाते ही उन्होंने श्रीअवध की यात्रा कर दी।

श्रीअवधवास।

सन् १८९३ ईसवी के नवम्बर में श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसादजी अयोध्यावास के निमित्त बाँकीपुर से रवाना हुए। अयोध्या पहुँचकर प्रमोद-वन कुटिया से अँचला, लँगोटा, कमण्डलु इत्यादि प्राप्त करके इन्होंने विधिपूर्वक गृहस्थाश्रम का त्याग किया। तबसे ये महात्मा वहीं रह कर श्रीसीताराम के भजन और ध्यान में तत्पर रहते हैं। अपनी भावना, अष्टयाम नाम की पुस्तक में, इन्होंने इस प्रकार लिखी है:—

छाड़ि मोह अभिमान सब, सन्तन सों अति दीन।
वसि प्रमोदबन सरयुतट, फिर मन अनत न कीन॥
नागेश्वर हनुमत कृपा, सरयू कौशल धाम।
बसि सन्तन मधि दीन रहि, सुमिरत सीताराम॥

इनके धर्म्मात्मा पिता और सौभाग्यवती स्त्री का तो पहले ही शरीरपात हो चुका था। पर इनके पेंशन पाने के समय इनकी माताजी वर्त्तमान थीं। इन्होंने बहुत चाहा कि वे भी अयोध्या-वास करें, पर वे राज़ी न हुईं। अतएव वे बराबर उनके लिए प्रति मास ५१) भेजा करते थे। १८९५ ईसवी में श्रीशिवरात्रि के दिन इनकी माता ने भी परलोक की यात्रा की।

श्रीसीतारामशरणजी की अनन्य-भक्ति का परिचय तो लोगों को इनकी नौकरी के समय में ही मिल चुका था। परन्तु उस समय ये अपने काम-काज में फँसे रहते थे। इससे लोगों को इनसे सदुपदेश-ग्रहण करने का अवसर नहीं मिलता था। जबसे ये अयोध्या आये हैं तबसे अनेकानेक मनुष्यों को इन्होंने भक्तितत्व का उपदेश देकर सन्मार्ग में लगाया है।

बाबू बलदेवनारायणसिंहजी गया के एक प्रतिष्ठित वकील हैं। पहले आप स्मार्त्त धर्म्मावलम्बी थे। आधुनिक साधु-नामधारी लोगों के बुरे आचरण देख कर साधुओं की ओर से उनकी श्रद्धा बहुत कम हो गई थी। सन् १९०० ईसवी में वे अयोध्या गये। वहाँ साधु श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसादजी के इन्होंने दर्शन किये। वे अपने मन में वैष्णवधर्म्म-सम्बन्धी कई प्रश्न सोच कर गये थे। किन्तु श्रीसीतारामजी की ऐसी कृपा हुई कि बलदेव बाबू के बिना पूछे ही भक्तप्रवर श्रीसीतारामशरणजी ने उनके सब प्रश्न तथा उनके उत्तर कह सुनाये। बाबू बलदेवनारायणसिंह पर इस घटना का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसी समय उन्होंने श्रीसीतरामजी की उपासना करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। वहाँ से लौट कर उन्होंने वैष्णवी दीक्षा ग्रहण की।

अयोध्या के प्रमोदवन में उन्होंने श्री सीतारामशरण के नाम पर "रूपकला-कुञ्ज" नामक सुन्दर भवन बनवाया। श्री सीतारामशरणजी की कई पुस्तकें भी उन्होंने अपने ख़र्च से छपवाई हैं।

पुस्तक-रचना।

श्री सीतारामशरण भगवान्प्रसादजी भक्त होने के सिवा कवि और ग्रन्थकार भी हैं। पुस्तक-

रचना की ओर इनका लड़कपन से ही ध्यान है। अब तक इन्होंने तेरह पुस्तकें लिखी हैं। उनमें से चार उर्दू में हैं। शेष सब हिन्दी में। उनकी पुस्तकों के नाम ये हैं :—

(१) तन मन की स्वच्छता—यह पुस्तक छात्रावस्था में लिखी गई थी। इसी की बदौलत भगवान्प्रसादजी को नौकरी मिली थी। इसका विषय नामही से प्रकट है।

(२) तहारते ज़ाहिर वो बातिन—यह पहली पुस्तक का उर्दू-अनुवाद है। इन्स्पेक्टर की आज्ञा से यह अनुवाद किया गया था।

(३) तुहफ़े तुल शायक़ीन, और

(४) उर्दू रोमन रीडर्स—ये दोनों छात्रोपयोगी उर्दू की किताबें हैं।

(५) शरीरपालन—यह एक बँगला-पुस्तक का अनुवाद है। यह बहुत दिनों तक विहार के मिडिल स्कूलों में पढ़ाई जाती थी।

(६) हिफ़ज़े सेहत की उमदः तदबीरें—यह शरीर-पालन का उर्दू-अनुवाद है। यह पुस्तक अबतक कहीं कहीं पढ़ाई भी जाती है।

(७) भागवत—गुटका—यह हिन्दी-पुस्तक है। इसके पूर्वार्द्ध में भगवन्नामकीर्तन और उत्तरार्द्ध में भक्तों के काम की कितनी ही बातों का उल्लेख है।

(८) श्रीपीपाजी की कथा—इसकी रचना एक दम नये ढंग की है। इसमें भगवान् ही को श्रोता बना कर सब बातें सुनाई गई हैं। पीपा जी के सम्बन्ध के जितने कवित्त भक्तमाल में हैं वे सब इसमें सन्निविष्ट हैं।

(९) श्रीभगवद्वचनामृत—कहने को तो यह भगवद्गीता के बारहवें अध्याय की टीका है, पर वास्तव में लेखक ने इसमें गीता के श्लोकों के आधार पर भक्तियोग की विशद व्याख्या की है।

(१०) भक्तमाल की टीका—ऐसी पुस्तक आज तक नहीं बनी थी। इसमें पहले श्रीनाभाजी के छप्पय देकर उसके नीचे प्रियादासजी के कवित्त दिये गये हैं। उनके नीचे सरल हिन्दी में व्याख्या की गई है। स्थान स्थान पर अन्यान्य धर्म्म-ग्रन्थों के प्रमाणों से भी कथा की पुष्टि की गई है। गया के वकील बाबू बलदेवनारायणसिंहजी ने इसे प्रकाशित किया है।

(११) श्रीसीतारामममानसपूजा या भावना-अष्टयाम—इसमें श्रीसीतारामजी की आठों पहर की मानस-पूजा-विधि है। ग्रन्थकार स्वयं इसी विधि के अनुसार कर्म्म करते हैं।

(१२) भगवन्नामकीर्तन—नित्य पाठ करने योग्य एक छोटा सा संग्रह है।

(१३) श्रीसीतारामीय प्रथम पुस्तक—इसमें अनेक ग्रन्थों से भिन्न भिन्न देवता-सम्बन्धी श्लोकों तथा हिन्दी-पद्यों का संग्रह है।

स्वभाव।

साधु महात्मा स्वभावही से सरल-हृदय होते हैं। बाबू भगवानप्रसादजी में यह गुण शुरू से ही वर्त्तमान है। विरक्त होने के पहले कभी कभी रोष भी हो आता था ; परन्तु अकारण नहीं। जब कभी इनके ईश्वर-भजन, पूजा-पाठ या साधुसेवा में बाधा पड़ती तभी इन्हें क्रोध आता था। किन्तु वह शीघ्र ही शान्त भी हो जाता था। ये ब्राह्मणों का विशेष आदर करते हैं। इन्होंने आज तक किसी ब्राह्मण को रसोई बनाने या और किसी काम के लिए अपने यहाँ नौकर नहीं रक्खा। ये बड़े ही मिलनसार हैं। विधर्म्मियों से भी ये भ्रातृभाव रखते हैं। श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी में अनेक गुण हैं। उन सबका बहुत संक्षिप्त वर्णन भी किया जाय तो एक बड़ी पोथी बन जाय। छपरा-निवासी बाबू गोविन्ददेवनारायणसिंह बी० ए० ने इनका विस्तृत जीवनचरित पुस्तकाकार छपवाया है। जिन पाठकों को बाबू भगवानप्रसादजी के जीवन की अलौकिक घटनाओं का हाल जानने की इच्छा हो वे इस पुस्तक को अवश्य देखें। उससे बहुत शिक्षा मिल सकती है। ईश्वर के कृपापात्र भक्त का चरित्र प्रकाशित करके प्रकाशक ने हिन्दु-समाज का बहुत उपकार किया है।

लङ्का-द्वीप

ल समुद्र की दम घुटाने वाली गरमी और हिन्द सागर की तूफ़ानी लहरों से छुटकारा पाकर ता० १० सितम्बर को दस बजे रात के समय हम लङ्का की राजधानी कोलम्बो पहुँचे। कई दिन की बेचैनी और बीमारी के बाद ज़मीन देख कर फिर जान में जान आई। हमारे साथ बहुत से आस्ट्रेलिया जाने वाले मुसाफ़िर थे। हमें जहाज़ से उतरते देख वे लम्बी साँस खींचने लगे। उन्हें १५ दिन का सफ़र और करना था। जहाज़ किनारे से कोई आध मील के फ़ासले पर खड़ा हो गया। किराये की किश्तियों के माँझियों ने चारों ओर से जहाज़ को घेर लिया। मन चाहता था कि कब जहाज़ का पीछा छूटे। पर सामान सब जहाज़ में पड़ा था, जिस का निकलना कोई सहज बात न थी। हमारे साथ मुक्ति फ़ौज के चार सिपाही और एक कप्तान था। ये लङ्का-निवासी थे। इनकी सलाह हुई कि रात भर जहाज़ पर ही ठहरना ठीक होगा। हमें बड़ी निराशा हुई। ग्यारह से ऊपर बज चुके थे। अब एक एक पल कठिनाई से कटने लगा। ऐसा जान पड़ता था कि सबेरा होगा ही नहीं। नींद कोसों दूर भाग गई। जहाज़ के चारों ओर टहलने लगे। दो चार मिनिट से अधिक किसी से बातचीत करने को जी नहीं चाहता था। ले दे कर सबेरा हुआ। सबेरा होने के पूर्व हमारा सालवेशन-आर्मी (मुक्ति-फ़ौज) वाला साथी किनारे चला गया था। हम सब ऊपर से टकटकी लगाये उसके लैटने की राह देख रहे थे। जैसे तैसे वह एक डोंगी में बैठ कर ज़हाज़ के पास आया। हम छहों आदमी ज़रूरी सामान रख कर डोंगी में किनारे को रवाना हुए। डोंगी में बैठने पर भी मन की घबराहट कम न हुई। आँख ज़मीन की ओर थी। ख़ैर डोंगी किनारे पर आई। हम लोग जल्द बाहर जा कूदे। डोंगी का किराया डेढ़ रुपया चुका कर चुङ्गीघर में प्रवेश किया। चुङ्गी वाले थोड़ा बहुत सब जगह तंग करते हैं, पर हमारे साथ बर्ताव ठीक रहा। हम पूरी साहिबी पोशाक में थे। इसी कारण कदाचित् हमसे कोई पूछपाछ नहीं हुई। चुङ्गीघर से निकल हम बाहर सड़क पर आये और होटल की ओर पैदल रवाना हुए।

कोलम्बो शहर।

शहर में प्रवेश करते ही लम्बी चौड़ी सड़कें, ऊँचे होटल और दूकानें नज़र आईं। धूप बहुत कड़ी थी। पाँच मिनिट में होटल पहुँचे। कपड़े उतार कर जल्द स्नान किया और कुछ नाश्ता कर शहर देखने निकले। शहर का नया और साफ़ हिस्सा समुद्र के किनारे किनारे बसा है। गवरनर की कोठी, बड़ा डाकख़ाना, सरकारी दफ़्तर, बड़ी बड़ी दूकानें और होटल सब समुद्र के निकट हैं। टामस कुक का दफ़्तर बड़ी सड़क पर चुङ्गीघर से दो मिनिट का रास्ता है। कोलम्बो की मनुष्य-संख्या अनुमान दो लाख है। वह लन्दन से क़रीब ६००० मील है। लङ्का-द्वीप में यह सबसे बड़ा नगर है और दिन पर दिन बढ़ती पर है। यहाँ संसार के सब तरह के लोग दिखाई देते हैं। कोलम्बो संसार में एक बड़ा बंदर समझा जाता है। यहाँ आस्ट्रेलिया, इँगलैंड, चीन, जापान, बर्मा, भारत, इत्यादि के जहाज़ विश्राम लेते हैं। कोलम्बो व्यापार के लिए भी बहुत प्रसिद्ध है—यहाँ से मूँगा, मोती, चा, जायफल, नारियल इत्यादि भी बाहर जाते हैं। केले यहाँ बहुत सस्ते मिलते हैं। अर्थात् दो तीन पैसे दर्जन। पहले हम टामस कुक के दफ़्तर गये। वहाँ ज़रूरी बातें पूछ कर सड़कों पर यहाँ वहाँ घूमे। पर धूप असह्य होने से जल्द होटल को लैट आये। यहाँ इटली से भी अधिक धूप थी। हम नहीं जानते थे कि कोलम्बो इतना गरम स्थान होगा। सबेरे आठ नौ बजे के पश्चात् बाहर निकलना कठिन हो जाता है। शाम को पाँच के बाद कुछ गरमी कम होती है। दिन में दो बार नहाने पर भी हमें गरमी से बेचैनी रहती थी। जी चाहता था कि अब इस स्थान का पीछा छूटे। पर देखने की इच्छा से इस

रास्ते होकर आये थे। इस कारण सब कष्ट झेलने पड़े। नई बस्ती के मकान बम्बई, कलकत्ते, के अंग्रेज़ी महल्लों की तरह हैं। सड़कों पर ट्राम-गाड़ी चलती है। पर ये गाड़ियाँ कुछ सुस्त और पुराने फैशन की हैं। ट्राम केवल बड़ी बड़ी और ख़ास ख़ास सड़कों पर चलती है। रात को सड़कों पर गैस की रोशनी होती है। पुरानी बस्ती की सड़कें तंग हैं। मकान बहुधा नीचे और कच्चे हैं। बस्ती बहुत घनी है। तम्बाकू और बीड़ियों की दूकानों पर नारियल की एक मोटी रस्सी लटकी रहती है। उसका एक छोर जलता रहता है। बीड़ी ख़रीदने वाले इस जलते छोर से बीड़ी सुलगाते हैं। विलायत तथा अन्य देशों में इसके बदले बीड़ी बेचने वाले स्पिरिट का छोटा सा लम्प जलता हुआ रखते हैं। कहीं कहीं दियासलाई रक्खी रहती है। शहर के ख़ास ख़ास स्थानों में—जैसे होटल, बाज़ार, डाकख़ाना बड़ी बड़ी दूकानों इत्यादि के निकट-रिकशा (Rickshaw) खड़ी रहती हैं। रिकशा एक प्रकार की दो पहिये की छोटी, हलकी गाड़ी होती है जो एक मनुष्य हाथों से खींचता है। इसके पहिये रबरदार होते हैं। इससे हलकी चलती है। धूप बचाने को टब रहता है। आदमी ख़ूब दौड़ता है; कभी कभी घोड़े-गाड़ी का मुक़ाबला करती है। किराया एक घंटे का आठ आने देना पड़ता है। मुसाफ़िरों को चाहिए कि किराया ठहरा कर इन गाड़ियाँ को ले जायँ, नहीं तो खींचने वाले मनमाना किराया माँगते हैं। इन गाड़ियों में सवारी के सिवा बाज़ारू चीज़ें भी रख सकते हैं। शौक़ीन लोग शाम-सवेरे इन गाड़ियों पर बैठ कर समुद्र के किनारे हवा खाने जाते हैं।

बौद्ध-मन्दिर ।

लङ्का में बौद्धों के केवल दो मन्दिर हैं। और भी हों तो हमें ज्ञात नहीं। पर बौद्धों के पुरोहितजी भी कहते हैं कि दो ही हैं। दोनों नये हैं। सबसे पुराना ८० साल का है। दोनों कोलम्बो में हैं। पुरोहितों से मालूम हुआ कि रोमन केथलिक तथा हमारे अन्यान्य कृस्तानों के अत्याचार के कारण बहुत से मन्दिर तोड़ फोड़ डाले गये। पर जबसे लङ्का में अँगरेज़ों का राज्य हुआ है तबसे शान्ति है। अँगरेज़ी राज्य की बदौलत लङ्का को यह लाभ हुआ है। सब से पुराने मन्दिर का नाम कोट्टहन है। इसके आस पास रोमन कैथलिक कृस्तान रहते हैं। मन्दिर के पुजारीजी से मालूम हुआ कि ये लोग अब भी मन्दिर का अनादर किया करते हैं। मन्दिर के भीतर पुजारीजी ने अँगरेज़ी में एक लम्बा चौड़ा नोटिस टाँग रक्खा है जिसमें कृस्तानों को मन्दिर की सरहद के भीतर जाने की मनाई की गई है। क्रोध में आकर पुजारी ने कुछ अपशब्द भी लिख डाले हैं। हमने पूछा कि इस स्थान में इस नोटिस से क्या मतलब? उन्होंने कहा कि इन आस पास के कृस्तानों के मारे मन्दिर के बाग़ीचे तथा अन्य चीज़ों को नुक़सान पहुँचता है। मन्दिर एक मामूली घर सा है। चारों ओर बाग़ीचा है। एक ओर लड़कों के पढ़ने की शाला है जिसमें अनुमान ८० छात्र हैं। मन्दिर और इनका काम दान-पुण्य द्वारा चलता है। इस मन्दिर की एक ओर एक नया मन्दिर बन रहा है जिसका नमूना गयाजी के मन्दिर से लिया है। लङ्का में यह मन्दिर अपने ढंग की एक ही चीज़ होगी। मन्दिर के भीतर बौद्ध-देव दाहिनी करवट सो रहे हैं। बरामदे में उनके माता-पिता की मूर्तियाँ हैं। मन्दिर के आस पास परिक्रमा है। दो छोटे छोटे बालक हमें मन्दिर के भीतर ले गये। ये पुरोहित थे। दोनों को हमने कुछ इनाम दिया। बाहर आने पर मन्दिर के बड़े पुजारीजी से भेंट हुई। आप बड़े प्रसिद्ध पुरुष हैं। संस्कृत, पाली इत्यादि के सिवा आप अच्छी अँगरेज़ी भी जानते हैं। इनका कुछ परिचय उन्हीं बालकों ने दे दिया था। बातचीत अँगरेज़ी में होने लगी। जो पूछा गया उन्होंने बड़े प्रेम से बताया। पुजारीजी स्याम देश के राजा के नज़दीकी नातेदार हैं। कोई ३० वर्ष पूर्व आप लन्दन में छात्र थे। स्याम को लौटने पर एलची बन कर फिर लन्दन गये। छात्रावस्था में आप

ने .खूब नाम प्राप्त किया था। स्वयं ग्लेडस्टन ने इनकी बुद्धि की प्रशंसा की थी। एलची का काम इन्होंने बहुत अच्छी तरह चलाया। कुछ दिन बाद स्याम आये और ऐसी विपत्ति में फँसे कि राजा ने देश निकाले की आज्ञा दे दी। जान जाने का भय हुआ। कई देशों में भागते फिरे। अब पुजारी बन-कर लङ्का में हैं। आपका नाम कोजनवीरवंश है। इसका अर्थ है बौद्ध देव के वंशज। इनके पास अब कोई जायदाद नहीं है। निर्वाह भिक्षा पर होता है। खाने पीने का सब सामान मन्दिर ही में आ जाता है। बहुधा बना बनाया भोजन आता है। जाति पाँति का कोई विचार नहीं। ये लोग मांस भी खाते हैं। यह सुन कर हमें बहुत आश्चर्य्य हुआ। अहिंसा बौद्ध मत का सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त है। बौद्ध लोग चिउँटी तक मारना पाप समझते हैं। पर ये लोग सब तरह का मांस खाते हैं। हमने पूछा, यह आप क्या करते हैं। कहने लगे, इसमें कोई दोष नहीं। हमें कोई बना बनाया मांस दे जावे ता उसके उत्तरदाता हम नहीं; हमें .खुद हिंसा न करनी चाहिए। हमने कहा आप हिंसा न करके भी उसके जवाबदेह हैं, क्योंकि आप के भोजनों की चिन्ता आपके चेलों को करनी पड़ती है। इसलिए मांस बेचने वालों को अधिक मांस बेचने के लिए अधिक पशु मारना पड़ते होंगे। यदि आप अपने भक्तों से स्पष्ट कह दें कि यदि मांस-भोजन तुम लोग लाओगे ता हम कदापि न ग्रहण करेंगे ता दूसरे ही दिन कितने ही जानवरों की जान बच जायेगी। और भी बहुत कुछ वार्तालाप इस विषय में हुआ। पर उनके ध्यान में कुछ न आया। तबसे हमारी इन लोगों पर एकदम श्रद्धा घट गई। चीता, सर्प इत्यादि को छोड़ कर और सब प्रकार के जान-वरों का मांस बौद्ध लोग खाते हैं। सर्प, चीता इत्यादि इस कारण नहीं खाते कि वे स्वास्थ्य को हानि-कारक होते हैं। बौद्धों के पुरोहित झोली ले कर भिक्षा माँगने को बाहर निकलते हैं। वे किसी के द्वार पर खड़े नहीं होते, न किसी से सवाल ही करते हैं। यदि किसी की दृष्टि इन पर पड़ी ता वह इन्हें बुला कर भोजन दे देता है। पर जहाँ तक होता है पका पकाया भोजन लेते हैं। पुरोहित लोग बीड़ो चुरुट सब पीते हैं। सुनते हैं कि शराब से भी कोई कोई परहेज़ नहीं करते। इन पुरोहितों की पोशाक पीली होती है। सिर घुटा हुआ। पाँव में जूते, मोज़े पहनते हैं। पान खाना पाप नहीं समझते। हाथ में छाता, लकड़ी और हवा झलने को ताड़ के पंखे लिये रहते हैं। बहुधा अपढ़ होते हैं। निठल्ले होने से बाज़ारों में घूमते दिखाई देते हैं। इनमें और भी कई दोष हैं जो हम यहाँ पर प्रकट करना उचित नहीं समझते। पर यह हाल सभी का नहीं। कई अच्छे महात्मा और विद्वान् भी हैं। कहते हैं कि कुछ वर्ष पहले स्त्रियाँ भी साधुओं की तरह विरक्त होकर मन्दिरों में रहा करती थीं। पर गोलमाल होने से अलग कर दी गईं। अब सुनते हैं, वह फिरक़ा ही जाता रहा। कोई कोई कहते हैं कि अब भी कुछ हैं, पर वे मन्दिरों में नहीं रहतीं। कोलम्बो-निवासी, हमारे एक परम मित्र, जो वहाँ बैरिस्टरी करते हैं, और जिन्हें मतमतान्तर की बातों में बड़ी रुचि है और कई पुस्तकें भी लिखी हैं, कहते थे कि बौद्ध-पुरोहितों के पास पहले बड़ी जायदाद थी, जो आपस के झगड़ों और भृष्टाचरणों के कारण नष्ट हो गई।

बौद्धों का दूसरा मन्दिर मानलङ्क कहलाता है। इस मन्दिर के प्रधान पुरोहित श्रीसुमङ्गल का देहान्त हाल ही में हुआ है, जिसको सुन कर सहस्रों बौद्ध कोलम्बो पहुँचे थे। श्रीसुमङ्गल अनुमान ८४ वर्ष के थे। वे अँगरेज़ी भी पढ़े थे। पाली भाषा के आप धुरन्धर विद्वान् थे। इनके मन्दिर में पाली भाषा का एक कालेज है, जिसके आप मुख्याध्यापक थे। इस कालेज में लङ्का के अतिरिक्त भारत, बर्म्मा, इत्यादि देशों से बौद्ध लोग पढ़ने आते हैं। कालेज की इमारत और सामान पुराने ढङ्ग का है। पास ही बोर्डिंगहौस है, जिसमें थोड़े से छात्र रहते हैं। सब छात्र ब्रह्मचारी हैं। अतएव उनका रहन-सहन साधा-रण है। कुल छात्र-संख्या २०० है। हमें एक बङ्गाली छात्र मिले, जिनसे मन्दिर इत्यादि का सब हाल मालूम
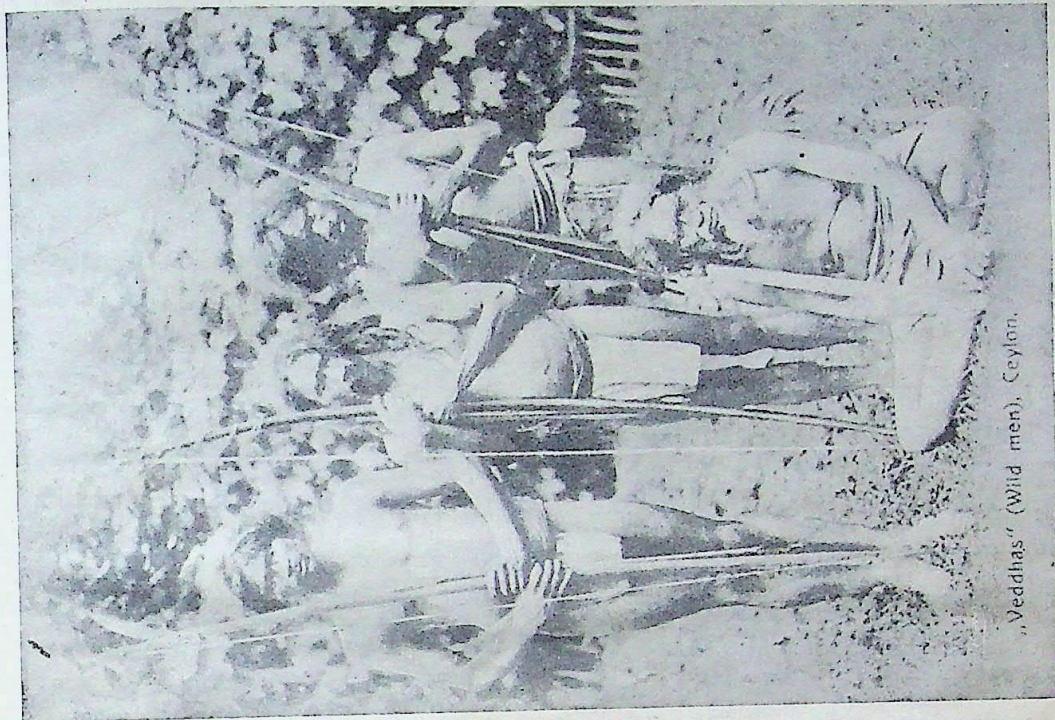
एक बौद्ध पुरोहित।

„Veddhas" (Wild men), Ceylon.

लङ्का के वेद्दा नामक जंगली आदमी।
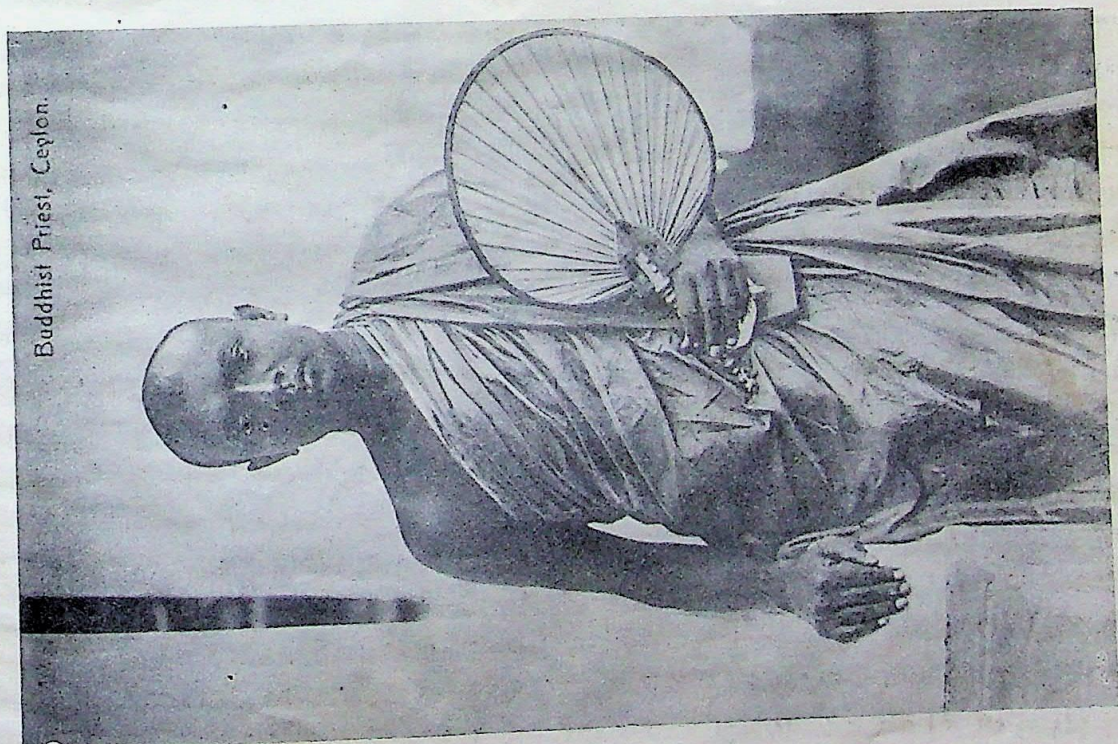
हुआ। उन्हों ने मन्दिर, पुस्तकालय, बोर्डिंगहौस इत्यादि दिखाये। श्रीसुमंगल के दर्शन भी हुए। इनसे भी मांसाहार इत्यादि विषयों पर वार्तालाप हुआ। आप उस समय बहुत कमज़ोर थे। शिष्यों का हाथ पकड़ कर चल फिर सकते थे। बौद्ध लोग इनका बहुत सत्कार करते थे। उन्हें महात्मा समझते थे। अब उनकी बराबरी का विद्वान् पुरुष नहीं रहा। हमें आपने दूसरे दिन फिर बातचीत करने को बुलाया था, पर अभाग्यवश हम नहीं जा सके। हम अपना अहोभाग्य समझते हैं जो हमें ऐसे महात्मा के दर्शन हो गये। बंगाल के महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषण छः महीने की छुट्टी लेकर श्रीसुमंगलजी के पास पाली भाषा पढ़ने गये थे। विद्याभूषणजी ख़ुद पाली के विद्वान् हैं, पर सरकार ने उन्हें इस भाषा में पक्का बनाने के लिए कोलम्बो भेजा था। बौद्धों के ग्रन्थ पाली भाषा में हैं। जो लोग पाली अच्छी तरह नहीं जानते वे इन ग्रन्थों के मर्म को नहीं समझ सकते। अतएव शुद्ध पाली सीखने का स्थान कोलम्बो है। कोलम्बो पाली के लिए नदिया या काशी है। सतीश बाबू ने लौट कर बौद्ध धर्म और उनके आचरणों पर कलकत्ते की रायल एशियाटिक सोसायटी में एक व्याख्यान दिया था। यह व्याख्यान हमने कोलम्बो के समाचार-पत्रों में पढ़ा था। उसमें बौद्ध पुरोहितों की बेहद प्रशंसा थी। काशी और गया के पंडो पर अच्छी झाड़ थी। अवकाश न होने से हम उस व्याख्यान का उत्तर न लिख सके। हम कह चुके हैं कि बौद्धों में कई अच्छे विद्वान् हैं और उनके आचरण भी प्रशंसनीय हैं, पर यह भी सच है कि वे सब श्रीसुमंगल नहीं हैं। उनमें कितने ही मूर्ख और बौद्ध धर्म के पवित्र नाम पर धब्बा लगाने वाले हैं। वे सांसारिक लोगों से भी गये बीते हैं।

लङ्का-द्वीप में एक प्राचीन स्थान अनुरुद्धपुर समझा जाता है। यह अब एक छोटा सा क़सबा है। सिंहली राजाओं की यह राजधानी थी। यहाँ कई बौद्ध मन्दिर हैं जो अब नाम मात्र के मन्दिर हैं। उनमें से कई धरती में धँस गये हैं। पर फिर भी बहुत कुछ बाक़ी हैं। पृथ्वी भर के बौद्ध लोग इस स्थान के दर्शनों को जाते हैं। कोलम्बो से यह कोई १३० मील की दूरी पर है। इस पर कोई ९० राजाओं का राज्य रहा। अब यहाँ पुराने मन्दिरों की कोई वस्तु देखने योग्य नहीं है। जो मन्दिर हैं वे बड़े विचित्र हैं। उनकी कारीगरी देख चित्त बहुत प्रसन्न होता है।

रावण की लङ्का।

इस विषय पर हमने बहुत खोज की, पर कुछ ठीक पता न चला। हमारे मित्र ने, जिनका हवाला हम ऊपर दे चुके हैं, कुछ इसका हाल बताया। इन्हें प्राचीन वस्तुओं से असीम प्रेम है। सदैव इसी खोज में रहते हैं। इन्होंने कहा कि लङ्का द्वीप का नाम नहीं है। लङ्का नगर का नाम है, जहाँ रावण रहा करता था। पर अब वहाँ राम, रावण के युद्धों के कोई चिह्न नहीं हैं। लङ्का नगर उजाड़ है। वहाँ की कुछ धरती काली है। लोग कहते हैं कि वह यही स्थान है जिसे हनुमानजी ने जलाया था। पर यह सब अनुमान मात्र है। कोई प्रामाणिक आधार नहीं है। बड़े बड़े इतिहासवेत्ताओं ने खोज की, पर कुछ हाथ न आया। सहस्रों वर्ष के निशान कहाँ तक बाक़ी रह सकते हैं? पर बहुत से लोगों में राम, रावण की कथा अभी तक प्रसिद्ध है। लङ्का में बिभीषण के नाम का मेला भी लगता है। रामलीला का प्रचार यहाँ भी है। हमारे मित्र के कथनानुसार लङ्का में सहस्रों वर्ष पूर्व एक महाबली राजा था, जिसका उस समय के जंगली लोगों पर पूरा अधिकार था। ये जंगली लोग बड़े लड़ाके और भयानक थे। यही शायद रामायण के राक्षस थे। लङ्काद्वीप के जंगली हिस्सों में अभी तक ये लोग भयानक रूप में दिखाई देते हैं। वे बड़े मज़बूत, काले और ऊँचे पूरे होते हैं। तीर कमठा उनके शस्त्र हैं। वे प्रायः नंगे रहते हैं। बाहरी लोगों को देख कर वे जंगल को भाग जाते हैं। इनकी भाषा सिंहली है।

पर इसमें बहुत से जंगली शब्द मिश्रित हैं। असली सिंहली भाषा में संस्कृत के अनेक शब्द पाये जाते हैं। हमारे मित्र का कहना है कि सिंहली लोग सिंह-भूमि से आये होंगे। इस पर उन्होंने बड़ा पाण्डित्य दिखाया है। कई निबन्ध और पुस्तकें लिखी हैं। आप अब किरिस्तान हैं। पर आपके पूर्वज हिन्दू थे।

उपसंहार ।

लङ्कावासी बहुधा काले होते हैं। वे प्रायः सभी बौद्ध हैं। भाषा सिंहली है । उत्तर के निवासी कुछ गोरे होते हैं। वहाँ और भागों की अपेक्षा ठंड रहती है। पोर्चुगीज़ों का राज्य रहने से बहुत लोग किरिस्तान हो गये थे। ख़ास कोलम्बो के लोग अच्छे शिक्षित हैं। लङ्का में कई कालेज हैं, जो मद्रास विश्वविद्यालय से सम्बन्ध रखते हैं। पर बहुत से कालेज विलायती विश्वविद्यालयों से सम्बन्ध रखते हैं। कोलम्बो से दो अँगरेज़ी दैनिक पत्र निकलते हैं। यहाँ हाईकोर्ट है, लेजिसलेटिव कौंसिल है, और गवर्नर रहता है। लङ्का का क़ानून हमारे क़ानून से भिन्न है। सिक्का, रुपया है; पर अठन्नी, चवन्नी, दुअन्नी के बदले दूसरे सिक्के हैं जो फ़्रांस वग़ैरह से मिलते हैं। अठन्नी पचास सांती के बराबर होता है। स्टैम्प की शकल भी कुछ अलग रहती है। लङ्का मुक्ति-फ़ौज (Salvation Army) का बड़ा अड्डा है। यहाँ का अजायबघर बहुत अच्छा है। इसमें जंगली लोगों के नमूने हैं। उन वस्तुओं के नमूने भी हैं जो इस द्वीप में पाई जाती हैं या पैदा होती हैं। लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी की यहाँ भी शाखा है। इसमें पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। ऐसी लाइब्रेरी हमने भारत में बहुत कम देखीं। कोलम्बो के बाहरी महल्ले भी अच्छे हैं। यहाँ बहुधा अँगरेज़ या वहाँ के धनाढ्य लोग रहते हैं। कोलम्बो मँहगी जगह है। कम से कम पाँच रुपये रोज़ मामूली ख़र्च है। इतने में होटल और खाने पीने का ख़र्च चल सकता है। रिकशा तथा दूसरी गाड़ियों का ख़र्च अलग है। ट्रेन होने से आने जाने का अच्छा सुभीता है; नहीं तो गाड़ी और रिकशावाले मनमाना किराया लेते। कोलम्बो ख़र्च में विलायत से भी बढ़कर है। लोग बहुधा चावल खाते हैं। पान खाने के भी बहुत शौक़ीन हैं। स्त्री-पुरुष साग-पात की तरह पान चबाते हैं। यहाँ वेद्दा जाति की संख्या अधिक है। ये लोग हर तरह की टहल करते हैं। कोई कोई वेद्दा मूँछ मुड़ाते और स्त्रियों की भाँति लम्बे बाल रखते हैं। बालों में घोड़े के नाल के आकार की एक सीप की कंघी लगाते हैं। इस कंघी का खुला भाग सामने माथे पर रहता है जो देखने में विचित्र मालूम होता है। कभी कभी ऐसा जान पड़ता है जैसे सिर पर सींग निकले हों। बालों को ये लोग ख़ूब साफ़ रखते हैं। कंघी उनकी टिकली या कुमकुम है। बिना इसके वे बुरे दीखते हैं। कंघी इनकी ख़ूबसूरती को बढ़ाती है। धोती बिना काछ की पहनते हैं। एक छोटा साफ़ टुकड़ा कमर से पैरों तक लपेट लेते हैं। आँखों में सुरमा भी लगाते हैं। हम और हमारे कई साथियों ने जब इनमें से कुछ लोगों को जहाज़ पर देखा तब कुछ समझ में न आया कि ये स्त्री हैं या पुरुष। रात थी, इससे और भी भ्रम होगया। सवेरे जब अच्छी तरह पूछा और देखा तब मालूम हुआ कि ये मर्द हैं; पर ज़बरदस्ती स्त्री बनने का शौक़ रखते हैं। रंग इनका काला है। विलायत में सफरेजिस्ट मर्द बनना चाहती हैं; यहाँ वेद्दा (Vedda) लोग औरत बनना चाहते हैं। अजब दुनिया है। ईश्वर को इन पर रहम करना चाहिए। इस परिवर्तन से उसकी कुछ हानि न होगी। शायद इस रद्दोबदल पर भी स्त्री-पुरुष की संख्या बराबर ही रहे: या घटे बढ़े भी तो बहुत कम।

प्यारेलाल मिश्र।

नर-जन्म की सार्थकता।

(१)

विद्या पढ़ो विशेष, कलायें सीखो सारी;
राजमान्य हो बनो उच्चपद के अधिकारी।
धन-बल-प्रभुता-युक्त लहो सातो-सुख, भाई!
व्यर्थ सकल; कर सके न यदि तुम जाति-भलाई॥

(२)

जिस कुल में हो जात जगत में ख्यात हुए हो ;
जिसमें रह कर भ्रात ! एक से सात हुए हो ।
उसका उदय-उपाय, हाय ! यदि तुम्हें न भाया ,
व्यर्थ हुआ नर-जन्म; हुई निष्फल यह काया ॥

(३)

बने धनी विद्वान् मान्यवर पृथ्वीस्वामी,
पाकर प्रतिभापूर्ण बने कवि लेखक नामी ।
जाति बन्धु धनहीन; अविद्या घर में छाई;
आया फिर किस काम तुम्हारा वैभव भाई !

(४)

निज-पुरुषों ने जहां शान्ति से वास किया था;
कर विद्या, धन प्राप्त सुकर्म-विकास किया था ।
जिसके शुभोपकार तुम्हारे ऊपर अति हैं;
क्या न लेश कर्तव्य तुम्हारा उसके प्रति है ?

(५)

जिस भू का जल-वायु आयुवर्द्धक अविकारी ,
जिसका शुचि शाकान्न प्राण-तनु-रक्षा-कारी ।
हो जिसकी यह धूल फूल की सी मृदु शय्या;
उसके ऋण का ध्यान भूल मत जाना,भैया ॥

(६)

हर्षयुक्त दस मास गर्भ में तुमको धारा;
त्यागा भोजन-शयन, सदा सह कर दुख सारा ।
सीखो उसके दिव्य-दान का आदर करना—
मातृभक्त बन सतत दुःख माता का हरना ॥

(७)

घर की उन्नति बिना न होती जाति-भलाई ;
बिना जाति-हित कहाँ देश की उन्नति भाई ।
देश-समुन्नति बिना शान्ति देता न विधाता ;
घर की उन्नति करो; वही सब सुख की दाता ॥

(८)

देश-बन्धु-उत्कर्ष-हर्ष से जो नहिँ फूला ;
करने में परमार्थ स्वार्थ को जो नहिँ भूला ।
दीन-दुःख को देख न जिसने अश्रु बहाया ;
वह केवल भू-भार रूप बन जग में आया ॥

(९)

हिल मिल जिसने प्रेम-सहित कर्त्तव्य न साधा ;
क्षण क्षण में जो कुटिल उपस्थित करता बाधा ।
पर-निन्दा, छल, कपट, द्वेष में जो है भूला ;
वह जन वृथा मनुष्य-जन्म के मद में फूला ॥

(१०)

बन्धु-वर्ग को प्यार न करना जिसने सीखा ;
विनय-युक्त व्यवहार न करना जिसने सीखा ।
जाति-देश-उपकार न करना जिसने सीखा ;
जन्म हुआ निःसार—न मरना उसने सीखा ॥

(११)

क्रोध,विरोध बिसार एकता-तन्तु बढ़ा कर ;
गिरे हुए निज बन्धु-वर्ग को उच्च चढ़ा कर ;
हिंसा तज, जो धर्म-सहित नित चल सकता है ;
उसके ही जग बीच जन्म की सार्थकता है ।

लोचनप्रसाद पाण्डेय ।

पानी के भीतर चलनेवाले धूमपोत ।

युद्ध के लिए पश्चिमी देशों की तैयारियों का वर्णन पढ़ते समय "सब्‌मरीन" नाम के धूमपोतों का जगह जगह पर उल्लेख मिलता है । ये धूमपोत पानी के ऊपर ही नहीं, भीतर भी चलते हैं । यों तो और धूमपोतों की तरह ये सदा समुद्र के ऊपर ही रहते हैं; परन्तु, आवश्यकता होने पर, पानी के भीतर इन्हें डुबो कर, बिना किसी की नज़र पड़े, नीचे ही नीचे, जहाँ इच्छा होती है ले जाते हैं ।

बीच में ये मोटे होते हैं । बीच की मुटाई दोनों तरफ़ को धीरे धीरे कम होती जाती है । अन्त को दोनों छोरों पर बहुत ही कम हो जाती है । ये सौ डेढ़ सौ फ़ीट लंबे होते हैं । वज़न इनका तीन हज़ार से लेकर पाँच हज़ार मन तक होता है । इनके ऊपर सब तरफ़ लोहे की मोटी चादर जड़ी रहती है । ये

पोत सब तरफ़ से बन्द रहते हैं। केवल बीच में एक द्वार रहता है; उसी से आदमी भीतर बाहर जाते आते हैं। जब इन पोतों को पानी के भीतर डुबकी लगाने की ज़रूरत पड़ती है तब यह दरवाज़ा भी बन्द कर दिया जाता है। वह इतना पक्का बैठ जाता है कि पानी का एक बूँद भी भीतर नहीं जा सकता।

पानी के भीतर ले जाने के पहले इन धूमपोतों का वज़न अधिक करने की ज़रूरत पड़ती है। बिना उनका भारीपन अधिक हुए वे पानी के भीतर नहीं ठहर सकते। इस कारण इनके भीतर एक ख़ास जगह में कुछ छेद रक्खे जाते हैं। वे बन्द रहते हैं। ज़रूरत पड़ते ही वे सब खोल दिये जाते हैं। उनकी राह से समुद्र का पानी भीतर आ जाता है ग्रैार जहाज़ का वज़न बढ़ जाता है। यह पानी लोहे के बड़े बड़े पीपों में भरता है, जो इसी काम के लिए रहते हैं। इसके सिवा ग्रैार भी कुछ ऐसा प्रबन्ध रहता है जिससे ये पोत नीचे को ग्रैार भी अधिक गहरे पानी में पहुँचाये जा सकते हैं; अथवा आवश्यकता होने पर ऊपर उठाये जा सकते हैं।

जैसे एंजिन मोटर गाड़ियों में लगते हैं वैसे ही इनमें भी लगते हैं। इनमें भी पेट्रोलियम तैल जलाया जाता है। उसी से वे चलते हैं। पानी काटने के लिए मामूली अग्निबोटों में जैसे पंखे रहते हैं वैसे ही इनमें भी पीछे की ग्रोर रहते हैं।

पाठकों को यह सन्देह हो सकता है कि यदि ये पोत सब तरफ़ से बंद रहते हैं तो पानी के भीतर आदमी, बिना हवा के, जी कैसे सकता है? परन्तु अर्वाचीन विज्ञान ने इस तरह की विघ्न-बाधाओं को दूर कर दिया है। प्रत्येक धूमपोत में कोई बारह आदमी रहते हैं। उनके श्वासोच्छ्वास के लिए निर्मल वायु दरकार होती है। ऐसी वायु बड़े बड़े पात्रों में .ख़ूब दबाकर भरी जाती है। वे पात्र पोत के भीतर एक स्थान-विशेष में रक्खे रहते हैं। उन्हीं से थोड़ी थोड़ी वायु बाहर निकला करती है। वही श्वासोच्छ्वास के काम आती है। जो वायु श्वास से ख़राब हो जाता है उसे पम्पों में भर कर बाहर समुद्र के पानी में निकाल देते हैं। यह व्यवस्था बड़ी चतुरता ग्रैार .ख़ूब समझ बूझकर की जाती है। तथापि ऐसी बन्द जगह में रहने की आदत डालने के लिए ख़लासियों को बहुत दिन तक वहाँ रहना पड़ता है।

पानी के भीतर चलने वाले इन धूमपोतों का मुख्य काम यह होता है कि लड़ाई के समय शत्रु के लड़ाकू जहाज़ों पर टारपीड़ो नामक एक भयङ्कर नैाका की टक्कर मार कर ये उन्हें उड़ा देते हैं। अच्छा, तो, ये धूमपोत लड़ाई के समय पानी के भीतर चलते हैं ग्रैार लड़ाकू जहाज़ पानी के ऊपर। फिर इनको यह कैसे मालूम हो जाता है कि शत्रु का जहाज़ कहाँ पर है। इसके लिए एक बड़ी ही विलक्षण युक्ति निकाली गई है। वह युक्ति पेरिग्रोस्कोप नामक एक यंत्र का आविष्कार है। धूमपोत की पीठ पर एक लंबी नली रहती है। वह खड़ी लगी रहती है। उसके ऊपर एक काँच रहता है। पानी के भीतर धूमपोत के चले जाने पर भी इस नली का अग्रभाग पानी के ऊपर निकला रहता है। आस पास के पदार्थ-समुदाय के ऊपर से आने वाले प्रकाश-किरण इस नली के अग्रभाग वाले काँच पर प्रतिफलित होकर नली की राह से पोत के भीतर चले जाते हैं। वहाँ काग़ज़ का एक तख़्ता फैला रहता है। उस पर समुद्र-तल के आसमंताद्भाग का प्रतिविम्ब पड़ता है। उससे यह साफ़ मालूम हो जाता है कि जिस जहाज़ पर टारपीड़ो मारना है वह कहाँ पर है। यह पेरिग्रोस्कोप मानों इस धूमपोत की आँख है। टारपीड़ो मारने का काम भी दबाकर रक्खी गई हवा से किया जाता है। टारपीड़ो छोड़ने के बाद, अथवा आवश्यकता होने पर यों भी, धूमपोत को पानी के ऊपर लाने के लिए, भीतर भरे हुए पानी के पीपों को ख़ाली करना पड़ता है। वह सारा पानी पम्पों से बाहर निकाल दिया जाता है। यह काम भी दबाकर रक्खी गई हवा की सहायता से होता है।

लड़ाकू जहाज़ पानी के ऊपर रहता है, सब् मरीन धूम-पोत पानी के भीतर। इस दशा में टारपीड़ो को इस तरह छोड़ना कि वह ठीक निशाने पर लगे बड़ा कठिन काम है। बहुत सोच समझ कर और हिसाब लगा कर भीतर से टारपीड़ो की वार की जाती है। पेरिश्रोस्कोप से जहाज़ का स्थान तो ज़रूर मालूम हो जाता है, परन्तु ठीक उसी जगह पर टारपीड़ो मारने से वह जहाज़ पर नहीं लगती। जहाज़ समुद्र के ऊपर रहता है और चलता जाता है। उसका वेग समुद्रान्तर्गामिनी सब् मरीन के वेग की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। अतएव जहाज़ और सब् मरीन के वेग, तथा टारपीड़ो के वेग का भी हिसाब लगा कर जहाज़ के कुछ दूर आगे लक्ष्य बाँध कर निशाना लगाया जाता है। हिसाब ठीक होने से टारपीड़ो की ठोकर जहाज़ पर लगती है। ठोकर लगते ही टारपीड़ो का स्फोट होता है और जहाज़ के टुकड़े टुकड़े होकर वह डूब जाता है। निशाना चूकने से टारपीड़ो का प्रहार व्यर्थ जाता है।

इस सब्मरीन धूमपोत का अन्तर्भाग मनुष्य की कल्पना-शक्ति का बड़ा ही उत्कृष्ट उदाहरण है। पर खेद इस बात का है कि यह शक्ति युद्ध में मनुष्यों का संहार करने के काम में लाई जाती है। इस पोत के भीतर वायु-परीक्षक यंत्र रहते हैं। पानी के भीतर पोत के जाने पर यन्त्रों की सहायता से वायु की परीक्षा की जाती है कि वह श्वासोच्छ्वास के लिए यथेष्ट शुद्ध है या नहीं। तिस पर भी अनेक दुर्घटनायें होती हैं। ऐसे पोत यदि कदाचित् समुद्र के ठेठ तल-प्रदेश तक पहुँच जाते हैं तो फिर उनको ऊपर उठाना कठिन हो जाता है। वे जहाँ के तहाँ ही पड़े रह जाते हैं और तद्गत मनुष्यों के प्राण गये बिना प्रायः नहीं रहते। उनको ऊपर निकालने के लिए एक विशेष प्रकार की अलग ही नौकायें बनाई गई हैं। तथापि उनकी सहायता से भी मनुष्यों के प्राण बहुत कम बचते हैं। ऐसा प्रसङ्ग पड़ने पर इन सब्मरीन धूमपोतों के भीतर के मनुष्यों की प्राणरक्षा के लिए एक विलक्षण शिरस्त्राण तैयार किया गया है। इसमें श्वास से अशुद्ध हुई हवा आपही आप शुद्ध होकर फिर श्वासोपयोगिनी हो जाती है। यदि किसी दुर्घटना के कारण यह धूमपोत समुद्र की तह पर बैठ जाता है तो इसके भीतर के ख़लासी इस शिरस्त्राण को सिर पर बाँधते हैं। उस पर "लाइफ़-बेल्ट" नाम का एक पट्टा लगा रहता है। वह कभी डूबता नहीं, सदा पानी पर तैरा ही करता है। शिरस्त्राण को सिर पर रख कर ख़लासी इस पट्टे को बाँधते हैं। फिर वे सब्मरीन का दरवाज़ा खोल देते हैं। ऐसा करने से वे आपही आप ऊपर को उठते हैं और पानी की सतह पर आ जाते हैं।

आज तक इन सब्मरीन पोतों पर ऐसे तारयंत्र न थे जिनके द्वारा समुद्र तट पर रहने वाले अधिकारियों, अथवा अपनी गवर्नमेंट के अन्यान्य जहाज़ों के अफ़सरों, से बातचीत की जा सके। परन्तु, अब यह बाधा भी दूर हो गई है। अब बिना तार की तार-वर्क़ी के यंत्र ऐसे पोतों पर भी रक्खे जाने लगे हैं। सब्मरीन की पीठ पर दो दो तीन तीन लकड़ियों को एकत्र करके दो तीन जगह उन्हें बाँध कर खड़ा कर देते हैं। उन्हीं के ऊपर तार खींच कर लगा देते हैं। तारयंत्र पोत के भीतर रखते हैं। इस प्रबन्ध से सब्मरीन समुद्र के तल तक जाकर डूब ही क्यों न गई हो, उसके अधिकारी किनारे के अधिकारियों अथवा अन्य धूमपोतों से बात-चीत कर सकते हैं।

भिन्न भिन्न राष्ट्रों के समुद्रान्तर्गामी पोत भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। उनकी रचना गुप्त रक्खी जाती है। तथापि यहाँ पर उनका जो वर्णन दिया गया है उससे उनकी रचना आदि का बहुत नहीं, तो थोड़ा सा ही अन्दाज़ा अवश्य किया जा सकेगा।

कुछ समय से इस बात का विचार हो रहा है कि ऐसे धूमपोतों का उपयोग समुद्र के तल-देश की परीक्षा के लिए करना चाहिए। यदि ऐसा हो तो बहुत लाभ होने की सम्भावना है—

"बालबोध।"

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन।

(१)

होते हैं सम्मिलित कहीं जब भाई भाई,
होता है वह समय, कहो, कितना सुखदायी ?
अहो भाग्य ! वह समय आज हमने पाया है ;
यह शुभ दिन फिर एक वर्ष पीछे आया है।

क्या कुछ कुछ भिन्नाचार से भ्रातृ-भाव मिटता कभी।
हम जब कि एकदेशीय हैं भाई भाई हैं सभी ॥

(२)

नहीं एक देशीय एक भाषा-भाषी भी,
एक हृदय से एक विषय के अभिलाषी भी ;
दूर दूर से आज यहाँ एकत्र हुए हम ;
हो सकता बन्धुत्व और क्या इससे उत्तम ?

हाँ एक-व्यक्ति-गत ही नहीं काम एक भी आज का ;
हित अवलम्बित है एक सा यहाँ समस्त समाज का ॥

(३)

कैसे कैसे भाव आज उठ रहे यहाँ है ?
क्या ही प्रेमालाप हो रहे जहाँ तहाँ हैं।
"एक वर्ष हो गया, रहे कैसे क्या करते ?"
इसी तरह के प्रश्न यहाँ सब ओर विचरते।

है थोड़ा जो कुछ आज हम नवोत्साह मन में धरें,
निज लाभालाभ विचार कर भावी का निश्चय करें ॥

(४)

ज्ञानालोक विशेष बढ़ेगा जिसके द्वारा,
उन्नति के सिर देश चढ़ेगा जिसके द्वारा,
बन कर विज्ञ, असंख्य अशिक्षित बन्धु हमारे,
जिसके द्वारा प्राप्त करेंगे सद्गुण सारे।

उस हिन्दी की हित-कामना हम को लाई है यहाँ ;
इस सम्मेलन की सिद्धि पर विपुल बधाई है यहाँ ॥

(५)

हिन्दी क्या है ? सुनो मातृ-भाषा है अपनी,
उन्नति की अत्यन्त अटल आशा है अपनी।
यदि माता जग बीच जन्मदात्री है अपनी,
तो हिन्दी वात्सल्यमयी धात्री है अपनी।

बस इसके द्वारा ही प्रकट होता मनोविचार है ;
कम नहीं मातृ-ऋण से कभी इसके ऋण का भार है ॥

(६)

अब बहु-भाषाभिज्ञ भले ही हम कहलावें ;
पर वह शैशव-समय कभी हम भूल न जावें।
जब अम्बा-पद-निकट पहुँच घुटनों से चल के,
कहते थे—"माँ, दूध"—तोतले बचन मचल के।

तब "मिल्क" शब्द आकर हमें दूध दिलाता था नहीं ;
होती न मातृ-भाषा कहीं हम भूखों मरते वहीं ॥

(७)

हिन्दी को केवल न मातृभाषा ही मानो,
व्यापकता में उसे देश-भाषा भी जानो।
होगी मन की बात परस्पर ज्ञात न जौलों,
होकर भी हम एक भिन्न ही से हैं तौलों।

बस हिन्दी ही यह भिन्नता दिन दिन करती दूर है ;
निःशेष शक्तिमय ऐक्य को भरती यह भरपूर है।

(८)

जिस हिन्दी की प्रकट हो रही गुरुता ऐसी,
सोचो तो साहित्य-दशा उसकी है कैसी ?
बड़ा दुःख है हाय ! उधर सन्तोष नहीं है,
पर क्या इसके लिए हमीं पर दोष नहीं हैं ?

बहु पुत्रों के होते हुए माता की सेवा न हो ;
तो होगा उसका दोष क्या माता के ऊपर अहो !

(९)

जो हिन्दी-साहित्य समुन्नत कर सकते हैं ;
निज भाषा-भाण्डार भली विध भर सकते हैं ;
अब तक उनका इधर यथोचित ध्यान नहीं है ;
अन्य जनों में शक्ति और वह ज्ञान नहीं है ॥

हैं हममें कितने योग्य जन उनको गिनिए तो सही,
जो रोना पहले था हमें प्रायः अब भी है वही !

(१०)

सच कहते भी हाय ! दुःख होता है दूना ;
हिन्दी का साहित्य-सदन अब भी है सूना।
बन कर भी दस बीस ग्रन्थ-वाटिका-मालिनी,
कहला सकती कौन जाति साहित्य-शालिनी ?

जिस हिन्दी को अब राष्ट्र की भाषा मान रहे सभी ,
क्या उसका स्वल्पोत्थान भी सन्तोषप्रद है कभी ?

(११)

हैं प्रान्तिक बोलियाँ मराठी, बँगला, फिर भी,
हिन्दी उनके निकट उठा सकती क्या सिर भी ?
जो उर्दू बदनाम आशिक़ाना नालों से
रखती है साहित्य-गर्व हिन्दीवालों से !

जो सबसे उन्नत चाहिए है सब से अवनत वही ;
क्या अब हम में पुरुषत्व की शेष न कुछ मात्रा रही ?

(१२)

हिन्दी के जो लोग सुलेखक कहलाते हैं ;
प्रायः वे सब भिन्न भिन्न मत फैलाते हैं ;
मत-विभिन्नता बुरी नहीं, वह खोज कराती
पर हममें वह पक्षपात के पीछे आती ।

यदि रखता एक विभक्त है प्रत्यय और विभक्ति को ;
तो उन्हें मिला कर दूसरा दिखलाता निज शक्ति को ॥

(१३)

व्यर्थ-वाद के लिए कौन है अपना सानी ?
कहदे कोई एक बात फिर हमने जानी ;
एक ओर से सभी पत्र काले कर डालें ।
खींच खांच कर हाल बाल की खाल निकालें ।

हम दौड़ पड़ें दल बाँध कर वाग्बाणों की वृष्टि हो ;
सौजन्यनाश को प्राप्त हो कटूक्तियों की सृष्टि हो ॥

(१४)

नये नये बहु पत्र यदपि हैं नित्य निकलते ;
पर उनमें से अधिक चार ही दिन हैं चलते ।
इसका कारण नहीं पाठकों का अभावही ;
वे समाज पर डाल नहीं सकते प्रभावही ।

कुछ इधर उधर से नक़ल कर काम चलाना और है ;
पर भावों पर अधिकार कर आदर पाना और है ॥

(१५)

इने गिने ही पत्र हमारे ऐसे होंगे;
औरों के सम्मान्य सैकड़ों जैसे होंगे ।
सच तो यह है कि जो सुमन जैसे सुरभित हैं,
बस वैसे ही मधुप विमोहित उनके हित हैं ।

सो पत्रों से भी हो सका समुचित लाभ नहीं अभी;
पर हाँ, विज्ञापन-वीर वे बन बैठे प्रायः सभी ॥

(१६)

ग्रन्थकार अधिकांश हमारे अनुवादक हैं;
बहुतों के निज भाव मद्य से भी मादक हैं ।
उपन्यास जो यहाँ प्रकाशित होते इतने
हैं उनमें से कहो, सुरुचि-सम्पादक कितने ?

मुझको जो चाहें दण्ड दें किसी पात्र के व्याज से;
पर उपन्यास-कर्ता न यों बे सुध रहें समाज से ॥

(१७)

कविता का भी यही हाल हो रहा यहाँ है;
तुकबन्दी ही निरी दीखती जहाँ तहाँ है ।
प्रतिभाशील मनुष्य इधर कुछ दया दिखाते;
तो मुझ से मतिमन्द मनुज क्यों कवि कहलाते ?

कर्तव्य-कर्म में योग्य जन उदासीन रहते जहाँ,
है प्रायः ऐसी ही दशा दिखलाई पड़ती वहाँ ॥

(१८)

सच्चे और सु-योग्य समालोचक भी कम हैं;
पक्षपात है जहाँ वहाँ क्या न्याय-नियम हैं ?
ज़रा देखिए, समालोचना की विचित्रता
यही निभाती यहाँ शत्रुता और मित्रता !

जिन बातों को निज लेख में हैं वे भूषण जानते;
उनको औरों के लेख में वे ही दूषण मानते !!!

(१९)

कहीं काम का समय कलह अपना खोता है;
कहीं वही प्राचीन पिष्टपेषण होता है ।
कहीं अर्थ के चोर महाजन बने अकड़ते;
कहीं सुवर्ण-समूह देख कर डाके पड़ते ।

हम, जिनके ऐसे काम हैं, बीड़ा लिये सुधार का !
क्या हमें प्रचार अभीष्ट है ऐसे ही आचार का ?

(२०)

कर के बस प्रस्ताव चैन से हम सोते हैं;
पर विचार से काम कहीं पूरे होते हैं ?
हम लोगों ने एक अनोखा स्वाँग रचा है;
हिन्दी में इन दिनों अजब अन्धेर मचा है ।

पर अब भी मिल कर हम सभी काम करें जो प्रेम से,
तो हिन्दी निज पद शीघ्र ही पावे कुशल-क्षेम से।

(२१)

हिन्दी का साहित्य न पूरा होगा जौलों;
पूर्णोन्नति का द्वार खुलेगा कभी न तौलों
अभी हमारे लिए बहुत से विषय नये हैं;
हिन्दी में सद्ग्रन्थ न जिन पर लिखे गये हैं।

है समय आज विज्ञान का होती खोज नई नई;
पर हिन्दी में इस विषय की कितनी चर्चा की गई ?

(२२)

किसी जाति की ठीक दशा साहित्य बताता;
चित्रित उसका चरित उसी में होता जाता।
यदपि नहीं हैं आज हमारे पूर्वज प्यारे;
पर संस्कृत-साहित्य भाव है उनका धारे।

वह नष्ट हुआ बहु वार, पर है अब भी अतुलित बना।
सोचो तो प्यारे भाइयो ! उसका वह उन्नतपना॥

(२३)

ऐसा भी शुभ समय कभी हम देख सकेंगे
जब हिन्दी-साहित्य समुन्नत लेख सकेंगे।
आओ ! इसके लिए करें हम यत्न हृदय से
डरें न हरगिज़ कभी कोटि विघ्नों के भय से।

रुक सकता आवश्यक गमन कांटों के डर से कहीं ?
करना चाहें तो विश्व में हम क्या कर सकते नहीं ?

(२४)

इस प्रबन्ध में स्वयं मुझे कटुता का भय है;
क्षमा कीजिए उसे अन्त में यही विनय है।
गुण न देख कर मनुज प्रथम निज दोष विचारे,
दोष-निदर्शन किन्तु क्यों न कुछ कटुता धारे ?

जो हो अब हम सब सजग हो हिन्दी-हित साधन करें;
विश्वेश्वर बल देकर हमें सकल विघ्न-बाधा हरें॥

मैथिलीशरण गुप्त।

पाताल-प्रविष्ट पाम्पियाई नगर।

किसी समय विसूवियस पहाड़ के पास इटली में एक नगर पाम्पियाई था। रोम के बड़े बड़े आदमी इस रमणीय नगर में अपने जीवन का शेषांश व्यतीत करते थे। हर एक मकान चित्रकारियों से विभूषित था। दुकानें इन्द्रधनुष के समान तरह तरह के रंगों से रँगी हुई नगर की शोभा को और भी बढ़ा रही थीं। हर सड़क के छोर पर छोटे छोटे तालाब थे, जिनके किनारे भगवान् मरीचि-माली के उत्ताप को निवारण करने के लिए यदि कोई पथिक थोड़ी देर के लिए बैठ जाता था तो उसके आनन्द का पार न रहता था। जब लोग रंगबरंगे कपड़े पहने हुए किसी स्थान पर जमा होते थे तब बड़ी चहल पहल दिखाई देती थी। कोई कोई संगमरमर की चौकियों पर, जिनपर धूप से बचने के लिए पर्दे टँगे हुए थे, बैठे दिखाई पड़ते थे। उनके सामने सुसज्जित मेज़ों पर नाना प्रकार के स्वादिष्ठ भोजन रक्खे जाया करते थे। गुलदस्तों से मेज़ें सजी रहती थीं। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि वहाँ का छोटे से छोटा भी मकान सुसज्जित महलों का मान-भंग करनेवाला था। वहाँ का झोंपड़ा भी महल नहीं, स्वर्ग था।

यहाँ पर हम केवल एकही मकान का थोड़ा सा हाल लिख कर पाठकों को बताना चाहते हैं कि पाम्पियाई उस समय उन्नति के कितने ऊँचे शिखर पर आरूढ़ था। पाम्पियाई में घुसते ही एक मकान दृष्टिगोचर होता था। उसकी बाहरी दालान रमणीय खम्भों की पंक्ति पर सधी हुई थी। दालान के भीतर घुसने पर एक बड़ा लम्बा चौड़ा कमरा मिलता था। वह एक प्रकार का कोशगृह था। उसमें लोग अपना अपना बहुमूल्य सामान जमा करते थे। वह सामान लोहे और ताँबे के संदूक़ों में रक्खा रहता था। सिपाही चारों तरफ़ पहरा दिया करते थे। रोमन-देवताओं की पूजा भी इसी में

हुआ करती थी। इस कमरे के बराबर एक और कमरा था। उसमें मेहमान ठहराये जाते थे। उसी में कचहरी थी। इससे भी बढ़ कर एक गोल कमरा था। उसके फ़र्श में संगमरमर और संगमूसा का पच्चीकारी का काम था। दीवारों पर उत्तमोत्तम चित्र अङ्कित थे। इस कमरे में पुराने इतिहास और राज्यसम्बन्धी काग़ज़ात रहते थे। यह कमरा बीच से लकड़ी के पर्दों से दो भागों में बँटा हुआ था। दूसरे भाग में मेहमान लोग भोजन करते थे। इसके बाद देखनेवाला यदि दक्षिण की तरफ़ फिरता तो एक और बहुत बड़ा सजा हुआ कमरा मिलता था। उसमें सोने का प्रबन्ध था। कोचें बिछी हुई थीं। उन पर तीन तीन फ़ीट ऊँचे रेशमी गद्दे पड़े रहते थे। इसी कमरे में दीवार के किनारे किनारे अलमारियाँ रक्खी थीं। उनमें बहुमूल्य रत्न और अन्यान्य आश्चर्यजनक प्राचीनकाल की चीज़ें रक्खी रहती थीं। इस मकान के चारों तरफ़ एक बड़ा ही मनोहारी बाग़ीचा था। जगह जगह पर फ़ौवारे अपने सलिल-सीकर बरसाते थे। उनकी बूँदें बिल्लौर के समान चमकती हुई भूमि पर गिर कर बड़ाही मधुर शब्द पैदा करती थीं। फ़ौवारे के किनारे किनारे माधवीलतायें कलियों से परिपूर्ण शरदृऋतु की चाँदनी का आनन्द देती थीं। फ़ौवारों के कारण दूर दूर तक की वायु शीतल हो जाती थी। जहाँ तहाँ सघन वृक्षों की कुंजें थीं, जिनमें संगमरमर की मूर्तें बनी हुई थीं।

आगे चल कर गर्मियों में रहने के लिए एक मकान था, जिसे हम "मदनविलास" कह सकते हैं। पाठक, कृपा करके इसके भी दर्शन कर लीजिए। इसकी भी सजावट अपूर्व्व थी। इसमें जो मेज़ें थीं वे देवदार की सुगन्धित लकड़ी की थीं। उन पर चाँदी-सोने के तारों से तारकशी का काम था। सोने-चाँदी की रत्नजटित कुर्सियाँ भी थीं। उन पर रेशमी झालरदार गद्दियाँ पड़ीं हुई थीं। कभी कभी मेहमान लोग इसमें भी भोजन करते थे। भोजनोपरान्त वे चाँदी के बरतनों में हाथ धोते थे। उसके बाद बहुमूल्य शराब, सोने के प्यालों में, उड़ता था। पानोत्तर माली प्रसूनस्तबक मेहमानों को देता था और सुमनवर्षा होती थी। अन्त में नृत्य आरम्भ होता था। इसी गानवादन के मध्य में इत्र-पान होता था और गुलाबजल की वृष्टि होती थी। ये सब बातें अपनी अपनी हैसियत के मुताबिक़ सभी के यहाँ होती थीं। त्योहार पर तो सभी ऐसा करते थे।

एक दिन कोई त्योहार मनाया जा रहा था। वृद्ध, युवा, बालक, स्त्रियाँ सभी आमोद-प्रमोद में मग्न थे। इतने में अकस्मात् विसूवियस से धुआँ निकलता दिखाई दिया। शनैः शनैः धुआँ का ग़ुबार बढ़ता गया। यहाँ तक कि तीन घंटे दिन रहे ही चारों ओर अन्धकार छागया। सावन भादों की काली रात सी होगई। हाथ को हाथ न सूझ पड़ने लगा। लोग हाहाकार मचाने और त्राहि त्राहि करने लगे। जान पड़ा कि प्रलय आगया। जहाँ पहले धुआँ निकलना शुरू हुआ था वहाँ से अब चिनगारियाँ निकलने लगीं। लोग भागने लगे। परन्तु भाग कर जाते भी तो कहाँ? ऐसे समय में भाग निकलना नितान्त असम्भव था। अँधेरा ऐसा घनघोर था कि बहन भाई से, स्त्री पति से, माँ बच्चों से बिछुड़ गई। वायु बड़े वेग से चलने लगी। भूकम्प हुआ। मकान धड़ाधड़ गिरने लगे। समुद्र से चालीस चालीस गज़ ऊँची लहरें आने लगीं। वायु भी गर्म मालूम होने लगी और धुआँ इतना भर गया कि लोगों का दम घुटने लगा। इस महा घोर सङ्कट से बचाने के लिए लोग ईश्वर से प्रार्थना करने लगे। पर सब व्यर्थ हुआ। कुछ देर में पत्थरों की वर्षा होने लगी, और, जैसे भादों में गंगाजी उमड़ चलती हैं वैसेही गर्म पानी की तरह पिघली हुई चीज़ें ज्वालामुखी से बह निकलीं। उन्होंने पाम्पियाई का सर्वनाश आरम्भ कर दिया। मेहमान भोजनगृह में, स्त्री पति के साथ, सिपाही अपने पहरे पर, क़ैदी क़ैदख़ाने में, बच्चे पालने में, दुकानदार तराज़ू हाथ में लिये रह गये। जो मनुष्य जिस दशा में था वह

उसी में रह गया। मुद्दत बाद शान्ति होने पर अन्य नगरवासियों ने वहाँ आकर जो देखा तो सिवा राख के ढेर के और कुछ न पाया। वह राख का ढेर ख़ाली ढेर न था, उसके नीचे हज़ारों मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा पूरी करके सदैव के लिए सोये हुए थे। हाय! किस किस के लिए कोई अश्रुपात करे? यह दुर्घटना २३ अगस्त ७९ ईसवी की है। १६४५ वर्ष बाद जो यह जगह खोदी गई तो जो जो वस्तु जहाँ थी वहीं मिलीं।

यह प्रायः सारा शहर का शहर पृथ्वी के पेट से निकाला गया है। अब भी कभी कभी इसमें यत्र तत्र खुदाई होती है और अजूबा अजूबा चीज़ें निकलती हैं। पाम्पियाई मानों दो हज़ार वर्ष के पुराने इतिहास का चित्र हो रहा है। दूर दूर से दर्शक उसे देखने जाते हैं।

"भ्रमर"

कीर्त्ति और शान्ति।

(१)

महिप एक महा मतिमान थे; सुकृत-सागर ज्ञान-निधान थे।
विभववान, बड़े बलवान थे; विदित भूप विदेह-समान थे॥

(२)

युगल मंजुल-मूर्ति मनोरमा प्रियतमा उनकी अति उत्तमा।
सुखित थीं करती उनको सदा; निज गुणों पर मोहित सर्व्वदा॥

(३)

स्वगुण-वाचन में जिसको सदा सुरुचि थी रहती वह एकदा।
निज प्रकर्ष-कथा पटुता-पगी निज स्वसा प्रति यों कहने लगी॥

(४)

"नृपति ने कहिए किसके लिए विविध यत्न तथा श्रम हैं किये?
स्मरण वे किसका रखके हिये भजन में किसके चित हैं दिये?

(५)

"निज मनोरथ अध्यवसाय से सतत सिद्ध किये सब न्याय से।
निधन से, धन के व्यय से कभी भय उन्हें न हुआ अणुमात्र भी॥

(६)

"यह सभी जग के जन जानते, गुण अतः उनके सुबखानते।
नरपतीश उन्हें सब मानते; महि-पुरन्दर भी अनुमानते॥

(७)

"पर कहो किसकी शुभ प्राप्ति को किस वियोगज दुःख समाप्ति को।
नृपति नित्य नृपोचित भाव से कृति-प्रवृत्त रहे इस चाव से?

(८)

"मुझ बिना कहिए किस काम के नृपति थे नृप केवल नाम के?
फिर न क्यों मुझको वह चाहते? हृदय से फिर क्यों न सराहते?

(९)

वचन ये सुन के तब दूसरी नृपति की सुभगा हृदयेश्वरी।
कथन जो उसको कथनीय था वह लगी कहने सच था यथा।

(१०)

"भगिनि! सत्य कहा सब जो कहा, नृपति मुग्धकरी तुम हो महा।
न इस हेतु मुझे कुछ डाह है, वरन हार्दिक हर्ष अथाह है॥

(११)

"पर स्वसे! यह भी स्मरणीय है—(सब यथार्थ कथा श्रवणीय है)
नृपति जो गुण-दूषण जानते न मुझको तुमसे कम मानते॥

(१२)

जब उन्हें हृदयार्त्ति-समग्रता विकलता मन की भ्रमव्यग्रता।
व्यथित हैं करती उस काल में वह जिसे भरते भुज-जाल में॥

(१३)

"प्रिय वही नृप को, सच जानिए, तज सभी सकते उसके लिए।
नित वही बसती उनके हिये, चित वही उनका वश है किये॥

(१४)

"विलग जो वह भूपति से रहे; निज रहस्य न जो उनसे कहे।
न उनका मन और कहीं लगे; सुखद शान्ति सभी उनसे भगे॥

(१५)

यह विवाद उपस्थित था जहाँ नृपति भी सहसा पहुँचे वहाँ।
सुन कथा सविनोद हुए महा—प्रकट यों हँसते हँसते कहा—

(१६)

"उभय ही हमको प्रिय हैं सदा; उभय ही मम जीवन सम्पदा।
अधिक किन्तु हमें प्रिय है वही सुखद हो जिससे परलोक भी॥"

(१७)

राजा का सुन के विचार मन में जो झँपसी थी गई
थी रानी वह 'कीर्त्ति' विश्वविदिता शभ्रांशु-ज्योत्स्नामयी ।
जो संतुष्ट हुई विचार सुन के साध्वी सुशीला सदा
सो थी 'शान्ति' महीपराज-महिषी निश्शेष सौख्यप्रदा ॥

सत्कविदास ।

हैदराबाद के परलोकवासी निज़ाम ।

भारतवर्ष के रक्षित राज्यों में दक्षिण हैदराबाद का राज्य सबसे बड़ा और वैभवशाली है । गत २९ अगस्त को वहाँ के अधिपति आसिफजाह, मुज़फ्फरुल-ममालिक, निज़ामुलमुल्क, निज़ामुद्दौलह, नवाब, सर, मीर महबूबअली ख़ाँ बहादुर फ़तह-गङ्ग, जी० सी० एस० आई० का फ़ालिज से शरीरान्त हो गया ।

कुलवृत्तान्त और जन्म ।

मुसल्मानी रियासतों में निज़ाम का घराना बहुत प्राचीन और प्रतिष्ठित है । औरंगज़ेब बादशाह के सेनापतियों में गाज़िउद्दीन नामक एक प्रसिद्ध योद्धा था । उसका लड़का, निज़ामुल्मुल्क, निज़ाम के घराने का मूल पुरुष है । फ़रुख़सियर ने "निज़ामुल्मुल्क" का ख़िताब देकर, सन् १७१३ में, उसे दक्षिण का सूबेदार नियत किया था ।

परलोकवासी निज़ाम का जन्म १८ अगस्त सन् १८६६ ई० को हुआ था । इनकी तीन ही वर्ष की अवस्था में इनके पिता निज़ाम अफ़ज़लुद्दौला का देहान्त हो गया । उनके बाद हैदराबाद राज्य के अधिकारी आप ही हुए ।

राज्यारोहण ।

निज़ाम की अज्ञानावस्था में सारा राज्यप्रबन्ध प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ सर सालारजंग देखते रहे । सन् १८८३ ई० में जब सर सालारजंग का स्वर्गवास हुआ तब राज्यप्रबन्ध के लिए एक कौंसिल बनाया गया । लार्ड रिपन के ज़माने में निज़ाम साहब को १८८४ में राज्याधिकार मिला । उस समय गवर्नमेंट की सलाह से निज़ाम साहब ने सर सालारजंग के पुत्र मीर लियाक़त अली को अपना दीवान नियत किया । जिस समय वे गद्दी पर बैठे उस समय निज़ाम-राज्य अँगरेज़ी गवर्नमेंट का ऋणी था ; पर इन्होंने धीरे धीरे सब क़र्ज़ अदा कर दिया । राज्यारोहण के समय आपने जो विज्ञप्तिपत्र प्रसिद्ध किया था उसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

"जब मैं देखूँगा कि मेरी प्रजा शान्तिपूर्वक रह कर सब प्रकार से सुखी और सन्तुष्ट है और अपनी भौतिक उन्नति का प्रयत्न करते हुए बड़ी उत्कण्ठा से ज्ञानार्जन कर रही है तब मुझे जैसा आनन्द और समाधान होगा वैसा मुझे और किसी बात से नहीं हो सकता ।"

इस एक ही वाक्य से स्पष्ट जान पड़ता है कि राज्यारोहण के समय ही स्वर्गवासी निज़ाम साहब ने अपने जीवन का उद्देश्य "प्रजा-वत्सलता" रक्खा था ।

राज्यविषयक सुधार ।

राज्य का सुधार करने में निज़ाम को अपने सुयोग्य मंत्रियों से अच्छी सहायता मिली । तथापि, आप प्रधान-मण्डल के हाथ की कठपुतली बन जाने वाले राजाओं में न थे । मुग़लों के ज़माने में अनेक टंटे बखेड़े हुआ करते थे ; पर निज़ाम साहब ने अपने शासन-काल में वैसे झगड़े नहीं होने दिये । इस कारण, हैदराबाद के राज्य में बहुत सुधार हुआ । निज़ाम-सरकार ने अपने राज्य में रेलवे और सड़कों का विस्तार कर के व्यापार बढ़ाया, आरोग्य-रक्षा का भी प्रबन्ध हुआ और पीने के लिए यथेष्ट पानी मिलने का भी प्रबन्ध कर दिया । ज़मीन की पैमाइश भी की गई और शिक्षाविभाग में भी अनेक महत्त्व के सुधार किये गये । वाकर नाम के एक साहब की सहायता

से निज़ाम-राज्य ने जमाबन्दी-विभाग का भी सुधार किया। व्यय का परिमाण बहुत बढ़ा हुआ था। निज़ाम ने उसमें कमी करके उलटा ६, ७ करोड़ रुपये बचत में कर लिये। पुलीस और न्याय-विभाग का पुनर्गठन; कस्टम्स, आबकारी और जंगल-विभाग का सुधार; और म्युनिसिपैलिटी का प्रबन्ध और भूगर्भ-विभाग की योजना-इत्यादि अनेक महत्त्व के कार्य निज़ाम साहब ने अपने शासन-काल में किये।

गवर्नमेन्ट और निज़ाम।

निज़ाम साहब अँगरेज़ी गवर्नमेंट के पक्के मित्र थे। उन्होंने संकटों के समय गवर्नमेंट को जो सहायता दी उससे उक्त बात अच्छी तरह प्रमाणित होती है। १८८५ में, जब यह भय था कि भारत पर रूस चढ़ाई करेगा, तब निज़ाम ने ब्रिटिश-सरकार को सहायता देने की इच्छा प्रकट की थी। घोर युद्ध के समय और ईजिप्ट की अराजकता के समय भी उन्होंने सहायता देने का निश्चय किया था। सन् १८८७ ई० में उन्होंने लार्ड डफरिन को यह लिखा कि हम भारत की वायव्य-सीमा की रक्षा के लिए, तीन वर्ष तक, प्रति वर्ष, २० लाख रुपये दे सकते हैं। तभी से "इम्पीरियल सरविस ट्रूप्स" की उत्पत्ति हुई और परचक्र से भारत की रक्षा करने के लिए देशी राज्यों से सहायता मिलने का मार्ग खुला। निज़ाम साहब के राजत्व-काल में सबसे महत्त्व की बात जो हुई वह यह है कि बरार का प्रान्त निज़ाम-राज्य से सदा के लिए अलग किया जाकर, २० लाख रुपये सालाना ठेके पर, अँगरेज़ी-राज्य में मिला दिया गया।

प्रजाप्रियता और समदृष्टि।

निज़ाम साहब में सबसे प्रशंसनीय गुण यह था कि वे प्रजावत्सल थे और अपनी सब जाति की प्रजा पर समभाव रखते थे। यद्यपि हैदराबाद मुसलमानी रियासत है, तथापि वहाँ हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों से अधिक है। कुछ समय से कुछ सुशिक्षित मुसलमानों में इस प्रकार की प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ रही है कि हिन्दू-मुसलमानों के हित में भिन्नता है। हिन्दुओं से अलग रह कर ही मुसलमान अपना हित-साधन कर सकते हैं। परन्तु बुद्धिमान् निज़ाम साहब ने इस प्रवृत्ति को अपनी नीति से अलग ही रक्खा। निज़ाम साहब जाति और धर्म-सम्बन्धी झगड़ों से सदा अलिप्त रहे। वे अपनी हिन्दू और मुसलमान प्रजा को समदृष्टि से देखते थे। उनके राज्य में हिन्दुओं को भी बड़े बड़े अधिकार मिले हैं। निज़ाम-राज्य के मुख्य दीवान राजा सर कृष्णप्रसादजी हिन्दू ही हैं।

अपनी प्रजा पर निज़ाम साहब का निस्सीम प्रेम था। दो वर्ष पहले मूसा नदी में बड़ी भारी बाढ़ आने के कारण हैदराबाद के निवासियों पर जो विपत्ति आई थी उससे निज़ाम साहब भी बहुत दुखी हुए थे। जो राजा अपनी प्रजा को सुखी और सन्तुष्ट रख सकता है उसकी प्रजा भी राजा से प्रेम रखती है। जिस राजा का मन प्रजा के विषय में सन्देह-पूर्ण रहता है, उसकी प्रजा उससे कभी सन्तुष्ट नहीं रहती। निज़ाम साहब का अपनी प्रजा पर पूर्ण विश्वास था। यह बात उन्होंने गवर्नमेंट पर भी, सन् १९०९ के अपने उस पत्र में प्रकट की है जो उन्होंने गवर्नमेंट के उस ख़लीते के उत्तर में लिखा था जिसमें गवर्नमेंट ने सब देशी राजाओं से भारत के राज-विद्रोह-दमन के विषय में सम्मति ली थी। उसका कुछ अंश इस प्रकार है:—

"My people as a rule are contented, peaceful and law-abiding and I can say, with pardonable pride, that they are bound to me by ties of affection and loyalty:......................

"For this blessing I have to thank my ancestors. They were singularly free from all religious and racial prejudices. Their wisdom and foresight induced them to employ Hindus and Mahomedans, Europeans and Parsis, alike in carrying on the adminis-

tration, and *they reposed entire confidence in their officers, whatever religion, race, sect or creed they belonged to*.........Inheriting as I did the policy of my forefathers, I endeavoured to follow in their footsteps......... It is, in a great measure, to this policy that I attribute the contentment of my dominions."

इस अवतरण से पाठकों को यह अच्छी तरह मालूम हो जायगा कि निज़ाम साहब का अपनी प्रजा पर कितना विश्वास था और उनके विषय में सब जातियों और सब धर्मों के लोगों के मन में असीम श्रद्धा और भक्ति किस कारण थी। अस्तु।

स्वभाव आदि।

निज़ाम साहब के सरल स्वभाव, सादी पोशाक, शालीनता-सूचक बरताव देख कर प्रत्येक मनुष्य के मन में श्रद्धा उत्पन्न होती थी। दिल्ली-दरबार में यद्यपि निज़ाम साहब सब राजाओं में अग्रणी थे तथापि उनकी पोशाक बिलकुल ही सादी थी। वे विद्याव्यसनी और कवि भी थे। गुणग्राहकता भी उनमें कम न थी। एक बार जो शब्द उनके मुँह से निकल जाते थे वे पत्थर की लकीर हो जाते थे। उनमें अपने धर्म का अनुचित आग्रह न था।

हैदराबाद-राज्य का विस्तार क़रीब एक लाख वर्ग मील है। आबादी सवा करोड़ है। उसमें सिर्फ़ १० लाख मुसलमान और बाक़ी हिन्दू हैं। निज़ाम-सेना में ६ हज़ार रिसाला, २४ हज़ार पैदल और पैंतीस तोपें हैं। इसके सिवा निज़ाम साहब की निज की सेना अलग ही है। इस राज्य का झंडा पीले रंग का है।

लक्ष्मीधर वाजपेयी।

विविध विषय।

१—एक पत्र के पन्द्रह हज़ार रुपये।

विलायत वाले प्राचीन वस्तुओं की बड़ी क़दर करते हैं। पुरानी, विशेष करके ऐतिहासिक, चीज़ों के वहाँ बड़े दाम आते हैं। रैफ़ल के बनाये हुए चित्रों के दाम वहाँ लाखों रुपये आते हैं। कुछ समय हुआ लन्दन में एक नीलाम हुआ था। उसमें ग्रेट ब्रिटन के राजाओं, रानियों, कवियों और प्रसिद्ध लेखकों के हाथ के लिखे हुए पत्र आदि बेचे गये थे। उनमें एक पत्र स्काट लोगों की रानी मेरी का लिखा हुआ था। वह १५,३७५ रुपये पर ख़तम हुआ! फ़ीलिंग नाम के एक पुराने लेखक की "टाम जोन्स" नामक एक पुस्तक है। पुस्तक बड़े महत्त्व की है। उसका स्वत्वाधिकार उसने एक पुस्तक-प्रकाशक को नौ हज़ार रुपये पर बेचा था। इस रक़म की जो रसीद उसने लिखी थी वह १५,२७५ पर नीलाम हुई। अर्थात् जो क़ीमत उसने अपनी पुस्तक की ली थी उससे ड्यौढ़े से भी अधिक उसकी लिखी हुई रसीद की क़ीमत आई! इँगलैंड के प्रसिद्ध ग्रन्थकार ड्राइडन की एक पृष्ठ की एक चिट्ठी तीन हज़ार को बिकी। कविवर गोल्डस्मिथ की एक चिट्ठी के चार हज़ार दो सौ रुपये आये। इसी तरह और भी कितने ही पत्र, लेख और पुस्तकें हज़ारों रुपये पर बिकीं।

२—जीवात्मा के चित्र।

हाल में अमेरिका के वैज्ञानिक पत्रों और पुस्तकों में एक बड़े ही महत्त्व-पूर्ण विषय पर लेख निकले हैं। अमेरिका के शिकागो नगर में ओ'डोनल नामक एक विद्वान् डाक्टर हैं। एक्सरेज़ (X-rays) नामक उन किरणों के विषय में उन्होंने विशेष विज्ञता

प्राप्त की है जिनकी सहायता से शरीर के भीतर की हड्डियाँ बाहर से देखी जा सकती हैं। इन्होंने अब एक नई रासायनिक प्रक्रिया द्वारा एक ऐसी युक्ति निकाली है जिससे म्रियमाण मनुष्य के शरीर से निकली हुई प्राण-ज्योति या जीवात्मा का प्रतिविम्ब दिखाई देता है। प्राणोत्क्रमण के समय शरीर से एक सूक्ष्म प्रकाश बाहर निकलता है। प्राण निकलते ही वह प्रकाश पिण्डी-भूत हो कर अदृश्य हो जाता है। इस दृश्य को दिखा कर डाकृर साहब ने शिकागो के अनेक विद्वानों और वैद्यों को चकित कर दिया है। डाकृर साहब का कथन है कि मैं नहीं कह सकता, यह ज्योति यथार्थ में क्या वस्तु है। उसे जीवात्मा-संज्ञा दी जा सकती है या प्राण-संज्ञा। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह ऐसी शक्ति है जो मरने के कुछ मिनट पहले शरीर से बाहर निकलने लगती है और उसके निकल जाने के साथ ही शरीर निश्चेष्ट और निर्जीव हो जाता है।

३—शिमले की चित्रप्रदर्शिनी।

शिमले में हर साल एक चित्रप्रदर्शिनी होती है। इस साल भी, गत अगस्त में, वह हुई। एक हज़ार के ऊपर चित्र प्रदर्शित किये गये। अच्छे चित्रों के लिए इस प्रदर्शिनी में सौ सौ पचास पचास रुपया इनाम भी दिया जाता है। चित्रों के विषय पहले से निर्दिष्ट कर दिये जाते हैं। बड़े दुःख की बात है कि चित्रकला का शौक़ भारतवासियों को बहुत ही कम है। सब मिला कर तीस चालीस चित्रों के लिए इनाम दिया गया। दस दस बारह बारह वर्ष के बच्चों तक ने निर्दिष्ट विषयों पर चित्र बना कर इनाम लिया। पर इनाम पानेवालों की नामावली में केवल तीन भारतवासी हैं। शेष सभी नाम अँगरेज़ों के हैं।

४—"धर्म्मकुसुमाकर" का आविर्भाव।

इसी जूलाई से धर्मकुसुमाकर नामक एक मासिक पत्र का आविर्भाव कानपुर में हुआ है। इसके सम्पादक हिन्दी के प्रसिद्ध कवि और कानपुर के प्रसिद्ध वकील, समाजनेता और धार्मिकश्रेष्ठ राय देवीप्रसाद जी, बी० ए०, बी० एल०, एम० आर० ए० एस० हैं। इसका वार्षिक मूल्य डेढ़ रुपया मात्र है। पहले अङ्क में चालीस पृष्ठ हैं। आरम्भ में वेद-व्यास का रङ्गीन चित्र है। कई एक बड़ी ही सरस कवितायें इस अङ्क में हैं। लेख भी सब अच्छे हैं। इस पत्र से बहुत कुछ लाभ होने की सम्भावना है। यद्यपि यह धार्म्मिक पत्र है, तथापि, आशा है, इसमें साहित्य-सम्बन्धी लेख भी प्रकाशित हुआ करेंगे। इसका उद्देश इसके मुख पृष्ठ पर इस प्रकार पद्य में निर्दिष्ट किया गया है:—

आकर है नीति को प्रभाकर है प्रतिभा को
रसिक मलिन्दन को मञ्जु पदमाकर है।
चाकर समान देश देशन में जाय जाय
धर्म्म उपदेशन में पूरन गुनाकर है॥
आकर की आपदा हरन में बलाकर है
रस को जलाकर विचार रतनाकर है।
शान्ति को सुधाकर है ज्ञान को दिवाकर है
धर्म्म-कुसुमाकर ये "धर्म्म-कुसुमाकर" है।

यदि हमारी चलती तो हम इस पद्य के पहले चरण के 'मञ्जु' शब्द की जगह 'पूर्ण' और दूसरे चरण के 'पूरन' की जगह 'अखिल' कर देते।

५—एक अनेक भाषावित् विद्वान् की मृत्यु।

श्रीयुत हरिनाथ दे कलकत्ते के राजकीय पुस्त-कालय के अध्यक्ष थे। आपकी विद्वत्ता का उल्लेख सरस्वती में हुए अभी दो ही तीन महीने हुए। खेद की बात है, आपका परलोकवास हो गया। यों तो आप अनेक भाषायें जानते थे, पर वे १८ देशी और विदेशी भाषाओं के पूरे पण्डित थे। बहुभाषा-पाण्डित्य में आपकी बराबरी करने वाला भारत में कोई अन्य विद्वान् न आज तक हुआ और न अभी होने ही की आशा है। आप विलक्षण मेधावी और प्रतिभाशाली थे। १५ वर्ष की उम्र में इन्होंने एंट्रांस पास किया और

ग्रोर १९ वर्ष की उम्र में बी० ए०। पिछली परीक्षा में इन्होंने लैटिन ग्रोर अँगरेज़ी भाषा में अपूर्व पारदर्शिता दिखलाई ग्रोर ४० रुपये महीने की छात्रवृत्ति प्राप्त की! १८९६ में इन्होंने लैटिन में एम० ए० पास किया ग्रोर प्रथम स्थान पाया। अगले साल ग्रीक भाषा में भी इन्होंने एम० ए० पास किया। तदनन्तर सरकारी छात्रवृत्ति पाकर ये विलायत गये। वहाँ पहले केम्ब्रिज में फिर फ्रांस ग्रोर जर्मनी में अध्ययन किया। ग्रीक ग्रोर लैटिन भाषाग्रों की कविता-रचना में वहाँ इन्होंने बड़ा नाम पाया। कुछ दिन बाद इन्होंने पाली में भी एम० ए० पास किया ग्रोर संस्कृत में भी। इस तरह ग्रीक, लैटिन, पाली ग्रोर संस्कृत इन चार प्राचीन भाषाग्रों के ये एम० ए० थे। दस वर्ष इन्होंने सरकारी नैाकरी की। ढाका-कालेज में बहुत दिन तक ये प्रोफ़ेसर थे। कुछ समय के लिए इन्हें हुगली-कालेज के प्रधानाध्यक्ष का पद भी प्राप्त हुग्रा था। १९०७ से ये कलकत्ते के इम्पीरियल पुस्तकालय के अध्यक्ष थे। नैाकर होने के बाद भी इन्होंने कई परीक्षायें पास कीं। संस्कृत ग्रोर ग्ररबी की योग्यता-सम्बन्धिनी ऊँची परीक्षा पास करके इन्होंने दो दो हज़ार रुपया इनाम लिया। उड़िया की भी परीक्षा इन्होंने पास की। तदर्थ इन्हें एक हज़ार रुपया इनाम मिला। इसके बाद संस्कृत ग्रोर ग्ररबी की सर्व्वोच्च परीक्षा पास की ग्रोर पाँच पाँच हज़ार रुपये प्रत्येक के उपलक्ष्य में इनाम पाया। इस तरह कोई पन्द्रह हज़ार रुपये तो इन्होंने गवर्नमेंट से इनाम में पाया। ये परीक्षायें केवल सरकारी नैाकरों के लिए नियत हैं। दे महाशय सब मिला कर इतनी भाषायें जानते थे :—१ अँगरेज़ी, २ लैटिन, ३ ग्रीक, ४ संस्कृत, ५ ग्ररबी, ६ फ़ारसी, ७ पाली, ८ उर्दू, ९ उड़िया, १० हिन्दी, ११ बँगला, १२ इटालियन, १३ फ़्रेंच, १४ स्पैनिश, १५ जर्मन, १६ टर्किश, १७ पोर्चुगीज़, १८ पश्तो, १९ राशियन, २० पालिश, २१ हेब्रू, २२ चीनी, २३ जापानी, २४ बरमी, २५ स्यामी, २६ सीलोनी, २७ तिब्बती, २८ मराठी, ग्रोर २९ गुजराती। चीनी ग्रोर तिब्बती भाषाग्रों के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अँगरेज़ी में अनुवाद भी इन्होंने आरम्भ किया था। पर, बीच ही में आपको इहलीला समाप्त करनी पड़ी। काल बड़ाही निष्करुण है।

६—सचित्र "लक्ष्मी"।

ख़ुशी की बात है कि गया से "लक्ष्मी" नाम की जो मासिक पत्रिका प्रकाशित होती है उसमें अब चित्र भी निकलने लगे हैं। इसके लेख ग्रोर कवितायें सब अच्छी होती हैं।

७—उर्दू-कान्फरन्स की उदारता।

जुलाई का उर्दू "ज़माना" देर से निकला, पर बहुत अच्छा निकला ८ सितम्बर को पूर्वोक्त महीने की उसकी कापी हमें मिली। उर्दू-कान्फरन्स जो इस साल पूने में हुई थी उसके विषय में ज़माना के सम्पादक इस संख्या में लिखते हैं :—

प्रेसिडेंट की तक़रीर में—कान्फ़रन्स के रेज़ोल्यूशन्स में—उन हिन्दू इन्शापरदाज़ों का जो अपनी ज़िन्दगियां उर्दू की तरक़्क़ी में वक़्फ़ कर चुके हैं, ज़िक्र तक नहीं। सरूर ग्रोर बर्क़ जैसे ज़बरदस्त ग्रोर लासानी इन्शापरदाज़ों की बे-वक़्त वफ़ात पर चार आंसू बहाना तो बड़ी बात थी एक कलमा-ख़ैर ही इनके हक़ में कह दिया जाता। ....मगर मैालवी रफ़ीउद्दीन ग्रोर ख़ानबहादुर महम्मदशफ़ीग्र से मैाक़े बेमैाक़े हिन्दुग्रों को गालियाँ देने के सिवा ग्रोर किसी बात की उम्मीद रखना फ़िज़ूल है।

फिर भी तो हिन्दुग्रों की अक़्ल ठिकाने नहीं आती।

८—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

इस सम्मेलन का दूसरा वार्षिक अधिवेशन २४, २५ ग्रोर २६ सितम्बर को, श्रीयुक्त पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र के सभापतित्व में, सानन्द समाप्त हो गया। प्रयागनिवासी हिन्दी-हितैषियों ने सभापति महोदय के स्वागत-सम्मान में अच्छा उत्साह दिखाया। इस सम्मेलन के स्वीकृत प्रस्तावों ग्रोर हिन्दी-प्रेमियों के आन्तरिक उत्साह को देख कर हिन्दी का भविष्य बहुत कुछ आशापूर्ण प्रतीत होता है।

पुस्तक-परीक्षा ।

१—पुष्पवाटी । शेख़ सादी की गुलिस्ताँ नामक प्रसिद्ध पुस्तक के पहले चार बाबों का यह संस्कृतानुवाद है । होशियारपुर-निवासी पण्डित कन्हैयालाल जोशी का किया हुआ है । उनके पुत्र पण्डित जगन्नाथ जोशी, वकील, होशियारपुर ने इसे प्रकाशित किया है । मूल्य इसका ८ आने है । अनुवादक महाशय के परलोकवासी हो जाने से यह अनुवाद अपूर्ण रह गया । यह दुःख की बात है । फ़ारसी भाषा में गुलिस्ताँ एक नामी चम्पू-ग्रन्थ है । उसमें गद्य भी है और पद्य भी । उसके नीति-विषय पद्य फ़ारसी जानने वालों की जिह्वा पर सदा नृत्य किया करते हैं । गुलिस्ताँ की भाषा जैसी सरल है जोशीजी का अनुवाद भी वैसा ही सरल है । अनुवादक महोदय ने मूल के गद्य का अनुवाद गद्य में और पद्य का पद्य में किया है । इस अनुवाद को देख कर चित्त बहुत प्रसन्न हुआ । लड़कपन में पढ़ी हुई गुलिस्ताँ के कितने ही पद्य याद आ गये । जोशीजी ने अपने अनुवाद में फ़ारसी का मूल अंश नहीं रक्खा । केवल अनुवाद ही दिया है । अनुवाद के दो एक पद्यात्मक उदाहरण हम पहले बाब से नीचे देते हैं । पाठक देखें, कैसा अच्छा अनुवाद है । मिलान के लिए साथ ही हम मूल फ़ारसी के पद्य भी दिये देते हैं :—

(१)

मूल—अस्पे लाग़र मियाँ बकार आयद—
रोज़े मैदाँ न गाव परवारी ।
अनुवाद—कृशस्तुरङ्गो युधि कार्य्यकृद्भवे-
न्न तादृशः स्थूलकलेवरो वृषः ॥

(२)

मूल—न बीनी कि चूं गुर्बा आजिज़ शवद—
बरारद बचंगाल चश्मे पलंग ।
अनुवाद—किं न पश्यसि मार्जारी यदा भयवती भवेत् ।
तदा तलप्रहारेण सिंहस्याक्षि विलुम्पति ॥

(३)

मूल—ऐ ज़बरदस्त ज़रदस्त-आज़ार—
गर्म ताकै बुमानद ईं बाज़ार ।
ब चे कार आयदत जहाँदारी—
मुर्दनत बेह कि मरदुम-आज़ारी ॥

(४)

अनुवाद—बलिष्ठ हे दुर्बल दुःखदातः—
कदावधि स्थास्यति दोर्बलं ते ।
त्वज्जीवनात्किं फलमस्ति लोके—
वरा मृतिस्ते परदुःखदानात् ॥

पदच्छेद और लिपि-सम्बन्धिनी कुछ भूलें इस पुस्तक में रह गई हैं । दूसरे संस्करण में उनका संशोधन हो जाना चाहिए ।

☼

२—पुस्तक-त्रितय । ब्राह्मण-सर्व्वस्व नामक मासिक पत्र के सम्पादक, धर्मप्राण, पण्डित भीमसेनजी शर्म्मा के ब्रह्म प्रेस, इटावा, के मैनेजर, "B. D. S." महोदय ने अपने २ अगस्त १९११ के पोस्टकार्ड में लिखा है:— "आपकी सेवा में तीन पुस्तकें समालोचनार्थ भेजी जाती हैं । याज्ञवल्क्यस्मृति १) । (२) विधवा-विवाह-मीमांसा ।=) (३) आदर्शरमणी ≡) आशा है कि आप अपने सुप्रसिद्ध पत्र की आगामी संख्या में इन पुस्तकों की उत्तम समालोचना कर हम लोगों को कृतार्थ करेंगे ।" इसके आगे मैनेजर महाशय ने ब्राह्मण-सर्व्वस्व के उपहार के विषय में भी समालोचना में कुछ "नोट" देदेने की आज्ञा दी है । इसके उत्तर में निवेदन है कि इन पंक्तियों का लेखक "उत्तम समालोचना" करना नहीं जानता । वैसी समालोचना के लिए बड़ी योग्यता चाहिए । मध्यम, निकृष्ट या जैसी समालोचक को उचित जान पड़े वैसी समालोचना तो आप चाहते नहीं । अतएव लाचारी है । चुप रहने के सिवा और कोई इलाज नहीं ।

☼

३—चन्द ज़ुरूरी नसीहतें । यह १९१० की छपी हुई पुस्तक है । बहुत ही चिकने काग़ज़ पर और बड़े ही

सुन्दर टाइप में ग्वालियर के दरबार प्रेस में छपी है। न इस पर दाम लिखा है, न बनाने वाले का नाम। भेजा इसे हमारे पास ग्वालियर के त्र्यम्बक-नारायण ले ले महाशय ने है। वे अपने पत्र में लिखते हैं :—"मैं अपनी एक पुस्तक हिन्दी में लिखी हुई जिसका नाम—"चन्दज़रूरी नसीहतें" है आप की सेवा में भेजता हूँ।" इसका लेखक चाहे जो हो वह फ़ारसीदां मालूम होता है। लेखक ने इस पुस्तक को बड़ी ही नफ़ीस और बामुहावरा इबारत में लिखा है। पुस्तक की लिपि तो देवनागरी है, पर भाषा उर्दू। इसकी भूमिका में लिखा है—"यह चंद ज़ुरूरी नसीहतें उन नौजवां असहाब के लिये लिखी गई हैं जो उमूमन आला दर्जे की ख़िदमात सरकारी में, ख़ास कर उसकी आमिलाना शाख़ में, ताज़ा दाख़िल हुए हैं, या होने की ख़्वाहिश रखते हैं"। ये नसीहतें, जान पड़ता है, ख़ास कर रियासत ग्वालियर के मुलाज़िमान के लिए लिखी गई हैं, पर वे ऐसी व्यापक हैं कि सभी राज्यों और सभी रियासतों के कर्म्मचारियों और अधिकारियों के काम की हैं। ये नसीहतें सर्वथा अनमोल हैं। आम बरताव और चालचलन से भी इनका सम्बन्ध है और सरकारी कामों से। यदि गवर्नमेंट और अन्यान्य देशी रियासतें भी इस पुस्तक को अपने प्रत्येक कर्म्मचारी और प्रत्येक गाँव के मालगुज़ार या नम्बरदार को देने का प्रबन्ध कर दें तो बड़ी बात हो। इसकी एक एक नसीहत एक एक लाख रुपये की है। इसकी नसीहतें लेखक की योग्यता, प्रभुभक्ति, सदाचार-शीलता आदि अनेक गुणों को व्यक्त कर रही है।

❊

४—शीघ्रज्ञान-व्याकरण। पण्डित श्रीधर त्रिपाठी लखनऊ में बहुत काल तक नार्मल स्कूल में हिन्दी और संस्कृत के अध्यापक थे। अब आप पेन्शन पाते हैं और लखनऊ के महल्ले गणेशगञ्ज में रहते हैं। आपकी उम्र इस समय कोई ७० वर्ष की है। आपका बनाया हुआ हिन्दी में एक अच्छा कोश है। उसका नाम है—श्रीधरकोश। उसका मूल्य शायद २) है। बहुत दिन हुए हमने आपके इस कोश को देखा था। अब आपकी कृपा से आपके शीघ्रज्ञान-व्याकरण के देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सच मुच ही इस पुस्तक से व्याकरण का शीघ्रज्ञान हो सकता है। इसके दो भाग अलग अलग हैं। पहले में नाम-व्याख्या है, दूसरे में धातु-व्याख्या। पहले का मूल्य ६ और दूसरे का ८ आने है। दोनों भागों में सब मिला कर कोई ४०० पृष्ठ हैं। अतएव दाम बहुत ही कम है। संस्कृत-व्याकरण की मुख्य मुख्य सभी बातें इन पुस्तकों में आ गई हैं। ख़ूबी यह है कि जहाँ जहाँ आवश्यकता थी त्रिपाठीजी ने मूल संस्कृत का अनुवाद भी हिन्दी में दे दिया है। नामों और धातुओं आदि के प्रयोग भी अपने आवश्यकतानुसार वाक्यावली देकर दिखाये हैं। संस्कृत सीखने की इच्छा रखने वालों के लिए यह व्याकरण बहुत उपयोगी है। थोड़े दाम में बड़ा काम, ऐसी ही पुस्तकों से निकलता है। पुस्तक नवलकिशोर-प्रेस, लखनऊ की छपी हुई है।

❊

५—अहिंसादिग्दर्शन। सुन्दर काग़ज़ पर सुन्दर टाइप में छपी हुई यह ९५ पृष्ठ की एक छोटी सी पुस्तक है। इसे बनारस की जैन-यशोविजय-पाठशाला के शास्त्रविशारद, जैनाचार्य्य, श्रीविजयधर्म्म सूरि ने लिखा है। पुस्तक हिन्दी में है। बीच बीच में पुराण और स्मृत्यादि ग्रन्थों के वचन मूल संस्कृत-श्लोकों में दिये गये हैं। जीवहिंसा की बुराइयाँ इसमें अनेक युक्तियों से दिखाई गई हैं। पुस्तकान्त में जैन-धर्म्म की प्रशंसा और हिन्दुओं के श्राद्ध-कर्म्म की निन्दा है। इसके सिवा इसमें यह भी उल्लिखित है कि जैन-धर्म्म ही के सिद्धान्त सच्चे और निर्दोष हैं।

❊

६—प्रभुचरित्र। यह डेढ़ सौ पृष्ठ की पुस्तक है। आठ आने में पण्डित नीलकण्ठ द्वारकाप्रसाद, कुतुबफ़रोश, अमीनाबाद, लखनऊ से मिलती है। बछरावाँ-

निवासी पण्डित शिवरत्न शुक्ल ने इसकी रचना की है। बाल, विपिन और उत्तर-काण्डों में विभक्त कर के सारी रामायण-कथा को शुक्लजी ने इसमें संक्षेप से वर्णन किया है। भाषा सरल है। कहीं कहीं पद्य भी हैं। इसकी समालोचना ही क्या—"रामकथा जग मङ्गलकरनी।"

☼

७—श्रीराघव-गीत। प्रणेता पण्डित प्रयागनारायण मिश्र। पृष्ठ-संख्या ५४—मूल्य ४ आने। चौधरी विश्वनाथ मिश्र, दौलतगञ्ज, लखनऊ से प्राप्य। चिकने काग़ज़ पर अच्छे टाइप में यह पुस्तक छपी है। पद्यमय है—सब गीत ही गीत हैं। चार काण्डों में रामचरित गाया गया है। रामचन्द्रजी के भक्तों के लिए यह सर्वथा उपादेय है। मिश्रजी ने इसकी ८०० कापियाँ बिना मूल्य दे डालने का सत्सङ्कल्प किया है।

☼

८—नीतिवाक्यरत्नावली। अजमेर-राजकीय-पाठालयाध्यापक साहित्योपाध्याय पण्डित शिवदत्त काव्यतीर्थ ने इसका सङ्कलन किया है। इसमें १११ पृष्ठ हैं। मूल्य केवल ४ आने। संस्कृत के कथा-सरित्सागर आदि गद्य-ग्रन्थों में नीति के जो छोटे छोटे वाक्य मिलते हैं उनका इसमें संग्रह है। साथ ही उनका हिन्दी-अनुवाद भी दोहों में दे दिया गया है। ऐसे दोहे जहाँ तक पुराने मिल सके हैं वहाँ तक वही रक्खे गये हैं। जहाँ नहीं मिले वहाँ सङ्कलनकर्त्ता ने नये बना कर रख दिये हैं। अपने ढंग की यह पुस्तक बहुत अच्छी है। जिन ग्रन्थों से नीति के वाक्य और दोहे इसमें उद्धृत किये गये हैं उनके नाम के सङ्केताक्षर मात्र वाक्यान्त और अनुवादान्त में दिये गये हैं। पर इन संकेतों का कहीं स्पष्टीकरण नहीं किया गया; यह नहीं बतलाया कि किस ग्रन्थ के लिए कौन सा संकेत है। इतनी इस पुस्तक में त्रुटि रह गई है।

९—भास्कर। "आर्य्य भाषा का नवीन मासिक पत्र"। धर्म्म और विज्ञान, शिक्षा और सुधार के लेखों से अलङ्कृत"। "अपने ढङ्ग का अत्यन्त सस्ता और मनोरञ्जक"। मूल्य दो रुपये साल। भास्कर प्रेस, मेरठ से प्राप्य। इस भास्कर का "उदय वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करने और उनको चिरस्थायी तथा सर्वव्यापी बनाने के उद्देश्य को ग्रहण करके हुआ है"। पत्र आर्य्य-समाज के नियमों और सिद्धान्तों का अनुयायी है। ज्येष्ठ, संवत् १९६८ के पहले अङ्क में सरस्वती के आकार के ३२ पृष्ठ हैं। सेवाधर्म्म, प्राचीन आर्य्य-शिक्षा-प्रणाली, इन्द्रिय-निग्रह, स्वामी बिरजानन्द सरस्वती आदि सात लेख इस अङ्क में हैं। दो कवितायें भी हैं।

☼

१०—इतिहासतत्त्व-दीपिका। पृष्ठ ५३। मूल्य ४ आने। लेखक पण्डित मुन्नालाल जुगलकिशोर मिश्र, हेड-मास्टर, करेली, ज़िला नरसिंहपुर। यह भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास है। पुस्तकान्त में वाइसराय और गवर्नर जनरलों के शासन-काल और भारत की मुख्य मुख्य लड़ाइयों की तालिकायें हैं। इतिहास के मुख्य मुख्य पारिभाषिक शब्दों का मतलब भी, एक तालिका देकर, समझाया गया है। पुस्तक की भाषा कहीं कहीं संशोधन-योग्य है।

☼

११—जीवनचरित्र। रियासत कुर्री सुदौली के तालुकेदार माननीय राजा रामपालसिंह, सी० आई० ई० का इसमें चरित है। राजा साहब के सेक्रेटरी ठाकुर तिलकसिंह ने इसे लिखा है। इंडियन प्रेस में मोटे चिकने काग़ज़ पर छपा है। राजा साहब के तीन हाफ़-टोन चित्रों से विभूषित है। आध आने का टिकट लेखक के पास भेजने से मुफ़्त में मिलता है। चरित योग्यतापूर्वक लिखा गया है। शिक्षाप्रद है। राजा साहब में अनेक गुण हैं। वे आदर्श राजा हैं। इन प्रान्तों के तालुकेदारों को चाहिए कि उनके चरित से शिक्षा ग्रहण करें।

१२—होरेशिअस। लार्ड मेकाले ने इस नाम की एक बड़ी ही ओजस्विनी कविता अँगरेज़ी में लिखी है। उसी का यह छन्दोबद्ध हिन्दी-अनुवाद है। इटावे के हाई स्कूल के अध्यापक पण्डित बच्चन पाँड़े इसके अनुवादक हैं। पृष्ठ २० हैं, और मूल्य डेढ़ आना। पुस्तकान्त में ऐतिहासिक नामों पर टिप्पणी भी है। इस कविता का रस और मूलभाव कठिनता से हिन्दी में व्यक्त किया जा सकता है। अनुवादक इस बात में यद्यपि पूर्णतया कृतकार्य्य नहीं हुए तथापि उनके किये हुए अनुवाद के कुछ अंश ज़रूर अच्छे हैं।

मनोरञ्जक श्लोक।

अगस्त सन् १९११ की सरस्वती में—"मनः कुत्रोद्योगः" आदि श्लोक को देख कर, उसके सम्बन्ध में, मन की ओर से भी, उत्तर-स्वरूप, एक श्लोक मुझे याद आया है। उसे मैं नीचे देता हूँ। उचित समझिए तो पाठकों के विनोदार्थ प्रकाशित कर दीजिएः—

इह हि मधुरगीतं रूपमेतद्रसोऽयं
स्फुरति परिमलोऽसौ कोमलः स्पर्श एषः।
इति हृतपरमार्थैरिन्द्रियैर्भ्राम्यमाणः
स्वहितकरणधूर्तैः पञ्चभिर्वञ्चितोऽस्मि॥

अर्थात्—यह देखिए कैसा मधुर गीत है; यह कैसा सुन्दर रूप है; यह कैसा स्वादिष्ट रस है; यह कैसी अच्छी सुगन्धि है; यह कैसा कोमल स्पर्श है। इस प्रकार विषयसुख-सेवा की सामग्री प्रस्तुत करने वाली, परमार्थ को भुलाने वाली, अपने ही हित की परवा करने वाली इन पाँचों धूर्त इन्द्रियों के द्वारा हर तरफ़ खींचा जानेवाला मैं ख़ूब ठगा गया हूँ। यही मुझे खींचे खींचे फिरती हैं। क्या करूँ, मेरा कुछ भी ज़ोर नहीं चलता!

बालादत्त जोशी।

चित्र-परिचय।

शेख़ सादी।

शेख़ सादी फ़ारिस के विख्यात लेखक और उपदेशात्मक कवि थे। इनका जन्म शीराज़ में हुआ था। इनके जन्म का साल ११८४ ईसवी के लग भग (५८० हिजरी) है। इनका असल नाम मशर्रिफ़-उद्दीन था; किन्तु बहुत लोग इनका नाम मसलिह-उद्दीन भी बताते हैं। इनके पिता का नाम अब्दुल्लाह था। वे बड़े धार्म्मिक और बुद्धिमान् थे। वे अताबुक ख़ानदान के शाही दरबार में नौकरी करते थे। उस ख़ानदान का पाँचवाँ सुलतान साद-बिन-ज़ंगी मशर्रिफ़-उद्दीन को बहुत प्यार करता था। इनके पिता की अकाल-मृत्यु हो गई। तब सुलतान ने इनको बग़दाद के मशहूर मदर्से निज़ामिया में पढ़ने के लिए भेज दिया। ये वहाँ कोई तीस वर्ष तक रहे। उस मदर्से के कठोर नियम और धार्म्मिक शिक्षा के प्रभाव से इनके मन में कुछ उदासीनता उत्पन्न हो गई। परन्तु यह भाव अधिक दिनों तक नहीं रहा। कविता-शक्ति के विकाश के साथ साथ फिर भी उनमें स्वाभाविक प्रसन्नता और रँगीलापन आ गया। इन्होंने अपने आश्रयदाता सुलतान साद के नाम पर अपना उपनाम 'सादी' रक्खा। इनका यश थोड़े ही दिनों में बहुत दूर तक फैल गया। १२२० और १२२५ के मध्य में ये एक बार अपने किसी मित्र से मिलने इस्फहान गये। वहाँ से ये दमस्क चले गये। जब ये लौट कर इस्फहान आये तब इन्हें मालूम हुआ कि किरमान के बादशाह गयासउद्दीन ने अताबुक साद का तख़्त छीन लिया। यह सुन कर ये बहुत उदास हुए और वहाँ से रवाने होकर बलख़, ग़ज़नी और पञ्जाब की राह से ये गुजरात पहुँचे। वहाँ से ये दिल्ली आये और वहीं कुछ दिनों तक रह कर हिन्दुस्तानी भाषा सीखी। दिल्ली से ये यमन गये। वहाँ इनके एक प्रियपुत्र की मृत्यु हो गई। इससे उदास होकर ये मक्का और मदीना की ओर चले गये। उसके बाद और भी कितनी ही जगहों की

सैर करते हुए १२५५ ई० के लगभग ये फिर शीराज़ लैाट आये। उस समय साद का लड़का अबूबक्र वहाँ राज्य करता था। उसने इनका बहुत सम्मान किया। तब से ये बराबर वहीं, शहर के बाहर एक झोंपड़ी बनाकर, फ़क़ीराना तैार पर दिन बिताने लगे ग्रैार वहीं १२९२ में ११० वर्ष की आयु भाग कर इन्होंने शरीर त्याग किया। शेख़ सादी ने फ़ारसी ग्रैार अरबी भाषा में बहुत सी किताबें लिखी हैं। हिन्दी में तुलसीदास जी की रामायण का जैसा आदर है वैसाही आदर फ़ारसी में शेख़ सादी की गुलिस्ताँ, बोस्ताँ ग्रैार करीमा का है। इनके ग़ज़ल, रुबाइयात ग्रैार क़सीदे भी बहुत मशहूर हैं। अन्यत्र, इसी संख्या में, इनकी गुलिस्ताँ के संस्कृत-अनुवाद की समालोचना पढ़िए।

इसी विख्यात कवि शेख़ सादी शीराज़ी का एक रंगीन चित्र इस महीने की सरस्वती में दिया जाता है। यह चित्र शाही ज़माने के किसी पुराने चित्रकार का बनाया हुआ है। इसमें शेख़ सादी एक प्रतिष्ठित पुरुष की तरह दिखाये गये हैं। उनके पास उनकी शिष्य-मण्डली बैठी हुई है। योरप में भी शेख़ सादी के कितनेही काल्पनिक चित्र बने हैं, किन्तु उन सब में वे मुसलमानी फ़क़ीर के वेश में अङ्कित किये गये हैं। परन्तु यह चित्र शाही ज़माने का है अतएव अधिक आदरणीय है।

अभ्युदय ग्रैार मर्य्यादा की महत्ता।

१७ सितम्बर १९११ के अभ्युदय में उसके ग्रैार मर्य्यादा के सम्पादक ने, श्रीयुत सत्यदेवजी का सहारा लेकर, सरस्वती ग्रैार सरस्वती-सम्पादक पर जो उदारतापूर्ण आक्षेप किये हैं उनका उत्तर देने की हमारी इच्छा नहीं। हाँ, धन्यवाद देने की इच्छा अवश्य है। अतएव मर्य्यादा ग्रैार अभ्युदय दोनों हमारा हार्दिक धन्यवाद स्वीकार करें। सत्यदेवजी ने सरस्वती-सम्पादक को "झूठा" बनाया है। अतएव उत्तर के बदले उनको भी बहुत बहुत धन्यवाद। सत्यदेवजी के इस प्रणयोपहार को सरस्वती-सम्पादक जीवनावधि अपने सिर पर बड़े प्रेम से धारण किये रहेगा। सरस्वती की इस संख्या में अन्यत्र जो आपका एक लेख प्रकाशित है वही आपका अन्तिम लेख है।

Printed and Published by Panch Kory Mittra at the Indian Press, Allahabad.